त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३४ : किरण १

जनवरी-मार्च १९८१

विषयानुक्रमणिका

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए.; एल-एल.बी.;
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य
१ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

जैन लक्षणावली

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म एक वैज्ञानिक और विश्वकल्याणकारी धर्म है तीर्थंकरो ने महान् साधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और उनके द्वारा विश्वसर्वो का स्वरूप तथा शान्ति व कल्याण का मार्ग जो कुछ भी उनके ज्ञान मे झलका, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए ही, जगह-जगह घूमकर वर्षों तक लोक भाषा मे प्रचारित किया। अपने ज्ञान को दूसरो तक पहुचाने के लिए शब्दो का सहारा लेना ही पड़ता है। बहुत से नये-नये शब्द गढने भी पड़ते है। फिर भी सर्वज्ञ का ज्ञान बहुत थोड़े रूप मे ही प्रचारित हो पाता है, क्योकि वह शब्दातीत व अनन्त होता है। शब्द सीमित है। ज्ञान असीम है। जैनधर्म की अपनी मौलिक विशेषताएँ है। वह उनके पारिभाषिक शब्दों से प्रकट होता है। बहुत से शब्द जैन ग्रन्थों मे ऐसे प्रयुक्त हुए है जो अन्य किसी ग्रन्थ व कोष ग्रन्थो मे नही पाये जाते। कई शब्द मिलते भी है तो उनका अर्थ वहा जैन ग्रन्थो में प्रयुक्त अर्थो से भिन्न पाया जाता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहित कोश प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक और अपेक्षित था, और अब भी है। अंग्रेजी भाषा आज विश्व मे विशिष्ट स्थान रखती है पर जैन ग्रन्थों के बहुत से शब्दो के सही अर्थ व्यक्त करने वाले बहुत से शब्द उस भाषा मे मिले हुए है। यह जैन ग्रन्थो के अंग्रेजी अनुवादकों को अनुभव होता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दो के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्दो के एक बड़े कोष को आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है।

ढाई हजार वर्षोंमें शब्दोंके अनेक रूप और अर्थ हुए है। उनमे परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है। अनेकों आचार्यों, मुनियो और विद्वानो ने एक-एक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। अतः एक ही शब्द के अर्थ और अर्थान्तर बहुत प्रकार के पाये जाते है। किस-किस ने किस पारिभाषिक शब्द का किस तरह व्याख्यान किया है इसका पता लगाने का कोई साधन नही था। इस कमी की पूर्ति और ऐसे ही एक कोष की आवश्यकता का अनुभव स्व० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तियार को हुआ और उन्होने इस काम का अपने ढंग से प्रारम्भ किया। पर वह काम बहुत बड़ा था और वे अन्य कामो मे लगे रहते थे। इसलिए इसे पूरा करना उनके लिए सम्भव नही हो पाया। कुछ व्यक्तियो के सहयोग से इस प्रयत्न को आगे बढाने का प्रयत्न किया गया। पर वर्षों तक एकनिष्ठ होकर उसे पूरा कर पाना संभव नही हो पाया। वह पूरा करने का श्रेय पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को मिला। वर्षों से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली में मैं जब भी दिल्ली जाता हू तो वीर सेवा मन्दिर मे भी पहुंचता हूं। अतः पं० बालचन्द्र जी के काम का मुझे अनुभव भी है। अब यह काम पूरा हो गया। इससे मुझे व उन्हे दोनो को संतोष है।

जैन लक्षणावली ग्रन्थ के निर्माण मे सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता तो यह रही है कि दि० और श्वे० दोनों सम्प्रदायों के करीब ४०० ग्रन्थों के आधार से यह महान् ग्रन्थ तैयार किया गया है। एक-एक जैन पारिभाषिक शब्द की व्याख्या किस आचार्य ने किस ग्रंथ मे किस रूप मे की है इसकी खोज करके उन ग्रन्थो का आवश्यक उद्धरण देते हुए हिन्दी मे उन व्याख्याओ का सार दिया गया है। इससे उन-उन ग्रन्थों के उद्धरणो के ढूंढ़ने का सारा श्रम बच गया है, और हिन्दी मे उन व्याख्याओं का सार लिख देने से हिन्दी वालो के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है। ४०० ग्रन्थों के करीब का संक्षेप या मंथ दोहन इसी एक ग्रन्थ में कर देना वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। पं० बालचन्द्र जी ने तो वर्षों तक परिश्रम करके जिज्ञासु के लिए बहुत बड़ी सुविधा उपस्थित कर दी है इसके लिए वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र है। वीर सेवा मन्दिर ने काफी खर्चा उठा कर बड़े अच्छे रूप मे इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके लिए संस्था व उसके कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र है।

जैन लक्षणावली इसका दूसरा नाम जैन पारिभाषिक शब्द कोष रखा गया है। इसके तीन भाग हैं जिनमें १२२० पृष्ठों मे पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और अर्थ अकारादि क्रम से दिये गये है। पहले के दो भागों मे जिन-जिन ग्रन्थकारों के जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग इस ग्रन्थ मे हुआ है उनका विवरण भी दिया गया था तीसरे भागके ८४ पृष्ठों की प्रस्तावना मे बहुत सी शब्दों संबंधी विशेष बाते देकर ग्रन्थ की आंशिक पूर्ति कर दी गयी है। पं० की अस्वस्थता के कारण तीसरा भाग काफी देरी से प्रकाशित हुआ। पर यह सन्तोष का विषय है कि इसके प्रकाशन से यह काम पूरा हो गया। अब कोई भी व्यक्ति जैन लक्षणावली के तीनों भागो से किसी भी जैन पारिभाषिक शब्द के संबंध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। पहले दो भागों का मूल्य तो २५-२५ रुपये रखा गया था और अब मंहगाई बढ जाने से तीसरे भाग का मूल्य ४० रुपये रखा गया है और तीनों भागों का मूल्य १२० रुपये कर दिया गया है। यह ग्रन्थ संग्रहणीय एवं बहुत काम का है इसलिए सभी जैन ग्रन्थालयों को खरीदना ही चाहिये।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० स० २०३७ | जनवरी-मार्च १९८१

णमोकार-महिमा

घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तण्डा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥१॥
अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥२॥
पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥
अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ॥४॥
थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥५॥

भावार्थ—सघन-घाति कर्मों का आलोडन करने वाले, तीनों लोकों मे विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य, अनंतज्ञानी और अनुपम सुखमय अरहंतों की जगत् में जय हो।

अष्टकर्मों से रहित, कृतकृत्य, जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकलतत्त्वार्थ के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

पंचमहाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्व-समय और पर-समयरूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना-गुणसमूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों।

जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकने वाले भव्य-जीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देने वाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें।

शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करने वाले, संगरहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें।

□□□

श्वेताम्बर जैन पंडित-परम्परा

□ श्री अगरचंद नाहटा, बीकानेर

पंडित किसे कहा जाय, यह एक समस्या है। साधारणतया किसी भाषा या विषय के विशिष्ट अध्येता या विद्वान को पंडित कहा जाता है, जब कि गीता के अनुसार पंडित बहुत बड़ी साधना का परिणाम है। अतः पंडित में ज्ञान के साथ साथ साधना भी उसमें अच्छे रूप में होना चाहिये। जैन परम्परा में ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः कहा है, अर्थात ज्ञान और क्रिया यानि आचरण, सदाचार और साधना इन दोनों के सम्मेलन से मोक्ष मिलता है। जैनाचार्य और मुनिगण ज्ञानी और सदाचारी होते थे। इसलिये वास्तविक रूप में 'पंडित' कहलाने के वे ही अधिकारी है। श्वेताम्बर समाज मे मुनिगण, जब अमुक सीमा तक का अभ्यास कर लेते है, तो उन्हे 'पन्यास' पद से विभूषित किया जाता है। पन्यास का संक्षिप्त रूप 'पं०' उनके नाम के आगे लिखा हुआ मिलता है। इस दृष्टि से श्वेताम्बर पंडित परम्परा आचार्यों और मुनियों से प्रारम्भ हुई, कहा जा सकता है।

दिगंबर-संप्रदाय में मुनि के लिये शायद ऐसा कोई योग्यता या पद का प्रचार नहीं रहा, मध्य काल मे तो भट्टारक-सम्प्रदाय मे विद्वान काफी हुए, पर आचार में वे जरा शिथिल थे। गृहस्थों मे जो विद्याध्ययन करने के बाद स्वाध्याय मंडली मे ग्रंथो का वांचन करते व दूसरो को सुनाते और धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कराते है, वे पंडित के रूप मे पहिचाने जाते है। श्वेताम्बर समाज मे ऐसी परम्परा तो नही रही, क्योकि दिगम्बर समाज मे तो मुनियो की संख्या बहुत ही कम रही। जबकि श्वेताम्बर आचार्यों व मुनियों की संख्या सदा से काफी रही अतः श्रावकों की पंडित-परम्परा, दिगंबर-सम्प्रदाय की तरह नही चल पाई। मध्यकाल में भट्टारकों की तरह श्वेताम्बर समाज मे श्री पूज्यो व यतियो की परम्परा अवश्य चली। लम्बे समय तक वे धर्म-प्रचार, व्याख्यान देने व धार्मिक क्रियाओं को कराते और वैद्यक ज्योतिष के अन्य उपयोगी कार्यों को सम्पन्न कराते रहे इसलिए वैसे पंडितों की परम्परा अवश्य चलती रही। ऐसे यतियों की संख्या भी काफी अधिक थी। इसलिये श्रावक लोगो को संस्कृत प्राकृत भाषायें सीखने व शास्त्रीय ग्रंथो में विद्वता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही। अतः ११वी शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रावकों मे विद्वान, ग्रन्थकार, तो बराबर होते रहे। पर दिगंबर विद्वानों की तरह वे स्वाध्याय-गद्दी पर बैठ कर शास्त्रो के वाचन आदि का काम नही करते थे। क्योकि वह कार्य तो मुनियों और यतियो के द्वारा अच्छी तरह चल ही रहा था। और उनकी संख्या भी काफी थी। अतः यहां श्वेताम्बर पंडित-परम्परा पर प्रकाश डालते हुये मैं श्वेताम्बर श्रावक-ग्रंथकारों पर ही कुछ प्रकाश डालूंगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारों मे सबसे उल्लेखनीय पहला विद्वान है --कवि धनपाल। जो कि धारा के विद्या-विलासी महाराजा भोज के सभा-पंडित थे। वे मूलतः ब्राह्मण पंडित थे। पर जैनाचार्यों के सम्पर्क मे आय और उनका भाई सोभन तो जैन दीक्षित साधु भी बन गया। इसलिए कवि धनपाल ने भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया। कादम्बरी के समान उन्होंने 'तिलक मंजरी' संस्कृत गद्य-कथा की रचना करके बड़ी ख्याति प्राप्त की। अपने भाई सोभन मुनि के रचित ग्रन्थ चतुर्विंशतिका की संस्कृत टीका बनाई। प्राकृत में रिषभपंचाशिका और संस्कृत म भी तीर्थंकरो की स्तुतिमय रचनाये की। अपभ्रंश व तत्कालीन लोक-भाषा मे उन्होंने सत्यपुरीय महावीर उत्साह नामक स्तुति-काव्य बनाया है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडे महत्व की रचना है। इसकी एक मात्र प्रति मिलती है जिसके आधार से मुनि जिनविजयजी ने जैन साहित्य संशोधक मे इसे प्रकाशित कर दी है।

१२वी शताब्दी मे नागौर के श्रेष्टी धनदेव के पुत्र पद्मानन्द ने वैराग्य शतक नामक मुक्तक काव्य की रचना की है। जो 'काव्य माला' मे बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। यह खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनवल्लभ-सूरि जी के भक्त थे। वैराग्य शतक की प्रशस्ति-श्लोक मे इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है। नागौर में उनके पिता धनदेव ने नेमिनाथ का मंदिर बनाया था। जिसकी प्रतिष्ठा जिनवल्लभसूरि ने की थी। पद्मनंद के वैराग्य शतक की एक नई आवृति भी छप गई है।

१२-१३वी शता०दी मे श्वेताम्बर श्रावकों मे कई

ग्रंथकार हुये है। जिनमे वाग्भट्ट ने वाग्भट्टालंकार की रचना की। कपूरचंद ने एक प्रकरण बनाया। जो हमारे मणिधारी जिनचंद्रसूरि ग्रंथ मे प्रकाशित हो चुके है। १३वी शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक-ग्रंथकारो में भिल्लमल कुल के कवि 'ग्रासड' हो गये है। जिनको कवि सभा श्रृंगार का उपमान मिला। उन्होने मेघदूत की सबसे पहली टीका बनाई। पर वह अभी उपलब्ध नही है। उनकी प्राकृत की दो रचनायें उपदेश-कदली और 'विवेक-मंजरी' प्राप्त है विवेकमंजरी पर बालचंद्रसूरि ने विस्तृत टीका बनाई है। विवेकमंजरी का रचनाकाल स० १२४८ है। ग्रासड कवि ने जिन स्तोत्र, स्तुति आदि और भी कई रचनायें बनाई थी पर वे अब प्राप्त नही है। संवत् १२५५-६० के आस-पास मरुकोट के नेमिचंद भंडारी भी प्रसिद्ध ग्रंथकार है, जिनके रचित 'षष्टीशतक' ग्रंथ की श्वेताम्बर समाज में तो इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि उसकी संस्कृत व भाषा टीकायें तथा पद्यानुवाद मेरी जानकारी में १२ है। दिगंबर सम्प्रदाय मे भी यह 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' के नाम से प्रसिद्ध है। और इस पर दि० भागचंद ने संवत् १९१२ मे वचनिका बनाई, सो प्रकाशित भी हो चुकी है।

१३वी शताब्दी में ही 'कवि-चक्रवर्ती' श्रीपाल ने कई प्रशस्ति काव्य और शतार्थी की रचना की और यशपाल ने 'मोह-पराजय नाटक बनाया। १३वीं शताब्दी के अन्त मे महामंत्री वस्तुपाल ने बसंतविलास महाकाव्य की रचना की। तथा और भी कई विद्वान हुये है।

१४वी शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकार 'ठक्कुर फेरु' है। वे अपने ढंग के एक ही ग्रंथकार थे। जिन्होने वास्तुशास्त्र, मुद्राशास्त्र, गणित और ज्योतिष शास्त्र, आदि विषयो की ७ रचनायें बनाई, जो हमे प्राप्त १ मात्र प्रति के आधार से मुनि जिनविजय जी ने 'रत्नपरीक्षादि ग्रन्थ सप्तक' मे प्रकाशित कर दी है। रत्न-परीक्षा, द्रव्य-परीक्षा, धातु उत्पत्ती आदि के हिन्दी अनुवाद भी हमने प्रकाशित कर दिये है।

१५वी शताब्दी के विशिष्ट ग्रंथकार मांडवगढ़ के कवि मंडन है। ये भी ठक्कुर फेरु की तरह खरतरगच्छ के थे, उन्होने भी व्याकरण अलंकार काव्य संगीत आदि कई विषयों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये। जिनमें से कई ग्रन्थ तो मंडन ग्रंथावली भाग १-२ मे प्रकाशित हो चुके है। संगीत मंडन आदि ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। ये श्रीमाल जाति के और बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्ही के परिवार में धनद नामक कवि हुये हैं। जिनके रचित शतकत्रय प्रकाशित हो चुके है। मांडव गढ के ही तपा-गच्छीय श्रावक संग्रामसिंह ने 'बुद्धिसागर' ग्रंथ बनाया। संवत १५२० में रचित यह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है।

ऊपर प्राकृत और संस्कृत के श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। लोक-भाषा के भी कई अच्छे कवि हो गये हैं उन कवियों की परम्परा भी १३वीं शताब्दी से निरंतर चालू रही। संवत् १२५० के आस-पास 'आसिगु' कवि ने चंदनबाला रास और जीवदया रास की रचना की। ये दोनों प्रकाशित हो चुके हैं। इसी शताब्दी में खरतरगच्छ के २ श्रावक कवियों ने 'जिनपतिसूरि गीत' बनाये जो हमारे संपादित ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह मे छप चुके हैं। १४वी-१५वी शताब्दी मे कान्ह कवि ने अंचलगच्छ की गुरु परम्परा संबंधी काव्य बनाया। महाकवि ने तीर्थमाला व राणकपुर स्तवन आदि की रचना की। १७वी शताब्दी के कवि रिषभदास तो बहुत ही उल्लेखनीय कवि है। जिन्होंने हीरविजय सूरि रास आदि अनेको काव्यों की रचना की। इसी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि बनारसीदास भी श्वेताम्बर खरतरगच्छ के अनुयायी थे। उनकी प्राथमिक रचनायें श्वेताम्बर ग्रंथों और मान्यताओं पर आधारित है पर आगे चल कर वे समयसार गोमट्टसार आदि दिगंबर ग्रंथों से प्रभावित हुये। उनका एक 'आध्यात्मिक मत' स्वतन्त्ररूप से प्रचारित हुआ, जो वर्तमानमे दिगंबर तेरापंथी संप्रदायके रूप मे प्रसिद्ध है।

१८वी शताब्दी में दलपतराय, १९वीं शताब्दी मे हुरजमराय, और मवलदास, तथा विनयचंद कवि हुये। २०वी शताब्दी में भी यह परम्परा चालू रही। श्वेताम्बर विद्वानों और ग्रंथकारो की २०वी की उत्तरार्द्ध मे काफी अभिवृद्धि हुई। इस तरह श्वेताम्बर विद्वानों और कवियों तथा उनकी रचनाओं पर संक्षिप्त मे ही यहां प्रकाश डाला गया है। कई श्वेताम्बर विद्वानों को भी अपने श्रावक-कवियों एव विद्वानो की परम्परा की जानकारी नही है। इसलिए यह प्रयास काफी उपयोगी सिद्ध होगा।

नाहटों की गवाड़, बीकानेर

□□□

आचार्य नेमिचन्द्र और उनका द्रव्यसंग्रह

□ डा० कमलेशकुमार जैन

उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हुए है जिन्होंने अपनी उदात्त मनीषा का परिचय देते हुए भव्य जीवों के कल्याणार्थ विभिन्न मौलिक एव टीका ग्रन्थों का सृजन किया है। पर्याप्त शोध खोज के अभाव मे अब तक नेमिचन्द्र नाम के एकाधिक विद्वानों मे ऐक्य माना जाता रहा है, किन्तु ऐतिहासिक आलोकन-विलोकन से अब यह मान्यता प्रायः पुष्ट हो गई है कि गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और द्रव्य संग्रह के कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव दो पृथक पृथक्-पृथक् विद्वान है, एक नहीं।

प्रारम्भ मे श्री शरच्चन्द्र घोषाल ने अपने द्रव्यसग्रह के अंग्रेजी संस्करण की विस्तृत भूमिका मे गोम्मटसारादि के कर्त्ता और द्रव्यसग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र को एक मानते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव के इस कथन को अस्वीकार किया था कि नेमिचन्द्र का अस्तित्व मालवा के राजा भोज के राज्यकाल ई० सन् १०१८ से १०६०[1] मे था, क्योंकि उपर्युक्त समय में उसका अस्तित्व मानने के अन्य विभिन्न स्रोतों से सिद्ध नेमिचन्द्र का समय ईसा की दशवी शती के स्थान पर ईसा की ग्यारहवी शती हो जाता है। श्री घोषाल के इस कथन पर आपत्ति प्रकट करते हुए आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने "जैन हितैषी" मे "द्रव्य-संग्रह का अंग्रेजी संस्करण"[2] नामक एक लेख मे लिखा था कि यह आपत्ति तभी उपस्थित होती है जबकि पहले यह सिद्ध हो जाय कि यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ उन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ है जो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता है। आचार्य मुख्तार की उक्त आशका तत्कालीन शोध-खोज प्रेमियों को एक चुनौती साबित हुई, जिससे परवर्ती विद्वानो ने न केवल उक्त दोनो ग्रन्थकर्त्ताओं में भिन्नता स्वीकार की, अपितु विभिन्न प्रमाणो को उद्धृत कर उक्त कथन की पुष्टि भी की।

नेमिचन्द्र नाम के विद्वान् :

डा० दरबारीलाल कोठिया ने नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानो पर विचार करते हुए नेमिचन्द्र नाम के भिन्न-भिन्न निम्न चार विद्वानो का उल्लेख किया है[3]—

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित एव गोम्मटसार आदि के प्रणेता तथा गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र। इनका समय विक्रम सवत् १०३५ ईसा की दशवी शती है।[4]

२. नयनन्दि के शिष्य और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव के गुरु नेमिचन्द्र।

३. गोम्मटसार की जीवतत्त्व प्रदीपिका के टीकाकार नेमिचन्द्र। इनका समय ईसा की सोलहवी शताब्दी है।

४. द्रव्य संग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र।

उपर्युक्त चार विद्वानो मे से दूसरे एवं चौथे नेमिचन्द्र को डा० कोठिया[5] ने विभिन्न प्रमाणो के आधार पर एक सिद्ध करते हुए द्रव्यसग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव का समय विक्रम सवत् ११२५ ईसा की ग्यारहवी शती के आस-पास निर्धारित किया है तथा डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[6] ने विक्रम की बारहवी शती का पूर्वार्ध। ये दोनो मत एक ही समय की ओर इंगित करते है।

नेमिचन्द्र नाम के उपर्युक्त विद्वानो के अतिरिक्त

---

१. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ६४।
२. द्रष्टव्य-युग निबन्धावली, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३१-५५६।
३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २६-३२।
४. वही प्रस्तावना, पृष्ठ २९।
५. द्रव्यसग्रह प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-३६।
६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा, खण्ड २, पृष्ठ ४४१।

प्रवचनसारोद्धार के कर्त्ता भी नेमिचन्द्रसूरि है, जो ईसा की तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् है, किन्तु ये विद्वान् श्वेताम्बर आम्नाय के है।[1] अतः इनका द्रव्यसग्रह से कोई सम्बन्ध नही है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव :

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ईसा की दसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध गगवशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। उन्होंने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की अन्तिम प्रशस्ति[2] मे गोम्मटराय का अपरनाम चामुण्डराय ससम्मान उल्लेख किया है तथा जीवकाण्ड की अन्तिम गाथा[3] में तो उन्होंने श्री गोम्मटराय के अतिरिक्त अपने गुरु अजितसेन एव दादा-गुरु आचार्य आर्यसेन का भी स्मरण किया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती अपने समय के जैन सिद्धांतों के सुप्रसिद्ध अद्वितीय वेत्ता थे। उनके नाम के आगे पाई जाने वाली "सिद्धांतचक्रवर्ती" यह उपाधि उक्त कथन की पुष्टि करती है। साथ ही जैसे महाकवि कालिदास को "दीपशिखा कालिदास", महाकवि माघ को "घण्टामाघ" और अमरचन्द्रसूरि को "वेणीकृपाणअमर" कह कर उनके तत्-तत् उल्लेखों वाले अति प्रसिद्ध श्लोकों के आधार पर सम्मानित किया जाता है ठीक उसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र को गोम्मटसार कर्मकाण्ड की –

> जह चक्केण य चक्की छक्खड साहियं अविग्घेण।
> तह मइचक्केण मया छक्कखड साहियं सम्मं॥[4]

इस गाथा के आधार पर सम्मानित किया गया प्रतीत होता है।

द्रव्यसग्रह की ढूंढारी भाषा मे निबद्ध देश-भाषा-वचनिका के लेखक पंडितप्रवर जयचंद छाबड़ा ने द्रव्य-सग्रह को आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती की कृति स्वीकार किया है।[5] श्री छाबडा ने सवत् १८६३ मे श्रावण वदि चौदस के दिन द्रव्यसग्रह की देश-भाषा-वचनिका पूर्ण की थी।[6] इस भाषा-वचनिका मे श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की छाया कई स्थलों पर दिखाई देती है। दोनों टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। साथ ही द्रव्यसग्रह के विशेष व्याख्यान को जानने के लिए श्री छाबडा ने ब्रह्मदेव कृत टीका को देखने का निर्देश किया है।[4] किन्तु संस्कृत टीकाकार द्वारा विभिन्न स्थलों पर नेमिचन्द्र को सिद्धांति-देव इस उपाधि से अलकृत करने पर भी श्री छाबड़ा का इस ओर ध्यान नही गया। सभव है गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की अति प्रसिद्धि के कारण एव सिद्धान्तचक्रवर्ती और सिद्धांतिदेव इन दोनो विशेषणों मे एक देश समानता होने से गोम्मटसार आदि और द्रव्य-सग्रह इन दोनों ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं की ओर श्री छाबड़ा ने ध्यान न दिया हो। साथ ही दोनो ग्रन्थों के एक ही लेखक की प्राचीन धारणा उनके उक्त लेखन मे प्रमुख कारण प्रतीत होती है। यहां एक विशेष बात यह भी ज्ञातव्य है कि मूलाचार की संस्कृत टीका के लेखक वसुनन्दि को भी एक स्थान पर वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के नाम से अभिहित किया गया है।[7] लगता है यह भी ऊपर लिखित कारणों का ही प्रतिफल है।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ १८९।

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ९६५-९७२।

३. गोमम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७३४।

४. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

५. (क) तहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति आचार्य इस ग्रन्थ का कर्त्ता कहु शिष्य को समझावने के मिसकरि···।

—द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ २

(ख) इहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ति मगलके अर्थि इष्टकूं नमस्कार कीया है।

द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ८

(ग) आगे श्री नेमिचन्द्र आचार्य सिद्धांतचक्रवर्ति इस ग्रन्थि का कर्त्ता अपना लघुतारूप वचन कहे हैं।

—द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ७३

६. संवत्सर विक्रम तणू अठदश-शतत्रय साठ।
श्रावण वदि चौदस दिवस, पूरण भयोसुपाठ॥

—द्रव्यसग्रह, देशभाषा-वचनिका, पृष्ठ ७४

७. मूलाचार, वसुनन्दि वृत्ति, पृष्ठ १।

८. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारों के भेद का ज्ञान कराने वाले उपर्युक्त साक्ष्यों के प्रतिरिक्त निम्न तथ्य भी इसकी पुष्टि में हेतु कहे जा सकते है—

१. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने सगर्व लिखा है कि—जिस प्रकार चक्रवर्ती छः खण्डों को अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नतापूर्वक वश में करता है ठीक उसी प्रकार मैंने मति रूपी चक्र के द्वारा षट्खण्ड रूप सिद्धांतशास्त्र को अच्छी तरह जाना है।[१] किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा उपर्युक्त प्रकार की गर्वोक्ति के कही दर्शन नही होते हैं। अपितु इससे भिन्न उन्होंने अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपने आपको "तणुसुत्तधरेण" और "मुणि" इस विशेषण से उल्लिखित किया है तथा अन्यों को "दोससंचयचुदा सुदपुण्णा" एव "मणिणाहा" विशेषणो से।[२]

२. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती द्वारा रचित ग्रन्थ विस्तार रूप से पाये जाते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह सूत्र रूप मे लिखित लघुकृति है।

३. नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती अपने ग्रन्थों में अपना और अपने गुरुजनों का नामोल्लेख करते है,[३] किन्तु नेमिचन्द्र मुनि लिखा है।[४]

४. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने अपने प्रमुख श्रावक गोम्मटराय (चामुण्डराय का उल्लेख किया है।

५. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने दोनों ग्रन्थकारो के भिन्न-भिन्न होने मे यह भी कारण प्रस्तुत किया है कि—द्रव्यसंग्रह के कर्ता ने भावास्रव के भेदों में प्रमाद को भी गिनाया है और अविरत के पांच तथा कषाय के चार भेद ग्रहण किये है, परन्तु गोम्मटसार के कर्ता ने प्रमाद को भावास्रव के भेदों मे नहीं माना और अविरत के (दूसरे ही प्रकार के) बारह तथा कषाय के पांच भेद स्वीकार किये हैं।[५]

६. द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव, जिनका समय अनुमानतः ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है।[६] गोम्मटसार और द्रव्यसंग्रह के कर्ता में भेद मानते हैं। इसीलिए उन्होंने विभिन्न स्थानों पर द्रव्यसंग्रहकार को "सिद्धांतिदेव" विशेषण से अभिहित किया है।[७] इसके अतिरिक्त ब्रह्मदेव ने अनेक स्थलों पर प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों की गाथाओं की तरह प्राकृत पंचसंग्रह की चौदह गुणस्थानों का नामोल्लेख करने वाली उन दो गाथाओं को आगम-प्रसिद्ध-गाथा[८] कह कर उद्धृत किया है, जो कि किंचित् परिवर्तन के साथ गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी पाई जाती हैं।

द्रव्यसंग्रह :

द्रव्यसंग्रह की श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका के उत्थानिका वाक्य से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने मालव देश के धारा नामक नगर के अधिपति राजा भोजदेव के संबंधी श्रीपाल के आश्रम नामक नगर मे स्थित श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के चैत्यालय मे भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोम नामक नगरश्रेष्ठी के निमित्त पहले २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्यसंग्रह की रचना की थी, पुनः तत्त्वों की विशेष जानकारी हेतु बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना की गई।[९]

द्रव्यसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव की एक अमर कृति है। इतनी लघु कृति में इतने अच्छे ढंग से

१. बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ५८।

२. दव्यसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा। सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्द मुणिणा भणियं ज॥

३. दृष्टव्य-पुरातन जैन वाक्य सूची प्रस्तावना पृष्ठ ९३।

४. बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ५८।

५. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ९३।

६. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना पृष्ठ ९४।

७. द्रव्यसग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४, टिप्पणी १।

८. अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ २८।

९. अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसंबंधिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य संबंधिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्य वृत्तिः प्रारभ्यते।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ १-२

जीवादि षड्द्रव्यों का विवेचन उनके वैदुष्य का जीवन्त प्रतीक है। इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में विभिन्न स्थानों पर गाथाओं को सूत्र कह कर उल्लिखित किया है। साथ ही उनके प्रति अपनी घनीभूत श्रद्धा को प्रकट करते हुए अनेकों स्थलों पर उन्हें भगवान् कह कर संबोधित किया है।[1]

लघुद्रव्य संग्रह एवं बृहद्द्रव्य संग्रह नामकरण :

ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने सर्वप्रथम २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसकी अंतिम गाथा इस प्रकार है—

सोमच्छलेन रइया पयत्थलक्खणकराउ गहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥[2]

इस गाथा से तीन विशेष बातों पर प्रकाश पड़ता है—

१. इस ग्रन्थ की रचना सोम नामक श्रेष्ठी के निमित्त की गई थी।

२. इस ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है।

३. इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नेमिचन्द्र गणि हैं।

उपर्युक्त गाथा ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की उत्थानिका का एक प्रमुख आधार है जिसे ब्रह्मदेव ने अन्य जानकारी के साथ विस्तारपूर्वक लिखा है। नामकरण के संबंध मे मात्र इतना कहना ही पर्याप्त है कि "दव्व-संगहमिणं" इत्यादि गाथा ही "द्रव्य संग्रह" "इस नाम के मूल में हेतु है। डा० दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि द्रव्य संग्रह नाम की कल्पना ग्रन्थकार को अपनी पूर्व रचना के बाद इस द्रव्यसंग्रह को रचते समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे द्रव्यसग्रह नाम दे देने के उपरान्त पदार्थलक्षण (पयत्थलक्खण) कारिणी गाथाओं को भी ग्रन्थकार अथवा दूसरों के द्वारा लघुद्रव्यसग्रह नाम दिया गया है।"[3] डा० कोठिया के उक्त कथन के सदर्भ मे मात्र इतना ही कहना अपेक्षित प्रतीत होता है कि इतनी क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा यह मानना अधिक स्वाभाविक एवं समीचीन प्रतीत होता है कि लघु और बृहद् ये विशेषण भी ब्रह्मदेव द्वारा लगाये गये है। उनके पूर्व इन विशेषणों का समायोजन अन्यत्र दृष्टिगत नही होता है, अतः मूल मे तो २६ गाथाओं वाले ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है और ५८ गाथाओं वाले ग्रन्थ का नाम "द्रव्यसंग्रह"। यह बात अलग है कि श्री ब्रह्मदेव द्वारा लघु और बृहद् विशेषण लगाने के पश्चात् उक्त दोनों ग्रन्थों को लघुद्रव्यसंग्रह नाम से प्रसिद्धि मिली है।

लघुद्रव्य संग्रह :

उपलब्ध लघुसग्रह में कुल २५ गाथाएं पाई जाती हैं। जबकि ब्रह्मदेव की टीका के अनुसार २६ गाथायें होनी चाहिए। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने इसकी एक गाथा छूट जाने की संभावना प्रकट की है।[4]

इस लघुद्रव्यसंग्रह मे सर्वप्रथम विषय निर्देश के पश्चात् षड्द्रव्यों का उल्लेख करके काल को छोड़ कर शेष पांच द्रव्यों को बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहा है। पुन: जीवादि सप्त तत्वों मे पुण्य-पाप का समावेश कर नौ पदार्थों का उल्लेख है। इसी क्रम मे जीव का लक्षण, मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के छ: भेद, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का स्वरूप बतलाते हुए जीवादि द्रव्यों के प्रदेशों का उल्लेख किया है। पुनः जीवादि सप्त पदार्थों का स्वरूप बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियों, सर्व द्रव्यों का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना, कर्मों के नाश करने हेतु काय को निश्चल और मन को स्थिर करके रागद्वेष को त्यागने का निर्देश तथा आत्मध्यानपूर्वक सुख प्राप्ति के उपाय का विवेचन किया है। अन्त मे मोह रूपी हाथी के लिए केशरी के समान साधुओं को नमस्कार करके अपने नामोल्लेख-पूर्वक कहा गया है कि सोमश्रेष्ठी के बहाने से भव्य-जीवों के उपकारार्थ इस "पयत्थ-लक्खण" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

---

१. (क) "भगवान् सूत्रमिद प्रतिपादयति ॥
बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ ३
(ख) "भगवतां श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति।"
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका ४६
इसके लिए उपर्युक्त टीका के पृष्ठ ८५, १३७, १८१ एवं १९२ भी द्रष्टव्य हैं।

२. लघुद्रव्य संग्रह, गाथा २५।

३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २०-२१।

४. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २१।

बृहद्द्रव्यसंग्रह :

बृहद्द्रव्यसग्रह में कुल ५८ धारायें है, जो तीन अधिकारों मे विभक्त है। प्रथम अधिकार म कुल २७ गाथायें हैं, इसे षड्द्रव्यपंचास्तिकाय प्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार कहा है। द्वितीय अधिकार मे ११ गाथायें है, इसे सप्ततत्त्व नवपदार्थ प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार कहा है। तृतीय अधिकार में २० गाथाये है, इसे मोक्ष मार्ग प्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार कहा है। इन तीनो अधिकारो को श्री ब्रह्मदेव ने अनेक अन्तराधिकारो म विभक्त किया है। यद्यपि इन अन्तराधिकारो का विभाजन विषय-विभाजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह विभाजन टीकाकार कृत ही है, आचार्य नमिचन्द्र कृत नही।

इस बृहद्द्रव्य सग्रह म आचार्य नमिचन्द्र ने सर्वप्रथम जीव-अजीव द्रव्यों का निर्देश करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है।

पुनः जीव का लक्षण करते हुए लिखा है कि १. जो जीता है, २. उपयोगमय है, ३. अमूर्तिक है, ४. कर्त्ता है, ५. शरीर परिमाण है, ६. भोक्ता है, ७ ससार म विद्यमान है, ८. सिद्ध है, ९. स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है अर्थात् जिसमे उपर्युक्त नौ विशेषतायें पाई जाये वह जीव है। जीव के प्रथम विशेषण—"जो जीता है" को ध्यान मे रख कर व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के दो पृथक्-पृथक् लक्षण करते हुए कहा है कि -जो भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल मे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो को धारण करता है वह व्यवहारनय से जीव है तथा निश्चयनय से जिसके चेतना है वह जीव है।

जीव के लक्षण में जिस उपयोग की चर्चा की गई है वह उपयोग दो प्रकार का है - दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है —चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। इनमे से कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये चार प्रत्यक्ष है तथा शेष चार अप्रत्यक्ष। उपर्युक्त आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग और चार प्रकार के दर्शनोपयोग को धारण करने वाला सामान्य रूप मे जीव का लक्षण व्यवहारनय से कहा है और शुद्धनय की अपेक्षा शुद्ध दर्शन और ज्ञान ही जीव का लक्षण है।

जीव के तृतीय विशेषण "अमूर्तिक" की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि निश्चयनय से जीव मे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं है, अतः जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों के बन्धन के कारण मूर्तिक है।

जीव के चतुर्थ विशेषण 'कर्त्ता" पर विचार करते हुए कहा है कि—व्यवहारनय से आत्मा, (जीव) पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय नय से चेतन-कर्म का कर्त्ता और शुद्ध नय की अपेक्षा शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

जीव का पचम विशेषण है—स्वदेह परिमाण। तदनुसार व्यवहारनय की अपेक्षा से यह जीव समुद्घात रहित अवस्था मे सकोच तथा विस्तार रूप अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण मे रहता है और निश्चय नय से असंख्य प्रदेशो को धारण करने वाला है।

जीव का षष्ठ विशेषण है —भोक्ता। तदनुसार व्यवहारनय मे आत्मा (जीव) सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलो का भोक्ता है और निश्चय नय की अपेक्षा अपने चेतन भाव का भोक्ता है।

जीव का सप्तम विशेषण है—ससार मे विद्यमानता। तदनुसार ग्रन्थकार ने संसारी जीवो का विवेचन करते हुए लिखा है कि—पृथ्वी, जल तेज, वायु और वनस्पति के भेद से एकेन्द्रिय के धारक स्थावर जीवो के अनेक भेद है तथा शख आदि ही द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद हैं तथा शख आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद है— सज्ञी और असंज्ञी। शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय मन रहित असज्ञी है। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के है—इस प्रकार उपर्युक्त कुल सात प्रकार के जीवो के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार है। अतः ये जीव समास (सक्षेप मे) चौदह प्रकार के हैं। इनमे ससारी जीव अशुद्धनय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानो के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते है। और अशुद्धनय से सभी ससारी जीव शुद्ध है।

जीव का अष्टम विशेषण है—सिद्ध, तदनुसार सिद्ध-परमेष्ठी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त तथा अंतिम शरीर के परिमाण से किंचित् न्यून आकार वाले होते हैं।

जीव का नवम विशेषण है—उर्ध्वगमन स्वभाव: तदनुसार सिद्ध (जीव) उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्र भाग में स्थित हैं नित्य है और उत्पाद व्यय से युक्त है।

इस प्रकार जीव द्रव्य का विवेचन करने के पश्चात् प्रारम्भिक प्रतिज्ञानुसार जीव के प्रतिपक्षी अजीव द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि अजीव द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का धारक पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान् है और शेष चारों द्रव्य अमूर्तिक। पुद्गल द्रव्य-शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इन पर्यायो वाला है। धर्मद्रव्य गमन में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन मे सहकारी है। जैसे मछलियों के गमन मे जल सहकारी है। गमन न करते हुए पुद्गलो अथवा जीवों को धर्मद्रव्य गमन नही कराता है। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए पुद्गल अथवा जीवों को ठहराने में सहकारी है। ठीक इसी प्रकार जैसे छाया यात्रियो को ठहरने मे सहकारी है। गमन करते हुए पुद्गल अथवा जीवों को अधर्मद्रव्य नही ठहराता है। आकाशद्रव्य—जीव आदि शेष द्रव्यों को अवकाश देने वाला है। यह दो प्रकार का है। जितने आकाश मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये शेष पाँच द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है। कालद्रव्य दो प्रकार का है—व्यवहार काल और निश्चयकाल। जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है वह व्यवहार काल है और जो वर्तना लक्षण वाला है वह निश्चय काल है। निश्चयकाल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि की तरह परस्पर भिन्न होकर स्थित है। वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।

उपर्युक्त जिन जीवादि द्रव्यों की चर्चा की गई है, उनमें काल द्रव्य को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। क्योंकि ये विद्यमान (अस्ति) हैं और शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं। अत: इनका अस्तिकाय नाम सार्थक है। जीव, धर्म और अधर्म इन तीन द्रव्यों में असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश मे अनन्त प्रदेश है। पुद्गल तीनों (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रकार के प्रदेशों वाले है। काल का एक ही प्रदेश है, अत: काल को काय नहीं कहा गया है। एक प्रदेशी परमाणु भी अनेक व स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है, अत: पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहा है। जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है वह सब परमाणु को स्थान देने में समर्थ प्रदेश है।

इस प्रकार छहद्रव्यों के प्रदेशों की चर्चा करने के पश्चात् बतलाया है कि पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्य कथंचित् परिणामी है, अत: जीव और पुद्गल की संयोग परिणति से बने पर्याय रूप आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये सब नव पदार्थ हैं। आस्रव के दो भेद हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है वह भावास्रव है और जो ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का आस्रव है वह द्रव्यास्रव है। भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय रूप पांच भेद हैं, जिनके क्रमश: पाँच, पाँच पन्द्रह, तीन और चार भेद है। द्रव्यास्रव अनेक भेदों वाला है। बन्ध दो प्रकार का है—भावबन्ध और द्रव्य बन्ध। जिस चेतनाभाव से कर्म बन्धता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्म-प्रदेशों का परस्पर मिलना द्रव्य बन्ध है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते है तथा कषायों से स्थिति और अनुभाग बन्ध। संवर दो प्रकार का है—द्रव्य संवर और भाव-संवर। आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है वह भाव संवर है और द्रव्य-आस्रव का रुकना द्रव्य संवर है। पाँच व्रत पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह और अनेक भेदों वाला चारित्र ये सब भाव संवर के भेद हैं। निर्जरा के दो भेद हैं—भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। आत्मा के जिस परिणाम से उदयकाल में अथवा तप द्वारा फल देकर कर्मों

का नाश होता है वह भाव निर्जरा है और कर्म-पुद्गलों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है। मोक्ष दो प्रकार का है—भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष। सम्पूर्ण कर्मों के नाश का कारण तो आत्मा है वह भाव मोक्ष है और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है। शुभ और अशुभ भावो से युक्त जीव क्रमशः पुण्य और पाप रूप होता है। साता वेदनीय, शुभ-आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र (शुभ गोत्र) ये पुण्य प्रकृतियां है, शेष पाप प्रकृतियां है।

इस प्रकार नौ पदार्थों के विवेचन प्रसंग मे मोक्ष की चर्चा करने के पश्चात् उस मोक्ष प्राप्ति का कारण अथवा मार्ग क्या है? इस बात को ध्यान मे रख कर आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय व्यवहार नय से मोक्ष का कारण है तथा निश्चय नय से उपर्युक्त सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रमयी अपनी आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मद्रव्य को छोड़ कर अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय विद्यमान नही रहता है, इसलिए रत्नत्रयधारी आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है। जीवादि सप्त तत्त्वो अथवा नौ पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है और इसके होने पर दुरभिनिवेशों (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) से रहित सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा और उससे भिन्न पर पदार्थों का संशय, विमोह तथा विभ्रम रहित ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, वह साकार और अनेक भेदो वाला होता है। पदार्थों (भावों) मे भेद न करके, विकल्प न करके पदार्थों का जो सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है। छद्मस्थ संसारी जीवो के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, दोनों उपयोग एक साथ नही होते। किन्तु केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग युगपद् होते है। अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति व्यवहार चरित्र है, जो व्रत समिति और गुप्ति रूप है। संसार के कारणो का नाश करने के लिए ज्ञानी जीव की जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध है वह उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।

मोक्ष-मार्ग का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र ने उस निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग के साधक रूप ध्यान अभ्यास की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग को पाता है, इसलिए चित्त को एकाग्र कर ध्यान का अभ्यास करे। वह ध्यान अनेक प्रकार का है, इसकी सिद्धि के लिए एकाग्र चित्त आवश्यक है और एकाग्रचित्त के लिए इष्ट और अनिष्ट रूप जो राग द्वेष एवं मोह रूप इन्द्रियो के विषय है उनका त्याग आवश्यक है।

अनेक प्रकार के ध्यानो के प्रसग मे पदस्थ ध्यान की चर्चा करते हुए मुनि नेमिचन्द्र ने पच परमेष्ठियो के वाचक पैंतीस सोलह, छः, पांच, चार, दो और एक अक्षर रूप मंत्रो के जाप का निर्देश दिया है। उन पच परमेष्ठियो मे चार घातिया कर्मों के नष्ट करने वाले तथा अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य के धारक, शुभ देह म स्थित, शुद्ध आत्म-स्वरूप अरहन्त भगवान् हैं। अष्ट कर्म रूप शरीर को नष्ट करने वाली, लोकाकाश और अलोकाकाश की ज्ञाता-दृष्टा, पुरुषाकार, लोक के अग्रभाग मे अवस्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। दर्शनाचार और ज्ञानाचार की मुख्यता को लेकर वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाचो आचारो मे जो स्वयं तत्पर है तथा अन्य को भी लगाते है वे मुनि आचार्य है। जो रत्नत्रय से युक्त प्रतिदिन धर्मोपदेश मे रत है तथा मुनियों मे प्रधान है वह आत्मा उपाध्याय है। दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्ष-मार्ग स्वरूप सदा शुद्ध चारित्र का जो पालन करते है वे साधु परमेष्ठी है।

इसी प्रसंग मे साधु के निश्चय और परम ध्यान प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि—एकाग्रता को प्राप्त कर जिस किसी वस्तु का चिन्तन करते हुए जब साधु निरीह वृत्ति (इच्छा रहित) होता है तब उसके निश्चय ध्यान होता है और जब मन, वचन काय की क्रिया से रहित होकर अपनी आत्मा मे ही तल्लीन होता है तब उसके परम ध्यान है। क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने मे समर्थ होता है, अतः ध्यान की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त तीनों की आराधना करें।

सबसे अन्त मे मुनि नेमिचन्द्र ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए दोष विहीन एवं ज्ञान सपन्न मुनीश्वरो से द्रव्य-संग्रह ग्रंथ के सशोधन का निवेदन किया है।

बृहद्द्रव्य संग्रह के निरूपण की विशेषता :

१. आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ की द्वितीय गाथा में जीव का लक्षण उपस्थित करते हुए उसके नौ विशेषण दिये है। ये नौ विशेषण अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इन नौ विशेषणो के माध्यम से आचार्य नेमिचन्द्र ने तत्कालीन विभिन्न दार्शनिको द्वारा मान्य सिद्धांतों का खण्डन किया है। सामान्यतया चार्वाक सिद्धांत में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है। अतः प्रथम विशेषण—जीता है, यह चार्वाक सिद्धांत का खण्डन करता है। नैयायिक गुण और गुणी (ज्ञान और आत्मा) इन दोनों में एकान्त रूप से भेद मानते हैं, अत: जीव का द्वितीय विशेषण—"उपयोगमय" नैयायिकों के सिद्धांत का खण्डन करता है। इसी प्रकार भट्ट और चार्वाक के सिद्धांत का खण्डन करने के लिए "जीव के अमूर्तपने की स्थापना", सांख्यो के खण्डन हेतु "आत्मा के कर्मों के कर्त्ता रूप की स्थापना", नैयायिक, मीमांसक और सांख्यों के खण्डन हेतु "आत्मा का भोक्तृत्व रूप", सदाशिव के खण्डन हेतु "आत्मा का ससारस्थ" कथन, भट्ट और चार्वाक के खण्डन हेतु "आत्मा का सिद्धत्व स्वरूप" और माण्डलीक मत का अनुसरण करने वालो के खण्डन हेतु आत्मा (जीव) के स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन का विवेचन किया गया है।

२. जिस नयवाद सिद्धात की नीव पर जैन-दार्शनिको का परमत खण्डन और स्वमत मण्डन रूप प्रासाद खड़ा हुआ है, वही नयवाद सिद्धात आज जैन-विद्वानो मे परस्पर विवाद उपस्थित कर रहा है। इसका मूल कारण है—नय सिद्धांत का सम्यग् अर्थ न समझना। विभिन्न आचार्यों ने नय के अनेक भेद किये हैं, जिनमे निश्चय और व्यवहार ये दो प्रमुख है। आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य-संग्रह मे नय-विवक्षा को प्रायः स्पष्ट रूप में ही प्रस्तुत किया है। अर्थात् उन्हे कौन सा कथन किस नय-विवक्षा से अभीष्ट है इसका उल्लेख किया है। उन्होंने निश्चय, व्यवहार शुद्ध और अशुद्ध इन चार नयों के माध्यम से जीव और अजीव इन द्रव्यों का विवेचन किया है। गाथा २६ में पुद्गल परमाणु के अस्तिकायत्व के प्रसंग में "उवयारा।"[1] शब्द का प्रयोग है। अत: जिस प्रकार प्रत्येक नय-विवक्षा से ज्ञेय पदार्थ म भेद पैदा हो जाता है, उसी प्रकार उक्त गाथा मे नय का स्थानापन्न शब्द "उवयारा" अन्य किसी ज्ञेयान्तर की ओर इगित करता है। वह ज्ञेयान्तर क्या है? यह एक विचारणीय विषय है साथ ही पूर्व में व्यवहार-नय का प्रयोग किया गया है, अतः "उवयारा" शब्द व्यवहार-नय का अपरनाम प्रतीत होता है। अन्यथा व्यवहार के अतिरिक्त "उपचार" की कल्पना का अन्य उद्देश्य क्या हो सकता है?

३. आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव और अजीव इन दो द्रव्यों के विवेचन प्रसंग में निश्चय और व्यवहार-आदि नयों की शैली को अपनाकर विवेचन किया है, किन्तु शेष आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन पांच तत्त्वों के विवेचन प्रसंग में उपर्युक्त अभिप्रेत निश्चय-व्यवहारपरक नय-शैली का समन्तात् परित्याग कर द्रव्य-भाव शैली का अनुसरण किया है। अर्थात् शेष पाँच द्रव्यों को द्रव्यास्रव-भावास्रव आदि के माध्यम से निर्दिष्ट किया है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने पूर्व अभिप्रेत निश्चय-व्यवहार परक नय-शैली का अन्त तक निर्वाह क्यों नहीं किया? क्या ऐसा करना संभव नहीं था? अथवा इसके मूल मे आचार्य नेमिचन्द्र का कोई अन्य अभिप्राय है? विद्वज्जन स्पष्ट करें!

४. नयों एवं द्रव्य-भाव पक्षों के प्रयोग से पूर्व लेखक ने उन्हें परिभावित नही किया, जिससे पाठकों को इन शब्दों के अर्थों को समझने हेतु अन्य ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। कहीं-कहीं नयादिकों की स्पष्ट घोषणा किये बिना भी विवेचन दृष्टिगत होता है।[2] ऐसी स्थिति में नय-विवक्षा भी पाठकों के हस्तगत हो जाती है। अत: उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की दृष्टि से ओझल किये बिना एक तर्कसंगत समाधान की खोज सतत बनी रहती है।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २६

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो "उवयारा" तेण य काओ भणंति सव्वण्हु।।

२. द्रष्टव्य—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १७, १८, १९, २५।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

गोम्मटसार, कर्मकाण्ड
अनुवादक—पण्डित मनोहरलाल।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७१।

गोम्मटसार, जीवकाण्ड
अनुवादक—पण्डित खूबचन्द्र जैन।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७२।

जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग ३
लेखक—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी।
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-१ सन् १९७२।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा
लेखक—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य।
प्रकाशक—श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, (म० प्र०) नवम्बर, १९७४।

द्रव्यसंगह (देश भाषा वचनिका सहित)
सम्पादक—डा० दरबारी लाल कोठिया।
प्रकाशक—श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी-५ अगस्त, १९६६।

पुरातन जैनवाक्य सूची
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मदिर, सरसावा, जि० सहारनपुर ईस्वी सन् १९५०।

बृहद्द्रव्य सग्रह (ब्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका सहित)
अनुवादक—अनुल्लिखित।
प्रकाशक—श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान श्री शांतिवीरनगर, श्री महावीर जी प्रकाशन वर्ष अनुल्लिखित।

मूलाचार (वसुनन्दि टीका सहित), प्रथम भाग
सम्पादक—पण्डित पन्नालाल सोनी।
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, गिरगाव बम्बई वीर निर्वाण संवत् २४४७

युगवीर निबन्धावली, द्वितीय खण्ड
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट २१, दरियागज, दिल्ली दिसम्बर, १९६७।

लघुद्रव्य सग्रह
द्रष्टव्य-बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २०९ म २१३%

—जैन विश्वभारती, लाडनू

□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन, पता—२३, दरियागज दिल्ली-२
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
राष्ट्रिकता—भारतीय
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

□ पं० पद्मचन्द शास्त्री, नई दिल्ली

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम मे पृथक्-पृथक् रूप से द्रव्यो के गुणधर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यो के अपने-अपने गुण-धर्म नियत है। कुछ साधारण है और कुछ विशेष। जहां साधारण गुण वस्तु के अस्तित्वादि को इंगित करते है वहां विशेष गुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यो से पृथकता बतलाते है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव द्रव्य के साधारण गुण हैं और ज्ञान' दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण है। कहा भी है—

"लक्षणानि कानि" अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्व, मूर्तत्वं अमूर्तत्व द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्" ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्व अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः। प्रत्येक जीवपुद्गलयोर्षट्।"— (आलापपद्धति गुणाधिकार)

जीव मे निर्धारित गुणो को जीव कभी भी किसी भी अवस्था मे नही छोड़ता इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गोणकर लिये जाते है। यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शैली है द्रव्य मे गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य मे सर्वथा अभाव नहीं हो जाता—द्रव्य का स्वरूप अपने मे पूर्ण रहता है। यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकांत-मिथ्या हो जाय और ऐसे मे अनेकान्त दृष्टि का भी व्याघात हो जाय। अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मा हो—"अनन्तधर्मणस्तत्त्व", "सकलद्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता।"

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयों पर आधारित है और एक देश भाग की ज्ञाता होने से नय दृष्टि वस्तु के पूर्ण रूप की ज्ञाता नही हो सकती—इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने से वस्तु के एक देश को जान सकता है। वह अंश को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है। पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है। यतः वस्तु, ज्ञान के अनुसार नही होती अपितु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है। अतः जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति से (सम्यग्नयानुसार) उतने रूप मे ठीक है। पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है, जैसा है वैसा है। नय ज्ञान उसे नही जान सकता है। फलतः—

आत्मा के स्वभाव रूप असख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अवस्था में नकारा नही जा सकता। स्वभावतः आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेशी है ही, व्यवहार नय से भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असख्यात प्रदेशी ही है। यतः दोनों नयों को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नहीं। असंख्य प्रदेशित्व आत्मा का सर्वकाल रहनेवाला गुण-धर्म है, जो नयोंसे कभी गौण और कभी मुख्य कहा या जाना जाता है। ऐसे मे आत्मा को अनेकान्त दृष्टि मे अप्रदेशी मान लेने की बात ही नही ठहरती। क्योंकि "अनेकातवाद" (छद्मस्थों को) पदार्थ के सत्स्वरूप मे उसके अश को जानने की कुंजी है, गौण किए गए अंशों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नही। यदि हम दृष्टि में वस्तु का सर्वथा एक अंश-रूप ही मान्य होगा तो "अनेकान्त सिद्धान्त" का व्याघात होगा।

यदि आत्मा में असख्य प्रदेशित्व या अप्रदेशित्व की सिद्धि करनी हो तो हमें जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर 'प्रदेश' के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह संभव होगा। अतः यहा सिद्धांत ग्रन्थों से "प्रदेश" के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं:

१. "सः (परमाणु) यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेशः।"

—परमाणु (पुद्गल का सर्वसूक्ष्म भाग—जिसका पुनः खंड न हो सके) जितने क्षेत्र (आकाश) मे रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते है।

२. "प्रदेशोनामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाहः।"

—त० भा० ५-७

—प्रदेश नाम आपेक्षिक है वह सर्वसूक्ष्म परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

३. तर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते।"

—त० वा० २, ३८,

—प्रदेशों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यो के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

४. "जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥"

—जितना आकाश (भाग) अविभागी पुद्गल अणु घेरता है, उस आकाश भाग को प्रदेश कहा जाता है।

५. "जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणारुद्धं।"

—द्रव्यस्व० नयच० १४०

—अणु जितने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उतना क्षेत्र प्रदेश कहलाता है।

६. "परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः।"

—प्र० सा० जयचंद वृ०

—परमाणु जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उतना क्षेत्र प्रदेश कहा जाता है।

७. "शुद्धपुद्गलपरमाणुगृहीतनभस्थलमेव प्रदेशः।"

—शुद्ध पुद्गल परमाणु से व्याप्त नभस्थल ही प्रदेश कहलाता है।

८. "निर्विभाग आकाशावयवः प्रदेशः।"

—निर्विभाग आकाशावयव प्रदेश होता है।

९. "प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः॥३॥ प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। कथं प्रदिश्यन्ते? परमाण्ववस्थान परिच्छेदात्॥४॥ वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणु सः यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवा असंख्येयप्रदेशाः।"—

—तत्त्वा० राव० ५/८/३

१०. "प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं अविभागिपुद्गल-परमाणुनावष्टब्धम्।"

—आलाप पद्धति

आगमों के उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक है और आकाशभाग (क्षेत्र) परिमाण में प्रयुक्त होते है। आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना जितना व्याप्त करता है वह द्रव्य आकाश के परिमाण के अनुसार उतने ही प्रदेशों वाला कहा जाता है।

शंका—यदि "शब्दानामनेकार्थः" के अनुसार "प्रदेश" का "खंड" और "अप्रदेश" का "अखण्ड" अर्थ मानें तो क्या हानि है?

समाधान—शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है। जैसे सैन्धव का अर्थ घोडा है और नमक भी। पर, भोजन प्रसंग मे इस शब्द से "नमक" और यात्रा प्रसंग में "घोड़ा" ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव मे "प्रदेश" "अप्रदेश" को आगमिक परिभाषा के भाव मे लिया जायगा। अन्यथा शुद्धोपयोगी आत्मा के संबंध मे—"अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्मासिद्ध भगवान मे एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हे "अपदेश" न मान कर सपदेश—असख्यात प्रदेशी वाला स्वाभाविक रूप से माना गया है। उनकी स्थिति "किंचिदूणाचरमदेहदोसिद्धाः के रूप मे है। प्रदेश का परिमाण आकाशक्षेत्रावगाह से माना गया है। आत्मा को अखण्ड मानने में कोई बाधा नही—आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखण्ड है ही।

आगम में एक से अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्तिकाय और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्तिकाय" से बाहर रखा गया है। कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्तिकाय कहा है। कही आत्मा को अस्तिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने मे नही आया।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व" का आधार आकाश की

अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नही। यदि इनका मापदण्ड भावों से किया गया होता तो आचार्य अर्हंतों और सिद्धों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होने ऐसा घोषित नही किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने सबंधित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है। क्योंकि "समयसार" उन्ही की रचना है। "समयसार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार मे कहा गया है :—

"अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कई तत्तो हीणो अहिओ य काउं जं॥"

—समयसार ३४२

"जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्यो, असंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।"

—टीका, अमृतचन्द्राचार्य (आत्मख्याति)

"आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चाऽसख्यातप्रदेशो देशित: समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्ध चैतन्यान्वयलक्षण द्रव्यत्वं तथैवाऽसंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति।"

—टीका जयसेनाचार्य, (तात्पर्यवृत्ति)

उक्त सन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नही है। वह स्वय स्पष्ट है। गाथा मे "नित्य", आत्मख्याति म "द्रव्यरूपेण", और तात्पर्यवृत्ति मे "द्रव्यार्थिकनयेन", ये तीनों विशेष-निर्देश द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के कथन को इगित करते है। एतावतः इस प्रसग मे आत्मा के असख्यात प्रदेशित्व का कथन निश्चय नय की दृष्टि से ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि से नही।

आगम मे व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयों के यथेच्छ रीति से प्रयोग करने की हमे छूट नही दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एव गुण धर्म की मुख्यता रहती है और व्यवहार नय मे उपचार की। इनके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेशित्व निश्चय नय का कथन है, व्यवहार नय का नही।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिणामिक भाव-रूप-सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार मे आत्मा को नित्य एव असंख्यप्रदेशी घोषित करते हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसग मे अप्रदेशी नही कह सकते।

"जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेसत्ति कालस्स॥

—कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ४३

"अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाश-तुल्याऽसंख्येय—प्रदेशापरित्यागात् जीवस्य।"

—वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्वदीपिका

"तस्य तावत संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत् प्रदेशाना हानिवृद्धयोरभावात् व्यवहारे देह-मात्रोऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येय प्रदेशत्वम्।"

—वही, जयसेनाचार्य, तात्पर्यवृत्ति

जीव के असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार का कथन नही माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह उनका स्वभाव ही है और स्वभाव मे उपचार नही होता। तत्त्वार्थ राजवार्तिक (५/८/१३) का कथन है कि—

हेत्वपेक्षाभावात् ॥३॥ पुद्गलेषु प्रसिद्ध हेतु-मवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचार: न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशत्वात्। तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता।"

स्वर्गीय, न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी का यह कथन विशेष दृष्टव्य है :—

"शुद्ध नय दृष्टि से अखण्ड उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा मे प्रदेश भेद न होने पर भी ससारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से सावयव ही है।"

—त० वा० (ज्ञानपीठ) पृ० ६६६

एक बात और। अपेक्षाश्रित होने से नय-दृष्टि मे वस्तु का पूर्ण त्रैकालिकशुद्धस्वभाव गम्य नही होता। पूर्ण ग्रहण तो सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही होता है। इसीलिए आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि से अतीत घोषित करते है। वे कहते है :—

"णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।"
"सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।"

—समयसार, १४२, १४४

मूर्त द्रव्य मे तो परमाणु की प्रदेश संज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की वहां भी

उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के सिवाय सभी अमूर्त द्रव्यों मे प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र से ही होगा उपयोग के अनुसार नहीं।

मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंताणूनां पिण्डा स्कंधास्त एव त्रिविधा प्रदेशा भण्यंते न च क्षेत्रप्रदेशाः।— (शेषाणां क्षेत्राऽपेक्षेति फलितम्)

—बृ० द्रव्य स० टीका गाथा २५

सिद्धत्वपर्याय में उस पर्याय के उपादान कारणभूत शुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण—चरमदेह से किंचित् न्यून है जो कि तत्पर्याय (अंतिम शरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नहीं।

'किंचिदूणचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतशुद्धात्मद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव।'

—वही

द्रव्यसग्रह में शका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यो कहा ? वहाँ स्पष्ट किया है कि—

'स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति।' —वही गाथा २ टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते है और कोई व्यापक। उनकी मान्यता समीचीन नहीं, यहाँ यह स्पष्ट किया है।

पंचास्तिकाय में आत्मा के प्रदेशो के संबध मे लिखा है—

'निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वात् नामकर्म निर्वृत्तमणुमहत्शरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रो।' —(त० दी०)

'निश्चयेन लोकाकाशप्रतिमाऽसंख्येयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण शरीरनामकर्मोदय जनिताणुमहच्छरीर प्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति।' —(तात्पर्य वृ०) २७,

यदि उपयोगावस्था मे आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने से यह भी मानना पड़ेगा कि आत्म प्रदेश बृहत् शरीर मे सिकुड़ कर प्रदेशमात्र-अवगाह में हो जाते हैं और शेष पूरा शरीर भाग आत्महीन (शून्य) रहता है—जैसा कि पढ़ने सुनने में नहीं आया।

छद्मस्थ का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अंशग्राही और प्रमाण का भाव सर्वग्राही है। दोनो मे ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई—'अनेकान्तऽप्यनेकान्त'। प्रसंग मे भी इसी आधार पर आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व का विधान किया गया है। तथाहि—

अनेकान्त की दो कोटियां है। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षादृष्टि मे अंशो को क्रमशः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमे सकल को युगपत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि मे रूपी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी तक के सभी छद्मस्थ आते है। इन सभी के ज्ञान पर-सहायापेक्षी आंशिक और क्रमिक होते है। प्रत्यक्ष होने पर भी वे 'देश-प्रत्यक्ष' ही कहलाते है। दूसरे शब्दों मे इन सभी को एक समय मे एक प्रदेशग्राही भी माना जा सकता है यानी ये एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होते है। दूसरी कोटि मे केवली भगवान को लिया जायगा यतः ये एक और एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यकप्रचय—बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता है। आचार्यों ने इसी को ध्यान मे लेकर ऊर्ध्व प्रचय को **'क्रमाऽनेकान्त'** और तिर्यक् प्रचय को **'अक्रमाऽनेकान्त'** नाम दिए है—

'तिर्यक्प्रचयः तिर्यक् सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति **'अक्रमाऽनेकान्त'** इति च भण्यते।...ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति 'क्रमाऽनेकान्त' इति च भण्यते।'

—प्रव० सार (त० वृ०) १४१।२००।६

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाऽनेकान्त है क्योंकि गुणो की वस्तु मे युगपदवृत्ति है और पर्यायो का समूह क्रमाऽनेकान्त है, क्योंकि पर्यायों की वस्तु मे क्रम से वृत्ति है'—

—जैनेन्द्र सि० कोष पृ० १०८

स्पष्ट है कि क्रमाऽनेकान्त मे वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नहीं होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाऽनेकान्त में ही प्रकट होता है और बहुप्रदेशित्व का युगपद्ग्राही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अतः केवलज्ञानगम्य—प्रदेशसम्बन्धी वही रूप प्रमाण है, जो सिद्ध भगवान का रूप है—

'किंचिदूणा चरम देहदो सिद्धाः।' अर्थात्—

—असंख्यात प्रदेशी।

आगम में द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणों और पर्यायों को बतलाया गया है और ये दोनों ही सदा कालद्रव्य मे विद्यमान है। द्रव्य के गुण द्रव्यार्थिक नय और पर्यायें पर्यायार्थिक नय के विषय है। जब हम कहते हैं कि 'आत्मा अखंड है' तो यह कथन द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और जब कहते है कि 'आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायार्थिकनय का विषय होता है दोनों ही नय निश्चय मे आते है। जिसे हम व्यवहार नय कहते है वह द्रव्य को पर-संयोग अवस्थारूप मे ग्रहण करता है। चूंकि आत्मा का असख्यप्रदेशत्व स्वाभाविक है अतः वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नही—निश्चय का ही विषय है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो मे एक की मुख्यता मे दूसरा गौण हो जाता है—द्रव्यस्वभाव मे न्यूनाधिकता नही होती। अतः स्वभावतः किसी भी अवस्था मे आत्मा अप्रदेशी नही है। वह त्रिकाल असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थ-क्रियाकारित्व का अभाव भी नही होगा। यतः अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव वहा होता है जहा द्रव्य के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक धर्मरूप मे ही स्वीकार किया जाता है। यहा तो हमे आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत है केवल प्रदेशत्वधर्म के सम्बन्ध मे ही उसके निर्धारण का प्रश्न है- यहा अन्य धर्मों के रहने से स्व-भावशून्यता भी नही होगी और ना ही द्रव्यरूपता का अभाव। यदि एक धर्म के ही आसरे से (अन्य धर्मों के रहते हुए) अर्थक्रियाकारित्व की हानि होती हो तब तो एकप्रदेशी होने से कालाणु, पुद्गलाणु मे और असंख्यात-प्रदेशी होने से सिद्धों मे भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा—पर ऐसा होता नही।

राजवार्तिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असख्यातप्रदेशत्व के निषेध में न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमार्थ से असंख्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्धदृष्टि की विवक्षा मे बहुप्रदेशीपने को गौण कर अखण्डरूप से ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशरूप कहा गया है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नहीं।

प्रकृत में उपसंहाररूप इतना विशेष जानना चाहिए कि जहां तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करते समय, उसमें यथार्थता होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है। इस दृष्टि को साध-कर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है, तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अखण्ड हो जाता है। इसलिए परमार्थ से जीव के—स्व-स्वरूपशक्ति से असख्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि की अपेक्षा उसे अखण्डरूप से अनुभव करना आगम सम्मत है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से आत्मा असंख्यातप्रदेशी और अखण्ड है ही और एक प्रदेशावगाही होकर भी उसके असख्यप्रदेशी हो सकने मे कोई बाधा नहीं। इसका निष्कर्ष है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अखण्ड नही, अपितु असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

□□□

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक मडल लेखक के सभी विचारों से सहमत हो। —सम्पादक

आनन्द कहां है ?

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यह अभी बहिरात्मा है यानी इसकी दृष्टि, इसका सर्वस्व बाहर मे है, पर मे है, धन-दौलत में है, परिवार मे है, शरीर म है, अपने आप म यानी चैतन्य में नही है। इसलिए यह मानता है कि मैं मनुष्य हूं, मैं धनिक हूं, मैं गरीब हू, मैं रोगी हू, सुखी हूं, दुखी हू परन्तु कभी यह नही देखता कि मैं सच्चिदानन्द हू। शरीरादि धन-वैभव तो साथ मे लाया नही, साथ मे जायगा नही, जो जन्म से पहले था मरने के बाद रहेगा नहीं, यह तो संयोग वस्तु है। कुछ समय मात्र के लिए संयोग हुआ है। किसी होटल मे ठहरते है उस कमरे को अपना कमरा भी कहते है, उस कमरे मे अनेक प्रकार का सामान भी होता है, उसको काम मे भी लेते है परन्तु यह जानते है कि इसमे हमारा कुछ नही है, कुछ समय क लिए इसमे ठहरे है। उन सब म स्वामित्वपना, अपनापन नही इसलिए उनमे अहबुद्धि भी नही होती और आसक्ति भी नही होती और उसके बिगड़ने-सुधरने स दुःख-सुख भी नहीं होता। उसी प्रकार यह चैतन्य आत्मा १००-५० वर्षों के लिए इस शरीर रूपी होटल मे आकर ठहरा है। इसमे इसका अपना अपने चैतन्य के अलावा कुछ नही है यहां तक कि शरीर भी यही रह जाता है, इसका अपना होता तो इसके साथ जाना चाहिए था। बात तो ऐसी ही है परन्तु यह भ्रम से इसे अपना मानता है, इसे अपना रूप मानता है और जब इसे अपना मानता है तो इससे सम्बन्धित परिवारादि है व भी उसके अपने हो जाते है और जो अन्य संयोग है उन भी अपना मान लेता है, तब उनमे अहम् बुद्धि पैदा होने म यह भाव बनता है—

'मैं सुखी-दुखी, मैं रक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव, मेरे सुत तिय, मैं सबलदीन, बे रूप सुभग मूरख-प्रवीन'। इन सयोगों के अनुकूल होने पर अहकार करता है और विपरीत होने पर रोता है, यही इनका बहिरात्मपना है। इसी से यह दुखी है वह कैसे दूर हो यह प्रश्न है?

अगर यह अपने को पहचान ले कि मैं एक अकेला चैतन्य हूं बाकी सब कर्म के सम्बन्ध मे होने वाले सयोग है, मैं इन रूप नही, मैं अपने निज चैतन्य रूप हूं अथवा मैं तो 'अह्मोस्मि' हूं यह जाने। अपने को इनसे अलग देखे तो दुखी-सुखी होने का कोई प्रयोजन ही नही रहे। जैसे किसी नाटक मे कोई आदमी पार्ट कर रहा है, उसको धनिक का पार्ट दिया तो वह कर देता है, भिखारी का दिया है, तो वह कर देता है, भिखारी का पार्ट करते हुए अपने को भिखारी मानकर दुखी नही होता है और राजा का पार्ट कर राजा मानकर अहकार नही करता। क्योकि वह जानता है कि यह तो मात्र कुछ देर का पार्ट मात्र है। मैं इस रूप नही, मै तो अपने रूप ही हू। इसी प्रकार यह आत्मा कर्मजनित अनेक प्रकार के पार्ट कर रहा है। कभी धनिक का, कभी भिखारी का, कभी स्त्री का, कभी पुरुष का पुरुष का, कभी पशु का। अगर यह अपन आपको यानी पार्ट करने वाले को जान पहचाने, जो सद्चिदानन्द चैतन्य है तो उसे कर्म-जनित अवस्था म दुख-सुख नही हो, यही अन्तरात्मपना है यानी अपने को जान लिया, अब उसके लिए वह पार्ट हो गया, अब तक उसे असली मान रखा था, जहा अपने को पहचाना उसका असलीपना खतम हो गया। अब वह पार्ट उसे सुखी-दुखी नही बना सकता। नाटक का पार्ट दो-चार घण्ट का होता है। यह १००-५० वर्ष का नही है परन्तु पार्ट तो पार्ट ही है चाहे वह कितने समय का ही क्यो न हो।

धन वैभव का आना-जाना तो पुण्य-पाप के अधीन है परन्तु यह तत्व-ज्ञान प्राप्त करना अपने अधीन है। इसलिए हे चैतन्य तुझे आनन्द को प्राप्त करना है तो अपने को जानने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जैसे तून अपने को मान रखा है। वैसा तू नही, तू तो उन अवस्थाओ को जानने वाला चैतन्य है। यह जानकर जो अपना नही उसमे हटे और जो अपना है उसमे लीन हो जाए तो कर्म का सम्बन्ध दूर हो जाए। क्योकि जब कर्म-जनित अवस्थाओं को अपना जानकर दुखी-सुखी होता था तब नया कर्म का बन्ध होता था। जब अपने को कर्मकृत अवस्था से अलग जान लिया तो कर्म के कार्य के हर्ष-

[शेष पृ० २३ पर]

जैन संस्कृति में दसवीं-बारहवीं सदी की नारी

□ डा० श्रीमती रमा जैन

जैन संस्कृति में भारतीय नारी का गौरवपूर्ण स्थान सदा से सुरक्षित रहा है आदि पुराण मे आचार्य जिनसेन ने नारी के जिस रूप का चित्रण किया है, उससे प्रतीत होता है कि आज से लगभग ११११० वर्ष पूर्व नारी की स्थिति आज से कही अच्छी और सम्मानपूर्ण थी। उस समय पुत्री, माता-पिता के लिये अभिशाप नही मानी जाती थी। वह कुटुम्ब के लिए मंगल रूप और आनन्द प्रदान करने वाली समझी जाती थी।[१]

कन्याओं का लालन-पालन और उनकी शिक्षा-दीक्षा पुत्री के समान होती थी। भगवान ऋषभदेव ने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो पुत्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रेरित करते हुए कहा था कि गुणवती, विदुषी नारी संसार में विद्वानों के बीच सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करती है।[२] अपने अनवरत अध्ययन के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी ने पूर्णतः पण्डित्य भी प्राप्त किया था।

उस समय समाज मे कन्या का विवाहित हो जाना आवश्यक नही था। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि कन्याएं आजीवन अविवाहित रह कर समाज की सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थी। पिता पुत्री से उसके विवाह के अवसर पर तो सम्मति लेता ही था, आजीविका अर्जन के साधनो पर भी पुत्री से सम्मति लेता ही था। बज्रदन्त चक्रवर्ती ने अपनी कन्या श्री सर्वमती को बुलाकर उसे नाना प्रकार से समझाते हुए कलाओ के सम्बन्ध मे चर्चा की है।[३] आजीविका उपार्जन के लिये उन्हें मूर्तिकला, चित्रकला के साथ ऐसी कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने भरण-पोषण कर सकती थी। पैतृक सम्पत्ति मे तो उनका अधिकार रहता ही था। वे अपनी इच्छा अनुसार दान धर्म मे पिता की सम्पत्ति का उपयोग कर सकती थीं। कुमारी सुलोचना ने पिता की अनुमति से बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओ का निर्माण कराया था, और उन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा, पूजन मे भी पर्याप्त धनराशि खर्च की थी।

जैन संस्कृति मे स्वावलम्बी नारी जीवन की कल्पना पुराणो और शिलालेखो मे सर्वत्र मिलती है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व, अन्य २३ तीर्थंकरों ने भी अपने अपने संघ में नारी को दीक्षित कर आत्म-साधना का पूर्ण अधिकार दिया था। यही कारण है कि जैन नारी धर्म, कर्म एव व्रतानुष्ठानादि मे कभी पीछे नही रहीं।

जैन शासन के चतुर्विध संघ के साधु के समान साध्वी को एव श्रावक के समान श्राविका को भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास एव आत्मकल्याण हेतु पुरुष के समान ही कठिन तपस्या, व्रत, उपवास केशलुंच आदि धार्मिक आचरण कर सकती है। स्वाध्याय से अपना बौद्धिक विकास कर आत्मानुष्ठान द्वारा मन और इन्द्रियो को वश मे कर, आगत उपसर्गों परीषहों को सहन कर धर्म साधिका बन सकती है। चन्दना सती ने अपनी योग्यता और प्रखर बुद्धिमत्ता से ही आर्यिका के कठोर व्रतों का आचरण कर महावीर स्वामी के तीर्थ मे छत्तीस हजार आर्यिकाओ मे गणिनी का पद प्राप्त किया था।[४]

ईसा की दसवीं शताब्दी मे कवि चक्रवर्ती रत्न ने मल्लपय की पुत्री एवं सेनापति नागदेव की पत्नी अतिमब्बे की जिन भक्ति तथा उनके अलौकिक धर्मानुराग की भूरि२

१. पितरौतां प्रपश्यन्त नितरां प्रीतिमापतुः,
कलामिव सुधासूते. जनतानन्द कारिणीम्।
(आदिपुराण, पर्व ६, श्लोक ८३)

२. विद्यावान पुरुषो लोके सम्मति याति कोविदैः।

३. आदि पुराण, पर्व ७, श्लोक।

४. आदि पुराण पर्व ४३, श्लोक।

प्रशंसा की है।[५] महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराण की दुर्दशा देख अत्तिमब्बे ने 'शान्तिपुराण' की एक हजार प्रतियाँ तैयार करा कर कर्णाटक में सर्वत्र वितरित की थी।[६]

अत्तिमब्बे केवल जैन धर्म की श्रद्धालु श्राविका ही नहीं थीं, वे उच्चकोटि की दान शीला भी थी। उन्होंने कोपल में (हैदराबाद) चांदी सोने की हजारों जिन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराई थी और लाखों रुपयों का दान किया था।[७] फलस्वरूप इन्हें दानचिन्तामणि की उपाधि प्राप्त हुई थी। दान चिन्तामणि की महिमा शिलालेखों में विशेष रूप से अंकित है।[८]

ईसा की दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में न केवल राजघराने की वीर बालिकाओं ने त्याग, दान और धर्म निष्ठा का आदर्श उपस्थित किया था, अपितु साधारण महिलाओं ने भी अपने त्याग और सेवाओं के अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये है।

जाविकमब्बे शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी। इन्होंने कुशलता से राज्य शासन का परिचालन करते हुए विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना कराई थी। ये राज्य कार्य में निपुण, जिनेन्द्र शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी।[९]

इसी प्रकार मौनी गुरु की शिष्या नामवती, पेरुमाल गुरु की शिष्या प्रभावती, अध्यापिका दामिमती, आर्यिका साम्वर्या, शशिमति आदि नारियो के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने व्रत शीलादि का सम्यक आचरण कर जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार मे आमरण तत्पर रह कर जीवन को सफल बनाया और जैन नारी के समक्ष महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया।[१०]

विष्णुवर्द्धन की महारानी शान्तल देवी ने सन् ११२३ में श्रवणबेलगोल में जिनेन्द्र भगवान की विशालकाय प्रतिमा की स्थापना कराई थी।[११] यह प्रतिमा 'शान्ति जिनेन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है शान्तला देवी संगीतज्ञा, पतिव्रता, धर्मपरायणा और दान शीला महिला थी। जैन महिलाओं के इतिहास में इनका नाम चिरकाल तक अविस्मरणीय रहेगा। अन्तिम समय में शान्तल देवी भोगों मे विरक्त होकर महीनो तक अनशन, ऊनोदर का पालन करती सल्लेखनापूर्वक परलोक सिधारी थी।

पुराणों मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमे स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों मे, और राज्य के सरक्षण मे तथा अवसर आने पर युद्ध मे सहायता कर दुश्मन के दांत खट्टे किये है।[१२]

गंग नरेश रक्कसमणि की पत्नी सावियब्बे अपने पति के साथ युद्ध करने 'बागेयूर' गई थी और वहाँ पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुई थी। शिलालेख मे इस सुन्दरी को धर्मनिष्ठ, जिनेन्द्र भक्ति मे तत्पर, रेवती, सीता और अरुन्धती के सदृश बतलाया है।

बारहवी शताब्दी तक मथुरा भी जैन धर्म का एक महान केन्द्र रहा है एक लम्बे समय तक जैन कला यहां अनेक रूपो मे विकसित होती रही यहा पर जैन धर्म से सबंधित कई हजार वर्ष के प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है। इन अवशेषो मे से बहुत से ऐसे है जिनमे संस्कृत प्राकृत भाषा के अभिलेख मिले है। अभिलेखो मे दो प्रकार की स्त्रियो के उल्लेख है एक तो भिक्षुणियो के जिनके लिये आर्या शब्द का प्रयोग है। दूसरी गृहस्थ स्त्रिया है जिन्हें श्राविका नाम से जाना गया है। आर्यिकाये श्राविकाओ को धर्म, दान, ज्ञान का प्रभावपूर्ण उपदेश देती थी। उनके उपदेश से गृहस्थ नारियाँ विभिन्न धार्मिक कार्यों मे प्रवृत होती थी। लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री वसु' ने अर्हत् पूजा के लिये एक देवकुल, आयोगसभा, कुण्ड तथा शिलापट्ट का निर्माण कराया जिसकी स्मृति उसने एक सुन्दर आयोगपट्ट पर छोड़ी है।[१३]

[शेष पृ० २३ पर]

५. अजितनाथ पुराण, आश्वास १२।
६. शान्तिपुराण की प्रस्तावना।
७. अजितपुराण आश्वास १२।
८. बम्बई कर्णाटक शासन सग्रह, भाग १, ५२ नम्बर वाला लेख।
९. श्रवण बेलगोल शिला लेख न० ४८६ (४००)।
१०. श्रवण बेलगोल के शक स० ६२२ के शिलालेख।
११. श्रवण बेलगोल के शिला लेख नं० ५६।
१२. चन्द्रगिरी पर्वत के शिला लेख नं० ६१।
१३. प्राचीन मथुरा की जैन कला मे स्त्रियों का भाग—लेखक—कृष्णदत्त बाजपेयी।

दक्षिण की जैन पंडित परंपरा

□ पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास

तमिल, कर्नाटक, आध्र और मलयाळं नामक चार प्रान्तो से जो समाविष्ट है, उसे दक्षिण भारत कहते है। मगर इसमे विचार करने की बात यह है कि तमिल और कर्नाटक प्रान्तो मे ही आज भी जैन धर्म अवशिष्ट है और जैन विद्वद्रत्नों से रचे गये अमूल्य जैन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। लेकिन आध्र और मलयालं मे, न तो स्थानीय जैनी लोग रहते है और न जैन ग्रन्थो की उपलब्धियाँ पायी जाती है। इसका मतलब यह नही है कि पुराने जमाने मे भी वहाँ जैनी लोग न थे। परन्तु भरमार जैनी लोग रहते थे और जैन धर्म भी उन्नत दशा पर था। लेकिन काल के प्रभाव से कहिये या मत-मतान्तरो के विद्वेष से कहिये, वहाँ जैन धर्म जैन समाज एव जैन साहित्य इन सबो का लोप-सा हो गया। फलत अब इन दोनो प्रान्तो मे केवल जैन मन्दिरो के खण्डहर तथा जैनाचार्यों के निवास स्थान के रूप गुफाये, शिलालेख आदि काफी मिलते है। उनकी सुरक्षा सरकार से किसी तरह नही की जाती।

तमिल और कर्नाटक प्रान्तो म तो जैनी लोग काफी सख्या मे रहते है और जैन साहित्य एव जैन कला आदि की भी उपलब्धियाँ पायी जाती है। तमिल प्रान्त की अपेक्षा कर्नाटक मे प्रभाव कुछ ज्यादा है। उसका बहुत बड़ा कारण वहा के कि जगत्प्रसिद्ध विंध्यगिरी के अधिनायक भगवान गोमटेश्वर है।

तमिल प्रान्त के निवासी होने के नाते मैं इस प्रान्त के जैन विद्वद्रत्नो की रचना एव सेवा आदि को बता कर आप सज्जनो को चकित कराने का प्रयत्न करूंगा वास्तव मे, तमिल भाषा के अन्दर जैन पण्डितो की जो रचनाये मिलती है, उन सबको तमिल भाषा से अलग कर दिया जाये, तो तमिल भाषा एकदम फीकी रहेगी। इसका मतलब यह है कि जैन पडित कहिय या जैनाचार्य कहिये अथवा विद्वन्मण्डली कहिय कुछ भी हो, उनकी परंपरागत रचनायें ही साहित्य क्षेत्र मे या भाषा के क्षेत्र मे मेरु शिखर के समान महनीय गरिमा से ओत-प्रोत हैं। उनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

तमिल मे उपलब्ध ग्रन्थ राजो से पता लगता है कि उनके निर्मातागण ज्ञान सिन्धु के अमूल्य रत्न थे। ऐसे ज्ञान पारावार के कुछ अद्भुत रत्नो का परिचय कराना अत्यन्त आवश्यक समझता हू। विद्वद्रत्न पंडितो ने आश्चर्यमय रचनायें तो की है, मगर नाम और यश को नगण्य समझने वाले वे महापुरुष कई ग्रन्थराजो के अन्दर अपने नाम तक नही दिये हैं। ऐसे उदारमना सत्पुरुषो के बारे मे क्या कहा जाय ? जिन-जिन के नाम मिलते हैं, उन्हें नाम से जानें जिनके नाम नही मिलते उन्हे उनके ग्रन्थो से परिचय कर लें। अत: काल और ग्रन्थो के नाम देने के साथ जिन महान आचार्यों पडितो के नाम मिलते है यहाँ सिर्फ उन्हे सूचित करूंगा।

उन महान आचार्य पण्डितो का काल, नाम और ग्रन्थ सारणी मे दिये गये है। इनसे पता चलता है कि इन्होंने सभी प्रकार के विषयों पर ग्रन्थ लिखे है। ये ग्रन्थ ईसापूर्व सदियो से आज तक लिखे पाये जाते है।

सारणी/तामिल में जैन पंडित परंपरा का विवरण

काल	पंडितो के नाम	साहित्य ग्रन्थ
(अ) प्रमुख ग्रन्थ		
ई० पूर्व ३०० वर्ष	अगत्तियर	पेरगत्तिय
,, ,, ,,	तोलकाप्पियर	तोलकाप्पियं
,, ,, २०० वर्ष	—	तामील संघ के ग्रन्थ
,, ,, १०० वर्ष	देवर	तिरुक्कुरल
ई० दूसरी शताब्दी	इलंगोवडिगल	शिलप्पधिकार
, चौथी ,,	तिरुत्तक्करेवर	जीवक चिन्तामणि
,, ,, ,,	तिरुत्तक्करेवर	नरिविरुत्तम
,, पाँचवी ,,	तोलामालिदेवर	चूलामणि

ई० ५वीं शताब्दी	कोंगुवेल्रि (राजा)	पेरुंगदै	
,, ,, ,,	वलैयापति	वलैयापति	
,, दसवों ,,	समय दिवाकर वामन मुनिवर	मेरु मन्दिर पुराण	
,, ,, ,,	—	नारदचरित	
,, ,, ,,	जेयं कोण्डार	कलिंगत्तुपरणि	
,, ग्यारहवीं ,,	—	शान्तिपुराण	
,, बारहवीं ,,	—	उदयणकुमार काविय	
,, ,, ,,	—	इन्दिर काविय	
,, ,, ,,	—	नक्कीर अडिनूल	
,, ,, ,,	—	नंदत्तं	
,, ,, ,,	—	तक्काणियं	
,, ,, ,,	—	यशोधर कावियं	
,, ,, ,,	—	नागकुमार कावियं	
,, चौदहवीं ,,	—	किलिविरुत्तं	
,, ,, ,,	—	एलिविरुत्त	
,, ,, ,,	—	मल्लिनाथ पुराण	

(ब) कोश रचनायें

काल	पंडितों के नाम	कोश ग्रन्थ
ई० चौथी ,,	दिवाकर	दिवाकरं
,, ,, ,,	पिंगलरै (दिवाकर के पुत्र)	पिंगलन्दै
,, नौवीं ,,	मण्डलपुरूडर	चूडामणि निगण्डु

(स) व्याकरण रचनायें

ई० दसवीं सदी	अमितसागरर	याप्पेरुङ्कुल
,, ,, ,,	,,	याप्पेरुङ्कुलक्कारिकै
,, बारहवी ,,	भवणंदि मुनि	नन्नूल
,, ,, ,,	—	नेमिनाथ
,, ,, ,,	अविनायनार	अविनय
,, ,, ,,	—	इन्दिरकाणियं
,, ,, ,,	—	अणिइयल
,, ,, ,,	—	वाप्पिय
,, ,, ,,	—	मोलिवारि
,, ,, ,,	—	कडियनन्नियं
,, ,, ,,	—	काक्कैपाडियं
,, ,, ,,	—	सब याप्पु

,, तेरहवीं ,,	—	वेण्पा पट्टियल

(द) नीति ग्रन्थ रचनायें

चौथी सदी	जैन साधुगण	नालडियार
,, ,,	मुन्दुरैयनार	पलमालिनानूरु
,, ,,	—	आचारक्कोवै
,, ,,	—	सिरुपंच मूलं
,, ,,	कणमेदैयार	एलादि
,, ,,	मुनैप्पाडियार	अरनेरिच्चार
,, ,,	—	तिणैमालैनूरैंबदु
,, ,,	—	तिरिकडुकं
,, ,,	—	इन्ननार्पदु
,, ,,	—	इनियवैनार्पदु
,, ,,	—	नान्मणिकाडिकै
तेरहवी ,,	—	जीव सबोधनै
,, ,,	—	कोंगुमण्डल शतकं
,, ,,	—	नेमिनाथ शतकं

(य) तर्कग्रन्थ रचनायें

११वीं सदी	—	नीलकेशि
,, ,,	—	पिंगलकेशि
,, ,,	—	अंजनकेशि
,, ,,	—	तत्व दर्शनं

(र) संगीत ग्रंथ रचनायें

दसवी सदी	—	पेरु कुरुगु
,, ,,	—	पेरु नारै
,, ,,	—	सेयिड्डियं
,, ,,	—	भरत सेनापतिय
,, ,,	—	सयन्त
,, ,,	—	इसैनुणुक्क
,, ,,	—	सिड्डिसै
,, ,,	—	पेरिसै

(ल) नाटक ग्रंथ रचनायें

दसवीं सदी	—	गुणनूल
,, ,,	—	अगत्तियं
,, ,,	—	कूत्तनूलसन्द

(व) ज्योतिष ग्रंथ रचनायें

बारहवी सदी	जिनेन्द्र कवि	जिनेन्द्र मालै
,, ,,	,,	उल्लमुडैयान

(श) गणित ग्रन्थ रचनायें

दसवी सदी	—	केट्टिएणचुवडि
" "	—	कणक्कधिकार
" "	—	नल्लिलक्ककवाटपाड्
" "	—	सिरुकुलि
" "	—	कीलवाय इलक्कं
" "	—	पेरुक्कलवाय्पाड्डु

(स) प्रबन्ध ग्रन्थ रचनायें (स्तोत्र)

दसवी सदी	—	निरुक्कल बकं
" "	—	तिरुनटूंदादि
" "	—	निरुबेंबावे
" "	—	निरुप्पामाले
" "	—	अप्पाण्डैनादर उला
" "	—	तिरुप्पुकल
१४वीं "	—	आदिनाथर पिल्लै-तमिल
" "	—	तिरुमेट्रिसैयन्दादि
१५वीं "	—	धर्मदेवि अन्दादि
" "	—	तिरुनादरकुंद्रंपदिकं
" "	—	तोत्तिरत्तिरट्टु

इनके अलावा और भी कई ग्रन्थो और विषयों के नाम मिलते है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि तमिल भाषा के प्रवीण आचार्य पडितो के प्रबल ग्रन्थराज कितने है और कितने रहे होंगे ? ये सब के सब जैन आचार्य पडितो की कृतियां है। इनमे कुछ तो प्राप्य है, कुछ अप्राप्य भी है इन महान पंडितों की विद्वत्ता एवं विचारशीलता पर कोटिशः प्रणाम। □□□

[पृष्ठ १८ का शेषांश]

विषाद करने को कुछ नही। इसलिए नए कर्म का बन्ध हुआ नही और अपने आपमे स्थिर हो गया। इसलिए जिन कर्मों का सम्बन्ध था वे नष्ट हो गए। इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से परमात्मा हो गया अथवा ब्रह्ममय हो गया। राग-द्वेष रूप विकारों का अभाव हो गया। आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुणो का पूर्ण विकास हो गया, यही परमात्म अवस्था है।

अगर आप और हम चाहें तो इस उपाय से आज भी अपने को सुखी बना सकते हैं। यह पुरुषार्थ तो हम करते नहीं, परन्तु यह मान रखा है कि धन वैभव से सुखी हो जायेंगे, इसलिए उनकी चेष्टा करते है, उनका प्राप्त होना भी पुण्यादि के अधीन है और प्राप्त होने पर भी आकुलता ही आकुलता रहती है, आनन्द प्राप्त होता नहीं, फिर भी आत्म-कल्याण का उपाय करते नहीं, यही अज्ञानता है। इस अज्ञानता को जाने और आप पुरुषार्थ करके मेटना चाहें तो यह मिट सकती है और यह अपने असली आनन्द को प्राप्त कर सकता है। □□□

[पृष्ठ २० का शेषांश]

इस प्रकार महिलाओ द्वारा बनवाये हुए आयागपट्ट, तोरण विविध स्तंभ, प्रतिमाओं की चरण चौकियां, मूर्तियां यह सिद्ध करती है कि शताब्दियो पूर्व जैन नारी इन सब कलाकृतियों के निर्माण कार्य मे, पुरुष की अपेक्षा अधिक रुचि लेती थीं। ये कलाकृतिया हमारी बहुमूल्य धरोहर हैं। इन उदार चेता प्राचीन नारी के आध्यात्मिक कला प्रेम एवं धार्मिक अभिरुचि की झांकी देखने को मिलती है। ये सब अवशेष इस समय मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों मे सुरक्षित हैं। अनेक विदुषी नारियों ने केवल अपना ही उत्थान नही किया अपने पति को भी जैन धर्म की शरण मे लाने का उत्कट प्रयत्न किया। राजा श्रेणिक भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न कड़ी है। श्रेणिक मगध में जैन धर्म का पहला राजा था, जिसके ऐतिहासिक उल्लेख जैन ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा मे मिलते है।[१४] इतिहास साक्षी है कि राजा श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशो का प्रथम श्रोता था। इन्होंने भगवान से साठ हजार प्रश्न पूछे थे जिनका भगवान के व्यापक उत्तर देकर उन्हे सन्तुष्ट किया था। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि राजा श्रेणिक को जैन धर्मानुयायी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी रानी चेलना को है। व रानी चेलना जैसी धर्मपिपासु मां के दोनों पुत्र अभयकुमार, व वारिषेण, भी विद्वान सयमी और आत्मसाधना के पथ के पथिक बने। इन दोनों ने सांसारिक सुख एवं वैभव का परित्याग कर आत्मकल्याण हेतु कठोर तपश्चर्या को स्वीकार किया।

प्राध्यापिका, महाराजा कालेज, छतरपुर

१४. भारतीय इतिहास की रूप रेखा—लेखक—जयचन्द्र विद्यालंकार।

यूनानी* दर्शन और जैन दर्शन

□ डा० रमेशचन्द जैन

यूनान पश्चिमों दर्शन का जन्म स्थान समझा जाता है। यहाँ थेल्स ६२४-५५५ ई० पू०) का नाम दार्शनिको की श्रेणी मे प्रथम गिना जाता है वह सर्वसम्मति से यूनानी दर्शन का पिता माना जाता है। थेल्स ने जल को सारे प्राकृत जगत् का आदि और अन्त कहा, जो कुछ विद्यमान है वह जल का विकास है और अन्त मे फिर जल मे ही विलीन हो जायगा एनेक्सिमिनीज (६११-५४७ ई० पू०) ने जल के स्थान मे वायु को जगत का आदि और अन्त कहा। उसके अनुसार सारा दृष्ट जगत् वायु के सूक्ष्म और सघन होने का परिणाम है पाइथोगोरस (छठी शती ई० पू०) ने संख्या को विश्व का मूल तत्व कहा। उसके अनुसार हम ऐसे जगत् का चिन्तन कर सकते है, जिसमे रंग, रूप न हो, परन्तु हम किसी ऐसे जगत् का चिन्तन नही कर सकते, जिसमे संख्या का अभाव हो। जैन दर्शन के अनुसार जगत् अनादि, अनन्त है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो का समुदाय जगत् है। जल तथा वायु पौद्गलिक परमाणु है जो अनेक रूपों मे परिवर्तित होते रहते है। इनमे यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु ये अपने पौद्गलिक स्वभाव को नही छोड़ते है। छहो द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव से युक्त है और अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते है।

इलिया के सम्प्रदाय (जिसमे पार्मेनाइडिस और जीनोफेनीज के नाम प्रमुख है) वालो का कहना था कि दृष्ट जगत् असत् है, आभास मात्र है। भाव और अभाव, सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु नही। सत् असत् से उत्पन्न नही हो सकता, न सत् असत् बन सकता है। जगत् का प्रवाह जो हमे दिखाई देता है, माया है, इसमे सत् या भाव का कोई अंश नही। जैन दर्शन के अनुसार दृष्ट जगत् सर्वथा असत् अथवा आभास मात्र नहीं है। यदि कार्य को सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाश के पुष्प समान न होने रूप ही है। यदि असत् का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारण का कोई नियम नही रहता और न कार्य की उत्पत्ति का कोई विश्वास ही बना रहता है।[1] गेहूं बोकर उपादान कारण के नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूं ही पैदा होंगे। असदुत्पाद के कारण उससे चने जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते है और इसलिए हम किसी भी उत्पादन कार्य के विषय मे निश्चित नही रह सकते, सारा ही लोक व्यवहार बिगड जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिक के विरुद्ध है।[2] भाव और अभाव, सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु न हो ऐसा नही है। भाव और अभाव, सत् और असत् एक ही वस्तु मे अविरोध रूप से विद्यमान है। द्रव्य स्वरूप, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से कथन किया जाने पर नास्ति है।[3] जैसे—भारत स्वदेश भी है और विदेश भी है। देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है।

पार्मेनाइडिस (५वीं शती ई० पूर्व) का कहना था कि सत् नित्य और अविभाज्य है। इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता, क्योकि परिवर्तन तो असत् का लक्षण है। जैनाचार्यों ने द्रव्य का लक्षण सत् मानते हुए भी उसे

---

* आधार ग्रन्थ।

१. यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि॥
समन्तभद्रः आप्तमीमांसा-४२

२ देवागमस्तोत्र-भाष्य (प जुगलकिशोर मुख्तार)-४२

३. तत्र द्रव्य स्वक्षेत्र, स्वकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त माना है।[4] एक जाति का अविरोध जो क्रमभावों भावों का प्रवाह उसमे पूर्वभाव का विनाश सो व्यय है, उत्तरभाव का प्रादुर्भाव उत्पाद है। और पूर्व उत्तर भावो के व्यय उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सामान्य कथन से द्रव्य से अभिन्न है और विशेष आदेश से भिन्न है, युगपद् वर्तते है और स्वभावभूत है।[5] इस प्रकार वस्तु को उत्पाद, व्यय ध्रौव्ययुक्त मान लेने पर परिवर्तन रहित नित्यवस्तु का अस्तित्व सिद्ध नही होता है। आचार्य समन्तभद्र ने कार्य कारणादि के एकत्व (अविभाज्यता) का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि कार्य-कारणादि का सर्वथा एकत्व माना जाय तो कारण तथा कार्य मे से किसी एक का अभाव हो जायगा और एक के अभाव से दूसरे का भी अभाव होगा; क्योंकि उनका परस्पर में अविनाभाव है।[6] तात्पर्य यह कि कारण कार्य की अपेक्षा रखता है। सर्वथा कार्य का अभाव होने पर कारणत्व बन नही सकता और इस तरह सर्व के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

जीनोफेनीज (४६५ ई० पू०) ने यह बताने का प्रयत्न किया कि गति का कोई अस्तित्व नहीं। जैनदर्शन मे जीव और पुद्गलों की गति मे नियामक द्रव्य धर्म को स्वीकार किया गया है। इसके लिए यहाँ आगम और अनुमान प्रमाण उपस्थित किए गए है। अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है कि जैसे अकेले मिट्टी के पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नहीं होता, उसके लिए कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक बाह्य उपकरण अपेक्षित होते है, उसी तरह पक्षी आदिकी गति और स्थितिभी अनेक बाह्य कारणो की अपेक्षा कराती है। इनमे सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण क्रमशः धर्म और अधर्म होते है। यदि यह नियम बनाया जाय कि 'जो जो पदार्थ प्रत्यक्ष से उपलब्ध न हों, उनका अभाव हैं तो सभी वादियो को स्वसिद्धान्त विरोध दोष होता है, क्योंकि प्रायः सभी वादी प्रत्यक्ष पदार्थों को स्वीकार करते ही है।[7]

हिरेक्लिटस (५३५-४७५ ई० पू०) का कहना था कि अग्नि विश्व का मूलत्व है। मूल अग्नि अपने आप को वायु में परिवर्तित करती है, वायु जल बनती है और जल पृथ्वी का रूप ग्रहण करता है। यह नीचे की ओर का मार्ग है, इसके विपरीत ऊपर की ओर का मार्ग है। इसमे पृथिवी जल में, वायु जल में, वायु अग्नि मे बदलते है। जैन दर्शन अग्नि आदि के परमाणु को वायु आदि के परमाणुओं के रूप में बदलना तो मानता है। किन्तु उनका मूल पौद्गलिक परमाणु ही है। पुद्गल विश्व के निर्माणकर्ता छः द्रव्यों मे एक है। हिरेक्लिटस के अनुसार संसार मे स्थिरता का पता नही चलता, अस्थिरता ही विद्यमान है। जो कुछ है, क्षणिक है। हिरेक्लिटस के इस क्षणभंगवाद की तुलना बौद्धो के क्षणभङ्गवाद से की जाती है। क्षणभङ्गवाद का जैन आचार्यों ने अनेक स्थानो पर खण्डन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"यदि वस्तु का स्वभाव क्षणभङ्गर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मों का फल बिना भोगे ही क्रुश हो जायगा। स्वयं नही किए हुए कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा तथा ससार का, मोक्ष का और स्मरणशक्ति का नाश हो जायगा।[8] तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी मानने पर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नही बन सकता तथा आत्मा के न मानने पर संसार नही बनता; क्योंकि क्षणिकवादियों के मत मे पूर्व और अपर क्षणो मे कोई सम्बन्ध न होने से पूर्वजन्म के कर्मों का जन्मान्तर मे फल नही मिल सकता। यदि कहो कि सन्तान का एक क्षण दूसरे क्षण से सम्बद्ध होता है। मरण के समय रहने वाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचार से सम्बद्ध होता है। इसलिए ससार की परम्परा सिद्ध होती है। यह ठीक नही; क्योंकि सन्तान क्षणो का परस्पर सम्बन्ध करने वाला कोई पदार्थ नही है; जिससे दोनों क्षणो का परस्पर

४. द्रव्य सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
पंचास्तिकाय—१०

५. वही अमृतचन्द्रचन्द्राचार्य कृत टीका पृ० २७।

६. एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः॥
देवागमस्तोत्र—६९

७. तत्त्वार्थवार्तिक ५।१७।३२।३५।

८. कृत प्रणाशाऽकृतकर्मभोगभव,
प्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो,
महासाहसिकः परस्ते॥१८॥ स्याद्वाद मंजरी

सम्बन्ध हो सके। आत्मा के न मानने पर मोक्ष भी सिद्ध नही होता; क्योंकि संसारी आत्मा का अभाव होने से मोक्ष किसको मिलेगा; क्षणभङ्गवाद में स्मृति ज्ञान भी नही बन सकता; क्योंकि एक बुद्धि से अनुभव किए हुए पदार्थों का दूसरी बुद्धि से स्मरण नही हो सकता। स्मृति के स्थान में संतान को एक अलग पदार्थ मान कर एक सन्तान का दूसरी सन्तान के साथ कार्य कारण भाव मानने पर भी सन्तानक्षणो की परस्पर भिन्नता नही मिट सकती; क्योंकि क्षणभङ्गवाद मे सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

ल्युसिप्पस (३८० ई० पू०) ने मूलतत्त्व परमाणु माना। हम इसे देख नही सकते; इसका विभाजन नही हो सकता; यह ठोस है। यह नित्य है। परमाणुओ के योग से सारे पदार्थ बनते है। इन परमाणुओ में मात्रा और आकृति का भेद है। इस भेद के कारण उनकी गति भी एक समान नही होती। सारी क्रिया इस गति का फल है। गति के लिए अवकाश की आवश्यकता है। ल्यूसिप्पस ने परमाणुओं के साथ शून्य अवकाश को भी मूलतत्त्व स्वीकार किया। पदार्थों मे और अवकाश मे भेद यह है कि पदार्थ अवकाश का भरा हुआ भाग है। इस भेद को दृष्टि मे रखते हुए विश्व अशून्य और शून्य मे विभक्त किया गया। ल्युसिप्पस ने प्राकृत जगत के समाधान के लिए किसी अप्राकृत तत्त्व या शक्ति का सहारा नही लिया। उसके मत मे जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अनुसार होता है, यहाँ किसी प्रयोजन का पता नही चलता।

जैनदर्शन मे पुद्गल के दो भेद कहे गए है - १. अणु २. स्कन्ध। जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रिया ग्रहण नही कर सकती ऐसा जो विभागरहित द्रव्य है, वह परमाणु है।[९] विश्व का मूलतत्त्व केवल परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य न होकर छह द्रव्य है। परमाणु में भी उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यपना पाया जाता है अतः वह नित्यानित्य अथवा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, सर्वथा नित्य नही है। पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश होने के कारण परमाणुओं मे मात्रा और आकृति का भेद नही होता। यह भेद उसके स्कन्ध बनने पर होता है। जीव और पुद्गलो की गति मे सहायक धर्मद्रव्य है।[१०] क्रिया काल द्रव्य का उपकार है।[११] अवगाह देना आकाश का उपकार है।[१२] यह आकाश दो प्रकार का है—१. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। जितने आकाश में लोक है, वह लोकाकाश है शेष अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाए जाते है और अलोकाकाश में केवल आकाशद्रव्य पाया जाता है।

एनैक्सेगोरस (५००-४२८ ई० पू०) का कथन है कि जगत् का मूल कारण असख्य प्रकार के परमाणुओ की असीम मात्रा है। यह सामग्री आरम्भ मे पूर्णतया अव्यवस्था विहीन थी। अब सोने, चांदी, मिट्टी, जल आदि के परमाणु एक प्रकार के है, आरम्भ मे ये सारे एक-दूसरे से मिले थे। उस समय न सोना था न मिट्टी थी। अव्यवस्थित दशा से व्यवस्था कैसे पैदा हुई? स्वयं परमाणुओ मे तो ऐसी समझ की क्रिया की योग्यता न थी, यह क्रिया चेतन सत्ता की अध्यक्षता में हुई। इस चेतन सत्ता को एनेक्सेगोरस ने बुद्धि का नाम दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि जैनदर्शन मे लोक छहों द्रव्यों से बना हुआ निरूपित है, केवल परमाणुओ से निर्मित नही है। परमाणुओं का मिलना, बिछुड़ना अनादि काल से अपने आप होता आया है। ऐसा नही है कि प्रारम्भ मे परमाणु अव्यवस्थित थे तथा अब चेतन के द्वारा व्यवस्थित हो गए है। अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।[१३] न संघात से होती है और न भेद और सघात इन दोनो से ही होती है। भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।[१४]

---

९. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेवइंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विआणाहि॥
सर्वार्थसिद्धि पृ० २२१

१०. गतिस्थिति त्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः॥ तत्त्वार्थ सूत्र ५।१७

११. वर्तमानपरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य॥ वही ५।२२

१२. आकाशस्यावगाहः॥ वही ५।१८

१३. भेदादणुः॥ वही ५।२६

१४. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः॥ वही ५।२८

प्रोटेगोरस (४२०-४११ ई० पू०) ने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान को नहीं माना। प्रोटेगोरस का यह कथन चार्वाक दर्शन से मिलता-जुलता है; क्योंकि चार्वाक ने भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का प्रमाण नहीं माना। इसके खण्डन स्वरूप जैनदार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के उस कथन को प्रायः उद्धृत किया है। जो उन्होंने अनुमान प्रमाण की सिद्धि के प्रसङ्ग मे कहा है तदनुसार 'किसी ज्ञान मे प्रमाणता और किसी ज्ञान से अप्रमाणता की व्यवस्था होने से, दूसरे (शिष्यादि) मे बुद्धि का अवगम करने से और किसी पदार्थ का निषेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। प्रमाणता-अप्रमाणता का निर्णय स्वभाव-हेतु जनित अनुमान से, कार्य से कारण का ज्ञान कार्य हेतु जनित अनुमान से और अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु जनित अनुमान से किया जाता है। इस प्रकार प्रोटेगोरस का केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता है।

जार्जियस (४२७ ई० पू०) ने निम्न तीन धाराओ को सिद्ध करने का यत्न किया—

१ किसी वस्तु की भी सत्ता नही।

२. यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसका ज्ञान हमारी पहुच के बाहर है।

३ यदि ऐसे ज्ञान की सम्भावना है तो कोई मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुचा नही सकता।

जैनदर्शन के अनुसार सत्ता सब पदार्थों मे है। वस्तु कोसत्ता को प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जाता है कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुंचाने मे निमित्त हो सकता है।

पश्चिम मे सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) लक्षण और आगमन दोनों का जन्मदाता है, इसलिए उसका स्थान चोटी के दार्शनिको मे है। उसके अनुसार ज्ञान के कई स्तर है। मैं घोड़े को देखता हूँ—उसका कद विशेष कद है। उसका रंग विशेष रग है। उसकी विशेषताओ के कारण मैं उसे अन्य घोड़ों से अलग करता हू। मेरा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है और यह ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का बोध है। जिस घोड़े को मैंने देखा है, उसके न विद्यमान होने पर भी उसका चित्र मेरी मानसिक दृष्टि मे आ जाता है। किसी विशेष घोडे को देखने या उसका मानसिक चित्र बनाने के अतिरिक्त मेरे लिए यह भी सम्भव है कि मैं घोड़े का चिन्तन करूं। ऐसे चिन्तन में मैं किसी विशेष रंग का ध्यान नही करता, क्योंकि यह रग सभी घोड़ों का रग नहीं। मैं ऐसे विशेषणों का ध्यान करता हूं जो सभी घोड़ों मे पाए जाते है और सबके सब किसी अन्य पशु जाति मे नही मिलते। ऐसे चिन्तन का उद्देश्य घोड़े का प्रत्यय निश्चित करना है। ऐसे प्रत्यय को शब्द मे व्यक्त करना घोड़े का लक्षण करना है।

जैनदर्शन मे पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य विशेष रूप माने गए है, उनमे सामान्य और विशेष की प्रतीति कराने के लिए पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नही।[15] आत्मा पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूप से ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थों की बिना सहायता के ही सामान्य विशेष रूप होते है। एकाएक और एक नाम से कही जाने वाली प्रतीति को अनुवृति अथवा सामान्य कहते है। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग रहने वाली प्रतीति को व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते है। इसी सामान्य तथा विशेष की व्याख्या सुकरात ने उदाहरण देकर की है।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) के मतानुसार प्रत्ययों का जगत अमानवीय जगत है; इसकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। दृष्ट पदार्थ इसकी नकल है। कोई त्रिकोण जिसकी हम रचना करते है, त्रिकोण के प्रत्यय की पूर्ण नकल नही। हर एक विशेष पदार्थ मे कोई न कोई अपूर्णता होती ही है। इसी अपूर्णता का भेद विशेष पदार्थों को एक दूसरे से भिन्न करता है। सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की अपूर्ण नकलें है। सारे मनुष्य मनुष्य के प्रत्यय की अधूरी नकलें है कोई प्रत्यय पदार्थों पर आधारित नही, प्रत्यय तो उनकी रचना का आधार है। प्रत्यय और उसकी नकलो का भेद सामान्य और विशेष के रूप में

१५. स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादयात्मतत्त्वाद् द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ आचार्य हेमचन्द्रः अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका-४

पीछे प्रसिद्ध हुआ। प्रत्यय और आदर्श एक ही है।

जैनदर्शन उपर्युक्त प्रत्ययों एव उसकी नकलों की मान्यता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार दृष्ट पदार्थ किसी प्रत्यय की नकल नही, वास्तविक है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थों को जानता है। ज्ञान मे झलकने के कारण ही पदार्थ ज्ञेय नाम को पाते हैं। सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की उपलब्धि किसी को नही होती। यदि दोनो की निरपेक्ष स्थिति मान ली जाय तो दोनों का ही अभाव हो जायगा। कहा भी है—

"विशेष रहित सामान्य खरविषाण की तरह है और सामान्यरहित होने से विशेष भी वैसा ही है।"[१६]

वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवाद मे ही ठीक-ठीक घटित हो सकता है। गो के कहने पर जिस प्रकार खुर, ककुत्, सास्ना, पूंछ, सीग आदि अवयवो वाले गो पदार्थ का स्वरूप सभी गो व्यक्तियों में पाया जाता है, उसी प्रकार भैस आदि की व्यावृत्ति भी प्रतीत होती है।[१७] अतएव एकान्त सामान्य को न मान कर पदार्थों को सामान्य विशेष रूप ही मानना चाहिए। प्लेटो ने ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किए। सबसे निचले स्तर पर विशेष पदार्थों का इन्द्रियजन्य ज्ञान है। ऐसे ज्ञान में सामान्यता का अश नही होता जो पदार्थ मुझे हरा दिखाई देता है और तीसरे को रगविहीन दिखाई देता है। पदार्थों के रूप, उनके परिमाण आदि के विषय मे ऐसा ही भेद होता है। प्लेटो के अनुसार एसा बोध ज्ञान कहलाने का पात्र ही नहीं; इसका पद व्यक्ति की सम्मति का है। इससे ऊपर के स्तर का ज्ञान रेखागणित मे दिखाई देता है। हम एक त्रिकोण की हालत में सिद्ध करते हैं कि उसकी कोई दो भुजायें तीसरी से बड़ी है और कहते हैं कि यह सभी त्रिकोणों के विषय में सत्य है। गणित के प्रमाणित सत्यों से भी ऊँचा स्तर तत्त्वज्ञान का है जिसमे सत् को साक्षात् देखते हैं, तत्त्वज्ञान ही वास्तव मे ज्ञान कहलाने के योग्य हैं।

जैनदर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद माने गए हैं—१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह साव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। यह यथार्थ रूप में परोक्ष ज्ञान ही है; क्योंकि इसमे इन्द्रिय और मन के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो जानकारी होती है, वह पूरी तरह से यथार्थ हो, ऐसा नही है। काच, कामला आदि रोग के कारण किसी को रंग के विषय मे भ्रान्ति हो जाय तो इसका अर्थ यह नही है कि सारे ऐन्द्रियक ज्ञान भ्रान्त है। यदि सारे ऐन्द्रियिक ज्ञान को भ्रान्त माना जाय तो लोक व्यवहार का ही लोप हो जायगा। प्लेटो के ज्ञान के प्रथम दो स्तरो का समावेश साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मे हो जाता है। जैनदर्शन मे इसे ज्ञान की श्रेणी में रखा गया है। तत्त्वज्ञान इस ज्ञान से ऊँचा अवश्य है, क्योंकि इसमें युगपत् अथवा अयुगपत् सारे पदार्थों का ज्ञान होता है। केवल केवली भगवान ही युगपत् सारे पदार्थों को जानते है, अन्य ससारी प्राणियों मे से जिन्हें तत्त्वज्ञान होता है वे अयुगपत् ही पदार्थों को जानते है। तत्त्वज्ञानी जैसा सत् को देखता है, उसी प्रकार असत् को भी देखता है; क्योंकि वस्तु केवल भावरूप नही, अभावरूप भी है।

प्लेटो के विचार में सृष्टि रचना एक स्रष्टा की क्रिया है। स्रष्टा प्रकृति को प्रत्ययों का रूप देता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयसिद्ध है। कोई सर्वदृष्टा सदा से कर्मों से अछूता नही हो सकता; क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना किसी तरह नही बनता।[१८]

प्लेटो का प्रत्यय विशेष पदार्थों के बाहर था। अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) का तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के अन्दर है। सभी घोड़े घोड़ा श्रेणी में हैं; क्योंकि उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ सामान्य अश भी विद्यमान है। यह सामान्य अश भी उस सामान्य अंश से भिन्न है, जो सारे गदहों में पाया जाता है और उन्हें

१६ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।
सामान्य रहित त्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥
मीमांसा श्लोकवार्तिक

१७. मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी पृ० १२४।

१८. नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः॥८॥
आप्तपरीक्षा

गवहा बनाता है। अरस्तू ने भी प्लेटो के द्वैत को कायम रखा। परन्तु दोनो अंशो के अन्तर को दूर कर दिया, पदार्थों का तत्व न बदलने वाला अंश, उनसे पृथक्, उनके बाहर नही; उनके अन्दर है। अरस्तू के सामान्य विशेष की यह अवधारणा जैनसिद्धान्त से मिलती-जुलती है। अरस्तू मूल प्रकृति को आकार विहीन मानता था। जैनदर्शन किसी एक द्रव्य को मूल प्रकृति नही मानता ! उसके अनुसार पुद्गल द्रव्य ही केवल मूर्ति है, शेष द्रव्य अमूर्तिक है। अरस्तू के विवरण मे चार प्रकार के कारणों का वर्णन है—

१. उपादान कारण।
२. निमित्त कारण।
३. आकारात्मक कारण।
४. लक्ष्यात्मक कारण।

जैनदर्शन में केवल दो कारण माने गए हैं १. उपादान कारण २. लक्ष्यात्मक कारण।

एपिक्युरस (३४२-२७० ई० पू०) ने लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का निश्चय किया, इसके लिए उसने डिमाक्राइटस के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उसने कहा कि दृष्ट जगत् परमाणुओ से बना है; इसके बनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नही। देवी-देवता तो आप परमाणुओं से बने है; यद्यपि उसकी बनावट के परमाणु अग्नि के सूक्ष्म परमाणु है। जीवात्मा भी ऐसे परमाणुओ का संघात है। मृत्यु होने पर स्थूल परमाणु वातावरण मे जा मिलते है। इस जीवन के बाद कुछ रहता नही; नरक के दण्डों की बाबत कहना और सोचना व्यर्थ है।

जैनदर्शन भी लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त होने का मार्ग बतलाता है, किन्तु उसके अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है।[19] जगत् छः द्रव्यों की निर्मित है। इसके बनाने में किसी (अकेली) चेतनशक्ति का हाथ नही है। देवी देवता का शरीर पौद्गलिक है, उनके पौद्गलिक शरीर में एक क्षेत्रावगाही आत्मा है। ये आत्मायें भिन्न-भिन्न शरीर मे भिन्न-भिन्न है। जीवात्मा परमाणुओं का संघात न होकर उपयोग लक्षण वाला अमूर्त द्रव्य है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर का ही त्याग हो जाता है। तैजस तथा कार्मण शरीर मृत्यु के बाद भी जीव का साथ नहीं छोड़ते हैं। जीव का अस्तित्व अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा; वह केवल इसी जीवन के लिए नही है। नरकों का अस्तित्व है, उनके दण्डों के विषय में कहना और सोचना व्यर्थ नही है।

एपिक्युरस का यह मत जैनदर्शन से मिलता है कि ससार मे जो कुछ हो रहा है। प्राकृत नियम के अधीन हो रहा है। इसमे किसी चेतन सत्ता का प्रयोजन दिखाई नही देता। मनुष्य स्वाधीनता के उचित प्रयोग से अपने आपको सुखी बना सकता है। एपिक्युरस ने आरम्भ मे क्षणिक तृप्ति को भले ही महत्त्व दिया हो, तो भी पीछे उसने दुःख की निवृत्ति को ही आदर्श समझा। किसी प्रकार की स्थिति मे विचलित न होना, हर हालत में सन्तुलन बनाए रखना भले पुरुष का चिह्न है। दार्शनिक का काम ऐसा स्वभाव बनाना और दूसरो को ऐसा स्वभाव बनाने मे सहायता देना है। जैनदर्शन मे भी धर्म उसे ही कहा गया है, जो प्राणियों को संसार के दुःख से छुड़ा कर उत्तम सुख मे पहुचा दे।[20] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के साम्यपरिणाम अथवा चारित्र को धर्म कहा है।[21] एपिक्युरस का विचार था कि अपनी आवश्यकताओं को कम करो, इससे मन को शान्ति प्राप्त होगी। जैनदर्शन का अपरिग्रहवाद भी यही है। एपिक्युरस सुखी जीवन के लिए सादगी, बुद्धिमत्ता और न्याय के साथ मित्रता को आवश्यक समझता था। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखना जैनों का भी मूल मन्त्र है।

एपिक्युरस ने कहा था कि कोई घटना अपने आपमें अच्छी या बुरी नही। हमारी सम्मति उन्हें अच्छा, बुरा

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

१९. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १।१

२०. देशयामि समीचीन धर्मम् कर्म निबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

२१. चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
प्रवचनसार

हिन्दी साहित्य में नेमी-राजुल

☐ डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

हिन्दी के जैन कवियों के अपने काव्यो की विषय-वस्तु प्रमुख रूप से महापुराण, पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण के प्रमुख पात्रों का जीवन रही है। इनमे ६३ शलाका महापुरुषों के अतिरिक्त १६६ पुण्य पुरुषों के जीवन चरित भी जैन काव्यों की विषय-वस्तु के प्रमुख स्रोत रहे हैं। राजुल, मैना सुन्दरी, सीता, अजना, पवनजय, श्रीपाल, भविष्यदत्त, प्रद्युम्न, जिनदत्त, सुदर्शन सेठ आदि सभी पुण्य पुरुष है जिनके जीवन चरित के श्रवण एव पठन मात्र से ही अपार पुण्य की प्राप्ति होती है और वही पुरुष भविष्य मे निर्वाण पथ के पथिक बनने मे सहायक होता है। हिन्दी के ये काव्य केवल प्रबन्ध काव्य अथवा खण्ड काव्य रूप मे ही नही मिलते है लेकिन रास, बेलि, पुराण, छन्द, चौपाई, चरित, ब्याहलो, गीत, धमाल, हिण्डोलना, सतसई, बारहमासा, संवाद, जखडी, पच्चीसी, बत्तीसी, सवैय्या आदि पचासों रूपों मे ये काव्य लिखे गये है जो आज अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण विषय बने हुए है।

लेकिन शलाका पुरुषों एव पुण्य पुरुषो के जीवन सम्बन्धी कृतियों मे राजुलनेमि के जीवन से सम्बन्धित कृतियों की सबसे अधिक सख्या है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन के तोरणद्वार से लौट कर वैराग्य धारण करने की एक मात्र घटना से सारा हिन्दी जैन साहित्य प्रभावित है। उसी घटना को जैन कवियो ने विविध रूपों में निबद्ध किया है। नेमिनाथ के साथ राजुल भी चलती है क्योकि राजुल के परित्याग की घटना को जैन कवियों ने बहुत उछाला है और अपने पाठको के लिये शृंगार, विरह एवं वैराग्य प्रधान सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है। एक ओर जहाँ बारहमासा काव्यो की सर्जना करके पाठकों को विरह वेदना मे डुबोया है वहाँ दूसरी ओर तोरणद्वार तक जाने के पूर्व का वृत्तान्त शृंगार रस से ओत-प्रोत होता है और वह पाठक के हृदय को खिला देता है और जब वैराग्य धारण करने का प्रकरण चलता है तो सारा काव्य शान्त रस प्रधान होकर हृदय को द्रवीभूत कर देता है। प्रस्तुत शोधपत्र मे हम ऐसे ही काव्यों का उल्लेख कर रहे है जो काव्य के विविध रूपो मे लिखे हुए है तथा जिनकी कथावस्तु नेमिराजुल का जीवन है।

सुमतिगणिनेमिनाथ रास सभवतः हिन्दी म नेमि राजुल सबधित प्रथम रचना है जिसका रचना काल संवत् १२७० है और जिसकी एक मात्र पाण्डुलिपि जैसलमेर के बृहद ज्ञान भण्डार मे उपलब्ध होती है। इस रास मे तोरणद्वार की घटना का प्रमुखता मे वर्णन किया गया है।

१६वी शताब्दी के कवि बूचराज द्वारा नेमि-राजुल के जीवन पर दो रचनाये निबद्ध करना उस समय जन-सामान्य मे राजुलनेमि के जीवन की लोकप्रियता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है। बूचराज की एक कृति का नाम बारहमासा है जिसमें सावन मास मे अषाढ मास तक के बारह महीनो के एक एक पद्य मे राजुल की विरह वेदना एव नेमिनाथ के तपस्वी जीवन पर राजुल का आक्रोश व्यक्त किया गया है। बारहमासा में राजुल के मनोगत भावो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह पाठकों को प्रभावित किये बिना नही रहते। कवि के प्रत्येक रास मे व्यथा छिपी हुई है और जब वह परिणय की आशा लगाये नव यौवन राजुल के विरह पर सजीव चित्र उपस्थित करता है तो हृदय फूट-फूट कर रोने लगता है। राजुल को प्रत्येक महीने मे भिन्न-भिन्न रूप में विरह वेदना सताती है और वह उस वेदना को सहन करने में अपने आपको असमर्थ पाती है। जैन कवियों ने बारहमासा के माध्यम से इस विरह का बहुत सुन्दर एव

सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। समूचे हिन्दी साहित्य मे इस तरह का बेजोड़ वर्णन अत्यन्त कम मिलता है। बारह-मासा के प्रमुख कवियो में निम्न कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

१. विनोदी लाल २. गग कवि ३. चिमन
४. जीवंधर ५ रवि ६. आनंद
७. पाडे जीवन ८. गोपाल दास ९ लब्धि वर्धन

उक्त सभी कवियो ने राजुलनेमि को लेकर बारह मासा लिखे है जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी कवियो ने अपने बारहमासा को सावन मास से प्रारम्भ किया है। कवि लब्धि वर्धन का सावन मास का एक पद्य देखिए जिसमे राजुल सावन मास मे उत्पन्न बिरह पीडा को व्यक्त कर रही है—

> अकटा विकटा निकटा गिरजे गरजे,
> धनघोर घटा घन की।
> **सुजुरि पजुरी बिजुरी चमके,**
> **अधियारि निसा अति सावन की ॥**
> **पीउ पीउ कहे पिपीया ज वहइ,**
> **कोउ पीर लहे परके मन की।**
> **ऐसे नेमी पियाहो मिलाइ वियइ,**
> **बलि जाऊ सखि जगिवा जन की ॥१॥**

कविवर गोपालदास ने तो सावन महीने के विरह का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि पाठक के मन में राजुल के प्रति सहज स्नेह उत्पन्न हो जाता है। एक उदाहरण देखिये—

> **फेर ल्यावो नेमि कुमार को, कहै राजुल राणी।**
> **हाथ का देऊ मूंदड़ा अर कुंडल कानी ॥१॥**
> **क्यों आये क्यों फिर गये क्यों ब्याह न कीना।**
> **क्यों छोड़ी मृग लोचनी राजा को धीया ॥२॥**
> **कांकण बांध्या कर रह्या, रही चवरी छाइ।**
> **मेरा जिनवर रीझ्या मुगति सो मै अब सुध पाइ ॥**
> **मेरी अरंगडीया अल लाईया, भावों की नाईं।**
> **तो न न संभारे मुझको जियड़ा बुझ मांइ।**
> **बाबल मेरे क्या कीया, वर देख न दीया।**
> **वह बैरागी जनम का, क्या परणो भिया ॥५॥**
> **काको पठउ द्वारिका, कोई आइ सुनावै।**
> **काकण भुजते टारि देऊ, इतनो कहि आवै ॥६॥**

किसी किसी कवि ने तो राजुल और नेमिनाथ के बीच उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे बारहमासा लिखा है। बारह महीने तक बहुत कुछ समझाने पर भी जब नेमि को नहीं पिघला सकी तो राजुल ने आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। पाण्डे जीवन का बारहमासा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। राजुल नेमि से कहती है—

> **असाढ़ मास सुहावनों, कुछ बरसे कुछ नाहि।**
> **नेम पिया घर आइये, क्यूं तुम लोग हसाहि ॥**
> **आयो ज मास असाढ़ प्रीतम पहलो व्रत तुम नहि लियो।**
> **छपन कोडि ज भये जनेती, दुष्ट जन कंपो हियो।**
> **बलभद्र और मुरारि संग ले, बहुत सब सरभर करे।**
> **गिरनार गढ़ से चलो नेम जी, राजमति चितवन करे ॥५॥**

नेमि द्वारा उत्तर—

> **आवो मास असाढ़ ही, मन नही उलसहि।**
> **मुकति रमण हित कारणे, छाड़े सब घर तोहि ॥६॥**
> **जीवन तो निस सुपन जानौं, कहा बड़ाई कीजिये।**
> **ए बंधु भगनी मात पिता हो, सरब स्वारथ लीजिये ॥**
> **यहि बात हम सब त्याग दीनो, मोक्ष मारग पगधरो।**
> **कह नेमनाथ सुनो राजुल, चित्त अब तुम बस करो ॥**

नेमि राजुल पर बारहमासा साहित्य के अतिरिक्त सबसे अधिक सख्या मे रास काव्य मिलते है जिनके रचयिता भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, ब्र० रायमल्ल, विद्याभूषण, अभयचन्द्र, आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन रास काव्यों मे नेमिनाथ का पूरा जीवन चित्रित किया गया है। इनमें भी तोरणद्वार से लौटकर वैराग्य धारण करने की घटना का और राजुल के मूर्छित होने की घटनाओं का वर्णन होता है लेकिन उनमे राजुल का एक पक्षीय वर्णन नही होता। रासों की समाप्ति नेमिनाथ के निर्वाण एव राजुल के स्वर्ग गमन के साथ होती है। रास काव्यों मे नेमिनाथ के साथ दूसरे महापुरुषों का भी वर्णन आता है।

रास काव्यों के समान ही नेमि राजमति बेलि-परक रचनायें भी जैन कवियो ने खूब लिखी है। ऐसी रचनाओं

में कविवर ठाकुरसी एवं सिंघदास की नेमि राजमति बेलि, के नाम उल्लेखनीय है। कविवर ठाकुरसी ने अपनी बेलि मे नेमिनाथ और राजुल के विवाह प्रसंग से लेकर वैराग्य धारण करने और अन्त में निर्वाण प्राप्त करने तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसमें नेमिकुमार का पौरुष, विवाह के लिये प्रस्थान, पशुओं की पुकार, राजुल का सौन्दर्य वर्णन, राजुल का विलाप आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी प्रसग मे राजुल द्वारा दूसरे राजकुमार से विवाह करने के प्रस्ताव का दृढ़ता के साथ विरोध किया गया। कवि के शब्दों में उसे देखिए—

जंपइ रायमतीय अणेरा, जिण जिणवर बंधन मेरा।
को बरउ नेमिबर भारी, सखि के तपु लेउ कुमारी।
चढ़ि गैवरि को खरि बैसे, तजि सरगि नरगि को पैसे।
तजि तीनि भवन को राई, किम अवरनु बरो बस भाई।।

हिन्दी जैन कवियों मे पद साहित्य मे भी नेमि राजुल के सम्बन्ध में अनेक पद लिखे हैं। ये पद शृंगार, विरह एवं भक्ति सभी तरह के हैं। सबसे अधिक विरहात्मक पद भ० रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र ने लिखे हैं। इन दोनों कवियों के पदो से ऐसा मालूम देता है मानो इन्होंने राजुल के हृदय को अच्छी तरह पढ़ लिया हो और उनके पदों से उसकी अन्तरात्मा की आवाज ही सुनाई देती है। रत्नकीर्ति राजुल की तड़पन से बहुत परिचित थे। राजुल किसी भी बहाने नेमि के दर्शन करना तो चाहती है। लेकिन वह यह भी चाहती थी कि उसकी आंखे नेमि के आगमन को प्रतीक्षा न करें, लेकिन वे लाख मना करने पर भी नेमि के आगमन की बाट जोहना नही छोड़ते। रत्नकीर्ति कहते हैं—

बरज्यो न माने नैन निठोर।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन।
उमंगी चले मति फोर।।१।।
चंचल चपल रहत नहीं रोके।
न मानत जु निहोर।।
नित उठि चाहत गिरि को मारग।
जे ही बिधि चन्द्र चकोर।।बरज्यो०।।

तन मन धन यौवन नही भावत।
रजनी न भावत भोर।।
रत्नकीर्ति प्रभु बेगो मिलो।
तुम मेरे मन के चोर।।बरज्यो०।।

एक अन्य पद में राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओं की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यों नही सुनी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वे दूसरों के दर्द को जानते ही नही हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर।।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर।।१।।
नेमि मुख निरखी हरखी मनसूं, अबतो होइ मनधीर।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर।।२।।
चंदवदनी पोकारती डारती, मंडनहार उर चीर।
रतनकीरति प्रभू भये विरागी, राजुल चित कियो धीर।।३।।

इसी तरह एक अन्य पद में राजुल अपनी सखियों से नेमि के लिवाने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चंदन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते हैं। माता, पिता, सखियाँ एव रात्रि सभी दुख उत्पन्न करने वाली है। इन्ही भावो को रत्नकीर्ति के एक पद मे देखिये—

सखि को मिलावे नेम नरिंदा।
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चंदा।।१।।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दुख को कंदा।।२।।
तुम तो शंकर सुख के दाता, करम अति काए मंदा।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिंदा।।३।।

लेकिन कवि जब राजुल की सुन्दरता का वर्णन करने लगता है तो वह उसमें भी किसी से पीछे नही रहना चाहता।

चन्द्रवदनी मृग लोचनी, मोचनी खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधुकर दीन।
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर।
अधर विद्रुम सम उपमा, दंतन निर्मल नीर।
चिबुक कमल पर षटपद, आनन्द करे सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कंबु कपोतने बान।।१२।।

भट्टारक कुमुदचन्द ने भी राजलनेमि पर पद लिखे हैं। एक पद में उन्होंने नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार लिखी है। नेमि के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नींद नहीं आती और बार-बार उठ कर वह घर का आंगन देखती और नेमि के विरह मे विलाप करने लगती है। इसी पद की दोपंक्तिया देखिये—

सखी री अब तो रह्यो नहिं जात।
प्राणनाथ की प्रीत न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात।।१।।
नहिं न भूख नहिं तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं, सेवन ही सुरझात।।२।।

नेमिराजुल से सम्बन्धित नेमिनाथ के दशभव, नेमिनाथ के बारहभव, नेमिजी को मंगल (जगत भूषण), नेमिनाथ छन्द (शुभचन्द्र), नेमिनाथ फाग (पुण्य रतन), नेमिनाथ मगल (लालचन्द), नेमि व्याहलो, नेमि राजमति, चोमासिया, नेमिराजमति की घोड़ी, नेमि राजुल सज्झाय, नेमिराजमति शतक, आदि कवियों की काव्य रचना।ये राजस्थान के विभिन्न जैन ग्रंथागारों में संरक्षित हैं।

इस प्रकार, नेमि राजुल का जीवन जैन कवियों के लिये आकर्षण का विषय रहा है। यद्यपि अधिकांश जैन साहित्य निवृत्ति प्रधान साहित्य है जिसमें शांत रस की प्रमुखता है लेकिन नेमि राजुल के माध्यम से वे अपनी रचनाओं को शृंगार प्रधान, विरह परक एवं भक्ति परक भी बना सके हैं। एक बात और भी है कि हमारे हिन्दी कवि भ० रतनकीर्ति एवं भ० कुमुदचन्द्र ऐसे समय में हुए थे जब चारों ओर भक्ति एवं शृंगार का वातावरण था। इसलिये इन्होंने भी राजुल को अपना आधार बना कर छोटी छोटी रचनायें निबद्ध करके हिन्दी जैन साहित्य के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाया।

नेमि राजुल से सम्बन्धित हिन्दी काव्यों पर शोध होना आवश्यक है। आशा है कि शोधार्थी इस ओर ध्यान देंगे।

□□□

(पृ० २९ का शेषांश)

बनाती है। क्या किसी पुरुष ने मेरा अपमान किया है? यह तो मेरे समझने की बात है। यदि मैं समझूं कि अपमान हुआ है तो हुआ है, यदि समझूं कि नहीं हुआ तो नहीं हुआ। मेरी घड़ी किसी ने उठा ली है। क्या इससे मेरी हानि हुई है? यह भी समझने का प्रश्न है।यदि मै समझ लूं कि मुझे घड़ी की आवश्यकता ही नही तो जो कुछ मैंने खोया है, उसकी कोई कीमत ही नहीं। हानि कहाँ हुई है? तुम स्वाधीन हो; अपनी स्वाधीनता का उचित प्रयोग करके विश्वास करो कि तुम्हारे लिए कोई घटना अभद्र नही हो सकती। एपिक्युरस जैसी ही भावना जैनधर्म मे प्राप्त होती है। कविवर बनारसीदास जी ने कहाहै—

स्वारथ के साँचे परमारथ के साँचे चित्त।
साँचे साँचे बैन कहैं साँचे जैनमती हैं।।
काहू के विरुद्ध नाहिं परजायबुद्धि नाहिं।
आतम गवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।
ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रकट सदा।
अन्तर की लच्छी सौं अजाची लच्छपती हैं।।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सों।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।।
नाटक समयसार

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यूनान के दार्शनिकों की जो समस्यायें और अपूर्णतायें थीं, उनका समुचित समाधान जैनदर्शन मे प्राप्त होता है; क्योंकि जैनदर्शन का आधार सर्वज्ञ की वाणी है। उसका अनेकान्तवाद प्रत्येक ऐकान्तिक पहलू के सामने आने वाली कठिनाई को दूर करने में समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है—

□□□

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २६-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० २-३ अप्रैल-सितम्बर १९८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त प्रेमियों से :

अनेकान्त पत्र का जन्म वी० नि० सं० २४५६ के मार्गशीर्ष मास में हुआ और इसने पाठकों को शोध-सम्बन्धी विविध सामग्री दी और आचार एवं व्यवहार सम्बन्धी अनेकों आयामों को प्रस्तुत किया। स्वामी समन्तभद्र जैसे उद्भट अनेकों आचार्यों के साहित्य के मर्म को उजागर किया। फलतः यह सभी का स्नेहपात्र बना रहा। यद्यपि बीच के काल में इसे अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा—कभी आर्थिक संकट और कभी लेखकों की उदासीनता। तथापि इसने समाज को जैन साहित्य और तत्त्व-ज्ञान से परिचित कराने एवं जनता के आचार को ऊँचा उठाने के उद्देश्य के ख्याल से, अपने कार्य क्षेत्र को नही छोड़ा। इस सहयोग में जिन सम्पादकों, लेखकों और पाठकों आदि ने जो रुचि दिखाई उसके लिए हम उनके चिर-ऋणी रहेंगे।

'अनेकान्त' पत्र के उद्देश्यों में मुख्य है—'जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन व जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का सुदृढ़ प्रयत्न करना।' 'अनेकान्त' की नीति में सर्वथा एकान्तवाद को—निरपेक्षनयवाद को अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुचित पक्षपात को स्थान नही होगा। इसकी नीति सदा उदार और भाषा-शिष्ट, सौम्य तथा गम्भीर रहेगी।' हमारा निवेदन है कि उदार लेखक अपने लेखों, पाठक अपनी अनेकान्त-पठन रुचि और उदारमना-दाता द्रव्य द्वारा पत्र की संभाल करते रहें—पत्र सभी का स्वागत करेगा।

वर्तमान में ग्राहक संख्या नगण्य है। यदि ग्राहक संख्या में वृद्धि हो जाय, और १०१) देकर पर्याप्त संख्या में आजीवन सदस्य बन जायँ तो इसकी चिन्ता सहज ही दूर हो जाय। इस महर्घता के समय में भी पत्र शुल्क केवल ६) वार्षिक ही है।

आशा है लेखकगण अपने लेख और ग्राहक व दाता अपने द्रव्य द्वारा सहायता करने में उद्यमी होंगे। धन्यवाद !

सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण २-३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अप्रैल-सितम्बर १९८१
वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० सं० २०३७

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'

भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नही बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधो का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।

□□□

सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएं

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन,

जैन परम्परा के मध्यकालीन धर्म कथा साहित्य में 'सम्यक्त्व कौमुदी' एक पर्याप्त लोकप्रिय रचना रही है। हमारे अपने संग्रह मे इस नाम की एक पुस्तक है जो हिन्दी जैनसाहित्य प्रसारक कार्यालय बबई द्वारा वी० नि० स० २४४१ अर्थात् २० अगस्त १९१५ ई० मे प्रकाशित हुई थी, पुस्तक के सम्पादक थे प० उदयलाल काशलीवाल और हिन्दी अनुवाद के कर्ता थे पं० तुलसीराम काव्यतीर्थ, जो संभवतया वही वाणीभूषण प० तुलसीराम थे जो बाद मे दि० जैन हाईस्कूल बड़ौत मे धर्माध्यापक रहे थे। पुस्तक मे सम्पादक का कोई वक्तव्य नहीं है और अनुवादक की जो डेढ पृष्ठीय प्रस्तावना है उसमे भी ग्रथ प्रतियों, कर्ता के नाम-स्थान-समयादि का कहीं कोई संकेत नही है। पुस्तक के प्रारम्भ के १४८ पृष्ठो मे सरल चालू भाषा मे प्रवाह पूर्ण अनुवाद है। तदनन्तर ११० पृष्ठो मे मूल संस्कृत रचना प्रकाशित है। इसी पुस्तक का पुनः प्रकाशन प० नाथूराम प्रेमी ने अपने जैन ग्रथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से सन् १९२८ मे किया था।[1] इस मूल संस्कृत 'सम्यक्त्व कौमुदी' मे प्रारम्भ के तीन मगल श्लोको को छोड़कर प्रायः शेष सम्पूर्ण भाग अति सरल सुबोध गद्य में रचित है। किन्तु पग-पग पर उक्तं च, तथाच, तथाचोक्तं, यथा आदि कहकर पूर्ववर्ती जैनाजैन विविध साहित्य से प्रसंगोपयुक्त सुभाषित नीतिवचन, सूक्तियां आदि उद्धृत की गई है, जिनकी सख्या लगभग २७० है और जो रचना का कुछ कम प्रायः आधा भाग घेरे हुए है। इस प्रकार यह रचना पंचतंत्र, हितोपदेश आदि की शैली की एक उत्तम रोचक एव शिक्षाप्रद नीतिकथा बन गई है।

प्रथम मगल श्लोक के द्वितीयचरण 'वक्ष्येह कौमुदी नृणां सम्यक्त्वगुणहेतवे' और ग्रन्थात मे प्रयुक्त वाक्य 'इमा सम्यक्त्वकौमुदीकथा पुण्या भो भव्याः दृढतर सम्यक्त्व धार्यताम्' से स्पष्ट है कि विद्वान लेखक ने मनुष्यों को सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति हो अथवा इसे सुनकर भव्यजनों का सम्यक्त्व दृढतर हो, इस उद्देश्य से इस सम्यक्त्व कौमुदी अथवा सम्यक्त्व कौमुदी कथा का प्रणयन किया था। यतः यह सम्यक्त्वपोषक कथा शारदीय कौमुदी महोत्सव वाली रात्रि मे घटित घटनाओ का वर्णन करती है, इसलिए भी इसका सम्यक्त्वकौमुदी कथा नाम सार्थक है। रचना में कही कोई आद्य या अन्त्य प्रशस्ति, पुष्पिका अथवा सन्धि-वाक्य भी नही है और लेखक अपने नाम, स्थान, समय, परम्परा आदि की कही भी कोई सकेत सूचना नही करता है। वह यह भी कोई सकेत नही करता कि यह रचना किसी पूर्ववर्ती रचना पर आधारित या उससे प्रेरित है। पूरी रचना को पढ़ जाने से यही प्रतीत होता है कि यह इस नाम की प्रथम रचना है, और लेखक की मौलिक कृति है। लेखक अध्ययनशील, विचाररसिक, चयनपटु, धर्म मर्मज्ञ एव उदाराशय कवि व साहित्यकार है। किसी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोह, पक्ष, आक्षेप आदि से भी वह दूर है, तथापि पूरी रचना से और विशेषकर मंगलाचरण एवं ग्रन्थ की उत्थानिका की पारम्परिक शैली से यह सर्वथा स्पष्ट है कि वह दिगम्बर आम्नाय का अनुयायी था।

सर्वप्रथम लेखक जिनदेव जगत्प्रभु श्री वर्द्धमान को, गौतम गणेश को, सर्वज्ञ के मुख से निकली मा भारती (सरस्वती या जिनवाणी) को और गुरुओं को, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु को नमस्कार करके मनुष्यो को सम्यक्त्व गुण लाभ हो इस हेतु से प्रस्तुत कौमुदी का प्रणयन करने की प्रतिज्ञा करता है। तदनन्तर राजगृह नगर के विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री वर्द्धमान स्वामी के समवसरण के आगमन की सूचना बनमाली से प्राप्त कर महामण्डलेश्वर श्रेणिक परिजन-पुरजन सहित वहां जाता है, पूजा-स्तुति आदि करता है और अवसर पाकर गौतम

स्वामी से सम्यक्त्वकौमुदी कथा सुनाने की प्रार्थना करता है। भगवान गौतम कहते हैं—मथुरा नगर मे उदितोदय नाम का राजा राज्य करता था: उसके मंत्री का नाम सुबुद्धि था। राजश्रेष्ठी अर्हद्दत्त बड़ा धार्मिक था और अपनी आठ पत्नियों के साथ सुख से रहता था। इसी नगर मे अंजनगुटिकासिद्ध चोर सुवर्णखुर भी रहता था। प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन राजा कौमुदी महोत्सव का आयोजन करता था, जिसमे नगर की समस्त स्त्रिया वनक्रीड़ा के लिए जाया करती थी और पूरा दिन व रात्रि वही व्यतीत करती थी, किन्तु पुरुषो को वहा जाने की आज्ञा नही थी—उन्हें नगर के भीतर ही रहना होता था। सयोग से यही दिन कार्तिकी अष्टान्हिका पर्व का अन्तिम दिन था और उस वर्ष सेठ ने सपत्नीक अठाई व्रत किया था। उसने राजा से विशेषाज्ञा लेकर अपनी पत्नियों को वनयात्रा से रोक लिया। दिन भर सबने नगर के जिनालयों मे दर्शन पूजन किया और अन्त मे अपने गृह-चैत्यालय मे रात्रि जागरण किया। आरात्रिक पूजन-भजन कीर्तन आदि मे आधी रात बीत गई तो सेठ-पत्नियों ने प्रस्ताव किया कि क्यो न हममे से प्रत्येक उसे जिस घटना या अनुभव के कारण धर्म मे श्रद्धा दृढ हुई है, वह सुनाए। प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ। और सर्वप्रथम सेठ से ही अपना अनुभव बताने के लिए अनुरोध किया गया।

इसी बीच स्वयं राजा का चित्त अकेले मे उचाट हो रहा था और स्वयं अपनी निषेधाज्ञा का उलंघन करके भी वह अपनी रानी के पास उद्यान मे जाने के लिए आतुर हो उठा। इस पर मंत्री ने उसे समझाया और उस अनुचित विकल्प से विरत रखने का प्रयत्न किया। उसने राजा को यमदंड कोतवाल की कहानी सुनाई जिसमें सात रोचक एवं शिक्षाप्रद अन्तर्कथाए कही। अन्ततः राजा ने अपना विचार छोड़ दिया और यह प्रस्ताव रखा कि नगर का ही भ्रमण किया जाय और देखा जाय कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं। अतः राजा और मत्री चल दिए। प्रायः उसी समय सुवर्णखुर चोर भी अपने चोरकर्म के लिए निकला था। संयोग से तीनो ही सेठ के चैत्यालय के पास पहुच गए जहां से भक्तिपूर्ण मधुर गीत-वाद्य नृत्यादि की स्वर-लहरी गूंज रही थी। चोर एक खिड़की के बाहर छुपकर बैठ गया और राजा एवं मंत्री ने एक अन्य खिड़की के बाहर आसन जमाया। उसी समय भीतर अपने संस्मरण सुनाने का निश्चय हुआ। सर्वप्रथम सेठ ने ही आप बीती सुनाई। उस कहानी के मुखपात्र वर्तमान सेठ का पिता जिनदास, राजा का पिता पदमोदय, मत्री का पिता संभिन्न और चोर का पिता रूपखुर थे। वह सब घटना उन चारों की भी देखी-जानी थी। सेठ के पश्चात उसकी सात पत्नियों ने भी अपने-अपने अनुभवों की कहानियां क्रमशः सुनाईं। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी कहानी के अन्त मे कहा, 'यह घटना मेरे प्रत्यक्ष अनुभव की है, इसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है और फलस्वरूप मेरी धर्म में रुचि-प्रतीति एवं श्रद्धा हुई है, मेरा सम्यक्त्व दृढ हुआ है। सब ही भीतरी और बाहरी श्रोताओं ने उसकी प्रशंसा व अनुमोदना की किन्तु सबसे छोटी सेठ-पत्नी कुन्दलता ने प्रत्येक बार यही कहा 'यह सब झूठ है, मैं इस पर विश्वास नही करती, अतः इसी के कारण मेरी धर्म में रुचि या प्रतीति भी नही होती है। उसके ऐसे उत्तरों की उसके पति तथा सपत्नियो पर तो विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती थी, किन्तु तीनों बाहरी श्रोता, राजा मंत्री व चोर उसे उद्दण्ड एव दुष्टा समझते और उस पर कुपित होते।

इतने में सबेरा हो जाता है। सेठ का परिवार निर्विघ्न-सानन्द पर्वोत्सव के समापन से हर्षित है कि राजा व मत्री पधारते है। अन्य अनेक व्यक्ति सेठ को बधाई देने आते हैं। भीड हो जाती है और उसमें वह चोर भी है। राजा ने रात्रि में कही गई कहानियों की चर्चा की और कुन्दलता की अजीब प्रतिक्रिया पर आश्चर्य व्यक्त किया तथा उसे दण्डित किए जाने का प्रस्ताव किया। सेठ ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि स्वयं अभियुक्ता से ही उसकी वैसी प्रतिक्रिया का कारण पूछा जाय। कुन्दलता बुलाई गई और उससे उसके उक्त अनोखे व्यवहार का कारण पूछा गया। उस तेजस्वी नारी ने ससंभ्रम कहा 'राजन्, वह दुष्टा मैं ही हूं। इन सबने जो कुछ कहा है और जिनधर्म एवं उसके व्रतादि पर जो इनका निश्चय है उस पर मैं वास्तव मे न तो श्रद्धान ही करती हूं, न उसे चाहती हूं और न उसमे मेरी कोई रुचि है।' राजा ने साश्चर्य पूछा कि इसका क्या कारण है तो कुन्दलता ने

कहा, 'राजन्, ये सब तो जैनकुल में उत्पन्न हुए हैं, जिन-मार्ग को छोडकर अन्य कोई मार्ग इन्होने जाना ही नहीं है। मैं तो न स्वयं जैन हूं और न जैनकुल में उत्पन्न हुई हूं। तो भी जिनधर्म के व्रतों का प्रभाव सुनकर हृदय मे भारी वैराग्य उत्पन्न हो गया है और मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि मैं आज सवेरे ही जिनदीक्षा अवश्य ग्रहण कर लूंगी। मुझे तो यही आश्चर्य हे कि इन सबने जिनधर्म के व्रतों का माहात्म्य स्वयं देखा है और सुना है, फिर भी ये सब मूर्ख ही रहे। उपवासादि द्वारा शरीर को कृष तो करते हैं किन्तु संसार के विषय-भोगों के प्रति अपनी लम्पटता तनिक भी नही छोड़ते। मेरा तो सिद्धान्त है कि मनुष्य को गुणों को सम्पादन करने मे सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मिथ्या आडम्बर और दिखावे से क्या होना-जाना है। जो गाय दूध नही देती वह क्या गले मे घंटा बांध देने से बिक जाएगी?'

कुन्दलता के इस ओजस्वी उद्बोधन को सुनकर सबकी आंखें खुल गयीं, सभी ने उसकी स्तुति-प्रशंसा-बन्दना की, इतना ही नहीं, सेठ, राजा, मत्री और चोर ने तथा अन्य अनेक उपस्थित व्यक्तियो ने अपने अपने पुत्रादि को गृहस्थ का भार सौपकर कुन्दलता के साथ जिनदिक्षा ले ली। उसकी सपत्नियां, रानी, मत्री की पत्नी आदि अनेक नारियां आर्यिका बन गई। अनेक स्त्री-पुरुषों ने श्रावकों के व्रत ग्रहण किए, अन्य कितने ही कम से कम भद्रपरिणामी ही बने। अस्तु, इस सम्यक्त्वकौमुदी कथा का सार तत्व यही है कि धर्म व्रतानुष्ठानादि क्रियाकांडों में निहित नही है, वरन् स्वयं अपने जीवन मे उतारने की वस्तु है, धर्म करना नहीं, होना है।

ग्रन्थकर्ता—इस सम्यक्त्वकौमुदी या सम्यक्त्वकौमुदी-कथा की अनेक प्रतियां उत्तर भारत के जैन शास्त्र भडारों में सुरक्षित हैं। केवल राजस्थान के आमेर भंडार मे १३ प्रतियां हैं, जिनमें से ५ सम्यक्त्वकौमुदी नाम से और ८ सम्यक्त्वकौमुदीकथा नाम से दर्ज है, और वि० स० १७७९ से १८३८ के मध्य की लिखी हुई है।[२] इसी भंडार के प्रशस्ति सग्रह में तीन अन्य प्रतियों का उल्लेख प्रतीत होता है जिनमें से एक वि० स० १५६० की, दूसरी १५८२ की और तीसरी १६२५ की है जिसे कुंभलमेरु में खरतर-गच्छी गुणलाभ महोपाध्याय ने अपने पढ़ने के लिए लिखाया था।[३] स्वयं जयपुर के शास्त्र भंडारों मे १४ प्रतियां है जिनमे से एक तो (न० १३२०) गोपाचलदुर्ग अर्थात् ग्वालियर में राजा वीरमदेव तोमर के शासनकाल में मुनि धर्मचन्द्र के पठनार्थ वि० स० १४६० (सन् १४०३ ई०) की लिखित है।[४] अन्यत्र भंडारों मे भी इस ग्रंथ की प्रतियां पाए जाने की पूरी सम्भावना है। उपरोक्त समस्त प्रतियों के सम्बन्ध मे ग्रंथ की भाषा सस्कृत सूचित की है, आकार-प्रकार प्राय: सबका समान है, और रचयिता अज्ञात सूचित किया गया है। इन्ही सूचियो में सम्यक्त्व-कौमुदी नाम की अन्य रचनाओ की प्रतियों का भी उल्लेख है जिनमे उनके रचयिताओं का नाम भी सूचित है, तथा जो संस्कृत हिन्दी या हिन्दी पद्य आदि मे रचित हैं। अत-एव इसमें संदेह नही है कि जिस अज्ञात कर्तृक संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की प्रतियो का उल्लेख किया गया है वे सब उसी ग्रंथ की है जिसका वर्णन लेख के प्रारम्भ मे किया गया है और जो १९१५ ई० में बबई से प्रकाशित हुआ था। डा० राजकुमार साहित्याचार्य ने जिस सम्यक्त्व-कौमुदी की मदन पराजय नामक सस्कृत रूपक से तुलना की है, वह भी वही अज्ञात कर्तृक रचना है, इसमे कोई संदेह नहीं है।[५] उनके कथनानुसार प्रो० एल्ब्रेस्ट बेबर ने इसी सम्यक्त्वकौमुदी की सन् १४३३ ई० की एक प्रति का उल्लेख किया है।[६] इतना ही नही, उन्होंने तो मदन-पराजय का रचनाकाल भी सम्यक्त्वकौमुदी की बेबर वाली प्रति के आधार से ही निश्चित किया है।[७]

'जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम से हमारे द्वारा संकलित पुरानी हस्तलिखित सूची के अनुसार प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता जिनदेव नामक दिगम्बर विद्वान हैं जो १४वी शती ई० मे हुए है। और जिनकी मयण-पराजय (मदन पराजय) तथा उपासकाध्ययन नामक दो अन्य संस्कृत कृतियाँ ज्ञात हैं। डा० राजकुमार जी द्वारा सपादित मदन पराजय की पूर्वोक्त प्रस्तावना से, जो पुस्तक के प्रथम सस्करण के समय १९४८ ई० में लिखी गई थीं, अब इस विषय मे कोई संदेह नही है कि उक्त मदन परा-जय के कर्ता जिनदेव अपरनाम नागदेव ही, जो वैद्यराज मल्लुगी के पुत्र थे तथा किन्हीं ठक्कुर माइन्द द्वारा स्तुत

एवं प्रशंसित थे, प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता है।[८] सम्यक्त्व कौमुदी में लेखक ने अपना कोई परिचय नही दिया सिवाय इसके लिए प्रथम मंगल श्लोक की प्रथम पंक्ति 'श्री वर्द्धमानमानम्य जिनदेव जगत्प्रभुम्' मे प्रयुक्त 'जिनदेव' शब्द से उनके नाम का भी सूचन हो। किन्तु मदनपराजय मे उन्होने अपना जो वश परिचय दिया है, उससे विदित होता है कि वह सोमवश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वज चङ्गदेव एक यशस्वी दानी थे, जिनके पांच पुत्र थे—इनमे से तीसरे पुत्र कविवर हरिदेव थे जो अपभ्रश मयणपराजयचरिउ के रचयिता थे। हरिदेव के पुत्र वैद्यराज नागदेव थे, जिनके दोनो पुत्र हेम और राम भी प्रसिद्ध वैद्य थे। राम के पुत्र दानी प्रियंकर थे, जिनके वैद्यराज मल्लुगि थे। इन मल्लुगि के पुत्र संस्कृत मदन-पराजय के कर्ता नागदेव थे।[९] बहुत सभव है कि अपनेएक निकट पूर्वज का नाम भी नागदेव रहा होने से ग्रन्थकार ने अपना अपर नाम या उपनाम 'जिनदेव' अपना लिया हो—मदनपराजय की आद्य प्रशस्ति मे तो नागदेव नाम है किन्तु पांचो परिच्छेदो के पुष्पिका वाक्यो मे जिनदेव नाम दिया है। प्राप्त सूचनाओ से विदित है कि कवि एक सदगृहस्थ था और एक सम्पन्न धार्मिक वैद्य व्यवसायी एव विद्या रसिक वश मे उत्पन्न हुआ था, जो मूलतः सोम (चन्द्र) वंशी राजपूतों का था। लेखक के स्थान की कोई सूचना नही है किन्तु लगता है कि वह उत्तर भारतीय था और मध्य भारत विशेषकर ग्वालियर के आसपास के किसी स्थान का निवासी था। सम्यक्त्वकौमदी की प्राचीन-तम उपलब्ध प्रति (१४०३ ई० की) ग्वालियर मे ही लिखी गई थी और कुछ ही दशक पश्चात ग्वालियर के ही अप-भ्रश भाषा के महाकवि रईधू ने उसका अपभ्रश भाषा मे रूपान्तर किया था। यतः सम्यक्त्वकौमुदी मे उद्धृत सूक्तियां आदि जिन लेखको की है, उनमे प० आशाधर (ल० १२००-५० ई०) प्रायः सबसे पीछे के है और यदि जिस सूक्तिमुक्तावली के भी उद्धरण है वह श्रुतमुनि (ल० १३०० ई०) कृत ही हों तो सम्यक्त्वकौमुदी के रचनाकाल की पूर्वावधि १३०० ई० और उत्तरावधि १४०० ई० निश्चित होती है। अतएव जिनदेव अपर नाम नागदेव ने इस संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की रचना १३५० ई० के लगभग की प्रतीत होती है। लगता है कि मदन-पराजय शायद प्रारम्भ की रचना है और सम्यक्त्वकौमुदी लेखक के अन्तिम वर्षों की है। उपासकाध्ययन नाम की श्रावकाचार विषयक कृति यदि है तो शायद किसी भंडार में दबी पड़ी हो, उसमें भी नीति-सूक्तों के उद्धरणों का बाहुल्य होगा। जिनदेव की सम्यक्त्वकौमुदी दिगम्बर परम्परा में तो स्वभावतः प्रचलित रही है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे भी लोकप्रिय रही प्रतीत होती है, जैसा कि उसकी सं० १५६० व स० १६२५ की पूर्वोक्त प्रतियों से प्रगट है। उसकी लोकप्रियता का एक साक्ष्य यह भी है कि इस नाम की अनेक रचनायें परवर्तीकाल मे विभिन्न भाषाओ मे लिखी गई जिनमे से कई श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा भी रचित है।

अन्यकर्तृक सम्यक्त्वकौमुदी कथाएं

दिगम्बर :—सँस्कृत, मुनिधर्मकीर्तीकृत, प्राप्त लिपि १५४६ ई० की है। संभवतया यह वही मुनि धर्मकीर्ति (१४४२-६६ ई०) है जो सागवाड़ा बड़साजनपट्ट के *सकलकीर्ति के शिष्य तथा विमलेन्द्रकीर्ति के* गुरु थे और तत्वरत्नप्रदीप नामक ग्रंथ के रचयिता थे।

२. सस्कृत, मंगरस या मंगिरस, प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्य-कार, सं० कौ० की० रचना तिथि एक १४३०-१५०८ई०

३. संस्कृत, खेता पडित, लगभग १७०० ई०

४. कन्नड़, पायण्ण वर्णी, १६०० ई०

५. अपभ्रश, महाकवि रइधू (१४२३-५८ ई०)

६. हिन्दी-गुज० रत्नमति आर्यिका (ल० १५५० ई०) जो सूरत के भट्टारक ज्ञानभूषण की शिष्या थीं। रचना का नाम 'समकितरास' (८ कथाये) दिया है।

७. हिंदीपद्य, कवि कासिदास एव जगतराय, १६६५ ई० अलग-अलग थी उल्लेख है, किन्तु संभवतया संयुक्त रचना है।

८. हिन्दी पद्य, जोधराज गोदीका, १६६७

९. हिन्दी पद्य, कवि विनोदीलाल, १६९२ ई०

१०. हिन्दी पद्य, लालचन्द्र सांगानेरी, १७६१-८५ ई०

११. हिन्दी, लालचन्द्र विनोदीलाल, १८२२ ई०

श्वेताम्बर—१. संस्कृत, अचलगच्छी जयशेखर सूरि, रचनाकाल 'हयेषुलोक संख्येब्दे' शब्दों मे सूचित है जिसका अर्थ स० १४५७ किया गया है, लिपि स० १५६५ की है।[१०] यदि रचनाकाल का उपरोक्त अर्थ ठीक है तो यह रचना १४०० ई० की है।

२. संस्कृत, जयचन्द्र सूरि के शिष्य, रचनाकाल सं० १४६२-१४०५ ई०, प्रतिलिपि सवत नही है, किन्तु अन्त में लिखा है—इति धर्मकीर्ति मुनि विरचिता सम्यक्त्व-कौमुदी कथा सम्पूर्ण।[११] इस लेख से सदेह होता है कि मुद्रण आदि मे नामो की गड़बड़ तो नही हुई है? यदि उल्लिखित जयचन्द्र सूरि वही है जो सोमसुन्दर के शिष्य थे और जिन्होने १४४६ ई० मे अपना प्रत्याख्यान विरमण रचा था तो उनके शिष्य द्वारा उपरोक्त ग्रंथ का रचनाकाल १४०५ ई० नही हो सकता।

३. संस्कृत, गुणाकर सूरि, रचनाकाल १४०७ ई०।[१२] प्रतिलिपि १४६० ई० की है। आमेर भंडार मे भी इस ग्रंथ की प्रतियां हैं।

४. संस्कृत, सोमदेव सूरि, १५१६ ई०।

इस प्रकार कुल १८ रचनायें हमें ज्ञात हो सकी हैं, जिनमें से ८ संस्कृत, १ कन्नड़, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी में रचित है। इनमे से १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा रचित है। चारों ज्ञात श्वे० रचनायें संस्कृत में है। संभव है अन्य भी कई रचनायें हों जो हमारी जानकारी में अभी नहीं आई है। इस सबसे जिनदेव (नागदेव) की सम्यक्त्वकौमुदीकथा की लोकप्रियता एवं महत्व स्पष्ट हैं। उसके विशद समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जिससे उस पर पूर्ववर्ती साहित्यकारों का प्रभाव तथा स्वयं उसका अपने परवर्ती साहित्यकारों पर प्रभाव प्रकाश मे आ सके। उपरोक्त श्वे० रचनाओं को हमने देखा नही है अतएव यह भी नही कहा जा सकता कि उन्होने जिनदेव की रचना से ही प्रेरणा ली है अथवा उसे ही अपना आधार बनाया या कि उनका आधार एवं प्रेरणास्रोत उससे सर्वथा स्वतन्त्र या भिन्न है।

सन्दर्भ—

१. देखिए ज्योतिप्रसाद जैन, प्रकाशित जैन साहित्य (जैन मित्र मण्डल दिल्ली १९५८), पृ० २३९।
२. आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की ग्रन्थ सूची (जयपुर १९४८ ई०), पृ० १३२-१३३।
३. डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रशस्ति सग्रह (जयपुर १९५०), पृ० ६३-६४।
—स० १५८० की प्रति भी एक श्वेताम्बर मुनि के लिए लिखी गई है।
४. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूची, द्वितीय भाग, पृ० २४१-२४२।
५. मदनपराजय, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वि० स० १९६४, प्रस्तावना पृ० १७-१८. ४२, ५७-५८।
६. वही, पृ० १८, तथा वेबर-ए हिस्टरी आफ इण्डियन कल्चर, भा० २, पृ० ५४१ फुटनोट।
७. वही, पृ० ५८, किन्तु ऐसा लगता है कि भूल से वि० स० की १५वी शती के बजाय १४वी शती लिख गए हैं।
८. वही, पृ० ५७।
९. वही, आद्य प्रशस्ति, पृ० १-२; तथा डा० हीरालाल जैन, मयणपराजयचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ १९६२, प्रस्तावना पृ० ६०-६२, जबकि राजकुमार जी ने 'रामकुल' पाठ दिया है, डा० हीरालालजी ने 'सोमकुल' पाठ दिया है, उसका औचित्य भी सिद्ध किया है—वही ठीक प्रतीत होता है।
१०. देखिए, मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह की ग्रन्थ सूची (अहमदाबाद १९६३), भाग १, पृ० १३१, न० २५५७
११. वही, पृ० १३१-१३२, न० २५५९।
१२. वही, पृ० १३१, न० २५५४; तथा भाग २, पृ० २२३-२२४, न० ३८३३।

—ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ-१

पर्युषण और दशलक्षण धर्म

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोत्साह मनाते हैं। व्यवहारतः दिगम्बर श्रावकों मे यह दश दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगों में धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टाह्निका (अठाई) कहते हैं।

पर्युषण के अर्थ का विशेष खुलासा करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है—

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना" अथवा "परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तदिनानि उत्कृष्टतः षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा परिसामस्त्येन उषणा।"—अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमें क्रोधादि भावों को सर्वतः उपशमन किया जाता है अथवा जिसमें जघन्य रूप से ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र मे किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पयूषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पजुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची हैं।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते है—(१) जिसमे क्रोधादि भावो का सर्वतः उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमे जघन्य रूप मे ७० दिन और उत्कृष्ट रूप में चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का संबंध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है। कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्यूषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ मे साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नहीं। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यतः का अभाव होने के कारण ही श्रावकों में दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते है और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्परायें ऐसा मानती है कि उत्कृष्ट पर्यूषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनो ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओ को करते है। यतः उन दिनों (वर्षा ऋतु) में जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष होने की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्पका वर्णन दोनों सम्प्रदायों मे है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है:—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य
चतुर्षुमासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्यागः।
विंशत्यधिक दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः
कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवां कल्प है। वर्षाकाल के चार मासो मे एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते है। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरो मे 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसंग मे जीतकल्प सूत्र मे लिखा है—

'चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं।
ठितमट्ठितमेगतरे, कारणे वच्चासितऽण्णयरे॥—

—जीत क० २०६५ पृ० १७६

विवरण—'उत्कर्षतः पर्युषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद्-भवति, आषाढ़ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः। जघन्यतः पुनः सप्ततिरात्रिदिनानि, भाद्रपदशुक्लपञ्चम्याः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः—अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासितं विपर्यस्तमपि कुर्युः।'

—अभि० रा० भाग०-५ पृ० २५४

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास १२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनों के सभी सम्प्रदायों मे पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा मे ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि '(१) दिगम्बर श्रावक इ। पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य संयम-तपस्त्याग, त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते है। जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहां इन दिनों मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तः कृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आन्हिक (अष्टान्हिक-अठाई) कहते है। साधुओं का पयूषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरो मे उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो मे पंचमी को पूर्ण होता है। दोनो सम्प्रदायो मे दिनो का इतना अन्तर क्यो? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगों ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए है कि पयूंषण मनाने की तिथियां दोनो मे एक ही हों। पर, वे असफल रहे है।

पर्युषण के प्रसग मे और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियो पर विचार करते है तब हमे विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एव पर्वसु सर्वेसु चतुर्मास्या च हायने।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणा कृति॥"

—धर्म सं० ६६ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों में और जीवन में भी यथा शक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के सबंध मे कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमूचुः—

'अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं
मासंमि पव्व छक्कं, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि॥'

'चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पंचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। 'अट्ठमी चउद्दमीसुं नाण पंचमीसु उववासं न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्।—एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पोषधकरणं प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागमः,

'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ॥'

—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गये है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या, ये मास के ६ पर्व है और पक्ष के ३ पर्व है। इसमे 'चउद्दसट्ठमद्दिपुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ मे ज्ञान पचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पंचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।···इन पर्वों के कृत्यों मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व मे उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम मे भी कहा है—'जिनमत मे सर्व निश्चित पर्वों में योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरो में देखते है तब ज्ञान होता है कि उनके पर्व पचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमे आगमविहित उक्त सर्व (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते है।, जब कि श्वेताम्बरों मे प्रचलित पर्व दिनों में अष्टमो का दिन छूट जाता है—उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए कि पर्युषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियों का समावेश

रहे। यह समावेश और जैनियो के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियों मे एक रूपता भी, तभी सभव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से ही प्रारम्भ माने जाय।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी मे लिखा है—'समणे भगव महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कते वासावासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ मे 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखे पृष्ठ २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्याः ? एवमुच्यते, वर्षाणा विंशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्युषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूषणाकल्प चूर्णि मे 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणं भणिओ भद्दवजुण्हपचमीए पज्जोसवणा'—(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है। —अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्यूषण करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था। इस प्रकार पचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पंचमीए' पद की विभक्ति से सन्देह की गुंजाइश रह जाती है कि पर्यूषणा पंचमी मे होती थी, अथवा पंचमी से होती थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पंचमी और सातवी तीनो ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पंचमी मे ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७–८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नही रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हाँ, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो मे आठ या दस दिनो की गणना को पूरा किया जा सकता है और अष्टमी को प्रोषध भी, किया जा सकता है। सभवतः इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पचम्या अनन्तर' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्या कार्तिक पूर्णिमां यावदित्यर्थः'—पृ० २५४ मे लिख दिया है। यहाँ पचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पंचमीए' का अर्थ 'पंचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व में अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति में शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्यकाल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भांति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ़ मे अन्त के आठ दिनों में (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने है ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप में इन दिनों अकृत्रिम जिन मन्दिरो बिम्बों के दर्शन-पूजन को जाते है। देवों के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरो मे भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथियां चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा आसोज सुदी ८ १५ तक है। तीसरी तिथि जो (संभवतः) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यो नही ? यह विचारणीय ही है—जब कि दो बार की तिथिया अष्टमी से शुरू है।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है[1] तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पूर्व से शुरू न कर, पचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सबीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती है जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य है।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनो में पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हो उन्हे भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

(शेष पृष्ठ १० पर)

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगने से लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् आषाढ़ शुक्ला १४ से लेकर भाद्रपद शुक्ल ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।'—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७

जैन साहित्य में विन्ध्य अंचल

□ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

जैन साहित्य मे विन्ध्य क्षेत्र के वर्णनो को तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—१ तीर्थभूमि के रूप मे २. कथाभूमि के रूप मे ३. उपमान के रूप मे। इनका विवरण इस प्रकार है :—

तीर्थभूमि के रूप में

पांचवी या छठी शताब्दी मे आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित निर्वाणभक्ति मे पुण्यपुरुषों के निवास या निर्वाण के कारण पवित्र हुए स्थानों की नामावली है जिसमे विन्ध्य का भी समावेश है।[१] यद्यपि विन्ध्य क्षेत्र का कौन-विशिष्ट स्थान उनकी दृष्टि मे था यह स्पष्ट नही है।

बारहवी या तेरहवी शताब्दी में आचार्य मदनकीर्ति द्वारा रचित शासनचतुस्त्रिंशिका में भी तीर्थभूमि के रूप में विन्ध्य की प्रशंसा मे एक श्लोक मिलता है।[२] इसमे भी किसी विशिष्ट स्थान का संकेत नही है।

विन्ध्य क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान का सर्वप्रथम वर्णन आचार्य रविषेण द्वारा सन् ६७७ मे रचित पद्मचरित मे मिलता है। इसमे कथन है[३] कि इन्द्रजीत् के साथ मेघनाथ तपस्या करते हुए विन्ध्य अरण्य मे जहा रहे वह स्थान मेघरव तीर्थ कहलाया।

निर्वाणकाण्ड मे कुम्भकर्ण और इन्द्रजीत का निर्वाण-स्थान बडवानी के समीप चूलगिरि बताया है[४] जो विन्ध्य-क्षेत्र मे ही है। निर्वाणकाण्ड की कुछ प्रतियो मे रविषेण के वर्णन का अनुवाद करने वाली एक गाथा मिलती है।[५] सत्रहवी शताब्दी मे रचित निर्वाणकाण्ड के हिन्दी अनुवाद में इस गाथा का समावेश नही है परन्तु उसी समय के मराठी अनुवाद मे उसका समावेश है।[६] बडवानी के विषय में हम एक लेख अनेकान्त मे लिख चुके है अतः यहां उससे सम्बन्धित अन्य उल्लेखों की चर्चा नही की गई है।

विन्ध्य क्षेत्र के दूसरे विशिष्ट स्थान का उल्लेख कृष्ण-कथा से सम्बन्ध रखता है। आचार्य हरिषेण द्वारा सन्-९६२ मे रचित बृहत् कथाकोष की कथा १०६ में बताया गया है कि नन्दगोप की जो कन्या कृष्ण के स्थान पर कंस को बतायी गई थी वह आगे चलकर तपस्या करती हुई विन्ध्य क्षेत्र मे रही और वहां के दस्यु उसकी पूजा करने लगे।[७] आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा सन् १०६६ के लगभग रचित कथाकोष में भी उपर्युक्त कथा है और उपर्युक्त देवी की उपासना विन्ध्यवासिनी दुर्गा के नाम से होने का कथन है।[८] विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर वर्तमान समय मे भी प्रसिद्ध तीर्थ है। कथाकोषो से पूर्व हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण मे भी यही कथा मिलती है।

जिनप्रभसूरि द्वारा सन् १३३२ मे रचित विविध तीर्थकल्प मे श्रेयास और मुनिसुव्रत तीर्थंकरो के मन्दिर विन्ध्यक्षेत्र मे होने का कथन मिलता है परन्तु स्थान नाम नही बताये है।[९]

कथाभूमि के रूप में

आचार्य जिनसेन द्वारा नौवी शताब्दी के मध्य मे रचित महापुराण मे भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय वर्णन मे

(पृ० ९ का शेषांश)

'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पचमीट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहीओ जासि, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१॥
पूआ पच्चक्खाण पडिकमण तहय निअम गहणं च।
जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्व ॥२॥'
धर्म स० पृ० २३९

वर्ष के चतुर्मास मे चतुर्दशी पचमी और अष्टमी को उन्ही दिनो मे जानना चाहिए जिनमे सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नही। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि मे करना चाहिए जिस तिथि मे सूर्योदय हो। कृपया विद्वान विचार दें।

—वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-२

□ □ □

तीस श्लोकों में विन्ध्य क्षेत्र का वर्णन मिलता है।[10] आचार्य कहते हैं कि यह पर्वतराज ऊंचा है, इसके वंश (—बांस) विस्तीर्ण है और इसे लांघना कठिन है। इसके शिखरों से बहते हुए झरने विमानों की पताकाओं जैसे दिखते है। यह पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला है। अनेक नदियाँ इसकी वधूयें है। बांस और हाथियों के मस्तकों से निकले मोती इसमें बिखरते है। अनेक रंगों की धातुयें यहा मिलती हैं। जब दावानल भडकता है तो इसके शिखर मानो सुवर्णवेष्टित दिखते है। इसमें बड़े-बड़े हाथी और भुजंग रहते है। किरात लोग उपहार के रूप मे गजदन्त राजा को अर्पित करते है। इसके बीचोबीच नर्मदा नदी भूमिरूपी महिला की वेणी के समान दिखती है।

नौवी शताब्दी मे ही आचार्य शीलांक द्वारा रचित चउपन्नमहापुरिसचरिय मे मेघकुमार के पूर्वभव वर्णन मे बताया गया है कि विकट शिखरो से भरे, ऊंचे वृक्षों से व्याप्त, हजारो श्वापदो से परिपूर्ण विन्ध्य अरण्य मे वह पांच सौ हाथियो के झुंड का स्वामी था।[11]

कुछ सन्दर्भों में विन्ध्य का नाममात्र उल्लिखित है—वर्णन नहीं है। सन् ७८३ मे पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण मे कथन है कि विन्ध्यक्षेत्र मे राजा अभिचन्द्र ने चेदिराष्ट्र मे शुक्तिमती नगर की स्थापना की।[12] बृहत्कथाकोष (जिसका एक सन्दर्भ ऊपर आ चुका है) की कथा ११८ मे कथन है कि श्री कृष्ण की मृत्यु का कारण मैं बनूंगा यह सुनकर जरत्कुमार ने द्वारावती छोड़कर विन्ध्यपर्वत क्षेत्र मे विन्ध्यपुर मे रहना शुरू किया।[13] आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण मे राजा श्रेणिक के पूर्वभव वर्णन मे बताया है कि वह विन्ध्यक्षेत्र मे एक वनचर था।[14]

उपमान के रूप में

सन् १०१३ मे आचार्य अमितगति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा मे कथन है कि तिलोत्तमा के विलासविभ्रम देखकर ब्रह्माजी का हृदय उसी प्रकार विदीर्ण हुआ जैसे नर्मदा से विन्ध्याचल विदीर्ण हुआ है।[15]

सन् १०२५ मे आचार्य वादिराज द्वारा रचित पार्श्वचरित मे कथन है कि सूर्य के समान अन्धकार के विस्तार को दूर करने वाला प्रभु का उपदेश जिस चित्त में स्थान नही पाता वह बन्ध और मोह से युक्त चित्त विन्ध्य पर्वत की गुहा के समान ही कालेपन को नही छोडता।[16]

सन् १०७७ मे आचार्य पद्मकीर्ति द्वारा रचित पासणाहचारिउ में पार्श्वनाथ और यवनराज के युद्ध के वर्णन मे दो योद्धाओं के द्वन्द्व का वर्णन इन शब्दो में है—वे अभिमानी महारथ ऐसे भिडे जैसे असुरेन्द्र और सुरेन्द्र हों या उत्तर और दक्षिण दिशाओ के गजेन्द्र हों या सह्य और विन्ध्य पर्वतराज भिड़े हों।[17]

सन् १३४८ में राजशेखर सूरि द्वारा रचित प्रबन्धकोष में बप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध में कथन है कि जब बप्पभट्टि राजा आम के राज्य को छोड़कर धर्मपाल के राज्य में चले गये तो दुखी होकर आम राजा ने उनके पास यह सन्देश भेजा— विन्ध्य पर्वत के बिना भी राजाओं के महलो मे बड़े हाथी होते है और बहुत से हाथी चले गये तो भी विन्ध्यपर्वत वन्ध्य नही होता। तात्पर्य यह है कि राजा और विद्वान् एक दूसरे के बिना नही रह सकते ऐसा नहीं है। परन्तु जैसे सरोवर राजहंस की और राजहंस सरोवर की शोभा बढाने में सहयोगी है उसी प्रकार राजा विद्वान् की और विद्वान राजा की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहयोगी होते है।[18]

सन्दर्भ—

१. निर्वाण भक्ति श्लोक २९ द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेढ्रके च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे। ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च ॥
२. शासन चतुस्त्रिंशिका श्लोक ३२ यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो भक्ति नरस्याधुना तत्काल जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालयाः। प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशो देवेश्वराभ्यर्चिताः विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम् ॥
३. पद्मचरित सर्ग ८० श्लोक १३६ विन्ध्यारण्यमहास्थल्यां सार्धमिन्द्रजिता यतः। मेघनादः स्थितस्तेन तीर्थं मेघरवं स्मृतम् ॥
४. निर्वाणकाण्ड गाथा १२ वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे। इंदजियकुंभयण्णा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ (शेष पृष्ठ १४ पर)

आज के संदर्भ में एक समीक्षा

जैनधर्म के पांच अणुव्रत

□ श्री विनोदकुमार तिवारी

जैन धर्म की शिक्षाओं एवं नियमों के लिए स्वयं महावीर स्वामी के जीवन चरित्र से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनका जीवन स्वयं ही आज के जैन बन्धुओं के लिए एक शिक्षा है, जिस पर विवेक और विचार की आवश्यकता है। जैन धर्म मे मुख्य पांच व्रत हैं— अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अपरिग्रह और अमैथुन, अर्थात हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, परिग्रह मत रखो और व्यभिचार मत करो। इन सबो पर अलग-अलग विचार की आवश्यकता है, पर उपरोक्त व्रतों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है जो समाज मे मुख्य रूप से बैर-बिरोध की जनक हुआ करती है। व्यक्ति मूलत: अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ही सारी क्रियाए करता है और जब तक उसे अच्छी और बुरी क्रियाओ का मापदण्ड नही मिलता, वह अपने आप पर अकुश नहीं लगा सकता। हिंसा, चोरी, दुराचार, झूठ और परिग्रह ये पाचो बुरे कार्य है, सामाजिक पाप है और जितने हो अंश मे व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सौम्य और समाज हितैषी माना जायेगा और अगर इन पाचो पापों को न करने का व्रत ले लिया जाए, तो समाज और देश विवेकशील, नैतिक, शुद्ध और प्रगतिशील बन सकता है। और आत्मा की शुद्धि भी हो सकती है इसलिए प्रत्येक व्रत का स्वरूप अलग-अलग जान लेना आवश्यक है।

प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा पाच व्रतों का केन्द्र बिन्दु है और शेष व्रत इसके सहायक हैं, आधार हैं, ठीक वैसे ही जैसे अन्न के खेत की रक्षा और रखवाली के लिए उसके चारों तरफ चारदीवारी बना दी जाती है। इन नैतिकताओं को पूरी तरह मानने वाले को 'महाव्रती' और अंशतः मानने वाले को 'अणुव्रती' कहा जाता है।

जैनधर्म के सिद्धान्तो के अनुसार हिंसा तीन तरह की हो सकती है—मानसिक, शारीरिक और मौखिक। लोग प्राय: कहते है कि ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसमे हिंसा न हो, अर्थात् खाने-पीने, चलने-फिरने और श्वास लेने मे भी जीवहिंसा होती है। यह कथन सत्य भी है, पर इसका यह तात्पर्य नही कि अहिंसा अव्यवहार्य है। जैन मत के अनुसार यदि सावधानी रखते हुए किसी से कोई मर जाता है अथवा दुखी हो जाता है, तो यह हिंसा नही होती ससार मे हर जगह विशाल और सूक्ष्म जीव है और वे अपने निमित्त मरते भी है, पर इस जीव घात को हिंसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। अगर एक शिकारी बन्दूक लेकर बैठा हो और सारे दिन वह एक भी शिकार न कर पाये, तो भी वह पापी ही कहा जायेगा, क्योकि उसका मन जीवहत्या मे रम रहा है। पर वही दूसरी तरफ एक किसान अपने खेत मे हल चला रहा हो और उसके परिणामस्वरूप असख्य जीवो का घात हो रहा हो, तो भी वह किसान सकल्पी हिंसक नही कहा जा सकता, क्योकि उसकी इच्छा और अभिलाषा खेत जोतकर अनाज पैदा करने मे है, जीवो को मारने मे नही। अत: यद्यपि प्रत्येक क्रिया मन, वचन, और शरीर से होती है, पर वचन और शरीर से होने वाली क्रिया का मूल भी मन ही है, अत: मन को सावधान रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मन की चंचलता व्यक्ति को कहां से कहां ले जाती है और इस दौरान व्यक्ति अपना लक्ष्य भूल जाता है। फलस्वरूप वह द्यूत, आखेट, मद्यपान और मांसाहार का शिकार हो जाता है। एक अहिंसाव्रती को इन चीजो से सावधान रहना चाहिए और तभी वह सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दुख के कारणों पर विचार कर सकता है तथा इनका समाधान कर सकता है।

सत्याणुव्रत पालक को सदा हित और मित बोलना चाहिए, किसी बात को घटा-बढ़ाकर नहीं रखना चाहिए

उसे दूसरों की बुराई नहीं करनी चाहिए और असभ्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

वचन के चार प्रकार होते है—कुछ वचन तो असत्य होते हुए भी सत्य माने जाते है—जैसे 'वस्त्र बुनता है।' यहां पर वस्त्र बुनना यद्यपि असत्य है, किन्तु लोक व्यवहार में प्रचलित होने से उसे सत्य माना जाता है। कुछ वचन सत्य होते हुए भी असत्य होते है—जैसे कोई व्यक्ति दस दिनो पर किसी वस्तु को देने का वादा करके भी समय पर नही देता, वरन पन्द्रह दिनो बाद देता है। कुछ वचन सत्य-सत्य कहे जाते है—जैसे जिस वस्तु को जैसा देखा गया है, वैसा ही कहना सत्य-सत्य है। चौथा वचन असत्यासत्य है, जिसे सफेद झूठ की सज्ञा दी जा सकती है।

उपरोक्त अनुदेशो का शत् प्रतिशत पालन तो कोई मुनि ही कर सकता है, अतः इसे मानने वाले को सत्य महाव्रती कहा जाता है। पर गृहस्थ और सामान्य जीवन के क्रम मे कोई व्यक्ति इन निर्देशो का अक्षरशः पालन नही कर सकता, अतः वैसे सत्य को सत्य अणुव्रत कहा जा सकता है। अगर किसी वचन से किसी भी तरह की सत्य हिंसा होती है, तो वैसा नही बोलना चाहिए। अन्ततः सत्य तथा असत्य की अहिंसा और हिंसा की तुलना की जा सकती है और सत्य वचन से ही अहिंसा संभव भी है।

अस्तेय जैनधर्म का तीसरा व्रत है और इसका साधारणतः अर्थ होता है 'पराई वस्तु को ग्रहण न करना।' जो मनुष्य निर्मल अचौर्यव्रत का पालन करते है, वे किसी भी वस्तु को लेने के अधिकारी नही होते, जब तक कि वह वस्तु उन्हें सौप न दी जाए। दूसरी तरफ अस्तेयाणुव्रत पालन करने वाले व्यक्ति आम तौर से प्राकृतिक वस्तुओ का उपयोग—उपभोग कर सकते है, जैसे पानी, घास, मिट्टी वगैरह। किसी के द्वारा छूट गई या भूली हुई वस्तु को स्वयं लेना या दूसरे को सौप देना इस नियम के प्रतिकूल है। जिस धन का कोई मालिक नही होता, वह राज्य का होता है तथा उसे स्वयं रख लेना उचित नही कहा जा सकता। चुराने के विचार से किसी वस्तु को उठाना चोरी के उपाय बतलाना, चोरी का सामान खरीदना, कम या अधिक तोलना और गलत तरीके से धन कमाना ये सभी जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इस सिद्धान्त के अनुसार वाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओं के प्रति लालसा रखना ही परिग्रह है। वाह्य परिग्रहो में खेत, धान्य, धन, बरतन, आसन, शय्या, दास-दासी, पशु और वस्त्र आते है, जबकि अन्तरंग परिग्रह चौदह है—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। अगर आन्तरिक परिग्रह से छुटकारा पाना हो, तो वाह्य सपति को अपने से अलग हटाना ही होगा। परिग्रह से ही हिंसा बढती है, अतः बुद्धिमान गृहस्थ को इससे अपना मन हटाना चाहिए, तभी वह परिग्रह परिमाणव्रत का पालन कर सकता है। जब अपने साथ जन्म लेने वाला शरीर ही बिछुड जाता है, तब धन सम्पत्ति और स्त्री-पुत्र की चिन्ता करने से क्या लाभ होगा!

वर्तमान परिस्थितियो मे अपरिग्रह का सिद्धान्त हमारे लिये इसलिये भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इसी के द्वारा समाज और देश से आर्थिक असमनता को दूर किया जा सकता है और हर व्यक्ति अपनी जरूरत की आवश्यक वस्तु पा सकता है। आज धन-सम्पत्ति, भूमि और प्रतिष्ठा के पीछे व्यक्ति पागल हो रहा है, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के तथा राष्ट्र, राष्ट्र के बीच तनाव बढ़ रहा है। अपरिग्रह पूजीवाद और कम्युनिजमवाद के बीच की चीज है, जिस पर चलकर वास्तविक समाजवाद की प्राप्ति की जा सकती है।

जैनधर्म का अन्तिम और महत्वपूर्ण व्रत है ब्रह्मचर्य। जो व्यक्ति अपने आपको काम विकार से पूर्णतः मुक्त कर लेता है, वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है। आदर्श गृहस्थ को ऐसी वार्ता नही करनी चाहिए, जो कामोद्दीपक हो, ऐसे रसो का सेवन नही करना चाहिए, जिससे काम-विकार की वृद्धि हो और न ऐसी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिए। परायी स्त्री के साथ रमण करना, अप्राकृतिक व्यभिचार करना, दूसरो के विवाह कराने में आनन्द लेना—ये सारी बाते ब्रह्मचर्यव्रत की घातक है और इनसे अपने आपको अलग रखना सच्चे अर्थों मे इस नियम का पालन करना है।

भगवान महावीर द्वारा इस अणुव्रत को विशेष महत्व देने के पीछे भी एक कारण था। छठी शताब्दी ई० पू०

का महावीर कालीन धर्म और समाज पूरी तरह व्यभिचार जातिवाद, हिंसा और भ्रष्टाचार के शिकंजे में जकड़ा पड़ा था। तत्कालीन हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने मन्दिरों और मठों में देशवासियों के रहने की प्रथा का प्रचलन कर दिया था, जिससे धार्मिक अनुष्ठानों पर चोट तो पहुंचती ही थी, धर्म के नाम पर विलासिता भी बढ़ती जा रही थी। दूसरी तरफ समाज मे स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी और वे मात्र भोग-विलास की वस्तु बनकर रह गयी थी। आगे चलकर कई स्त्रियो का वर्णन आता है, जो न सिर्फ अपने समाज और वर्ण, वरन् राष्ट्रीय समस्याओं पर भी अपना विचार देने की क्षमता रखने लगीं और समाज में उनका स्थान प्रतिष्ठा एवं गौरव का हो गया। ऐसे समय में भ० महावीर ने पुन: इन व्रतो की व्याख्या कर धर्म को स्थिर रखा।

जैनधर्म के उपरोक्त पांचो व्रतों और नैतिक नियमों पर ध्यान देने से पता चलता है कि उनका सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से न होकर परिवार, समाज और राष्ट्रीय नीतियों एव सिद्धान्तों से है। इनके पीछे जहाँ आध्यात्मिक भावना है, वही यह विश्व की प्रगति, शान्ति और सहृदयता में सहायक हो सकती है। आज विश्व में हिंसा, व्यभिचार और कटुता बढ़ती जा रही है। क्या हम जैनधर्म के पंच-अणुव्रत के माध्यम से इन्हे समाप्त करने में समर्थ नही हो सकते? *अवश्य ही!*

—व्याख्याता इतिहास विभाग.
यू० आर० कालेज, रोसड़ा
(समस्तीपुर)

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

५. विंझाचलम्मि रण्णे मेघणादो इंदजियसहिय। मेघवरणाम तित्थं णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

६. महाशैल विन्ध्याचल दृष्टि पाहा तया मस्तकी तीर्थ आहेति माहा। तेथे मेघनाद मुनि इद्रजया। मेघवर्ष तीर्थ झाली मुक्ति श्रिया॥
(तीर्थनन्दनसंग्रह में चिमणा पडित की तीर्थ वन्दना मे)

७. बृहत्कथाकोष कथा १०६ इलोक २५७ स्थापयित्वा यतो दुर्गे विन्ध्ये भक्तिपरायणै:। दस्युभि: पूजिता सा च नता पुष्पकदम्बकै:॥

८. कथाकोष संधि ४२ कडवक २१ सहु सघेण खवती कलिमलु गय विहरति सा विंझाचलु। दुग्ग विंझ-भिल्लेहि पवत्तिय दुग्ग विंझवासिणि ते वुत्तिय॥

९. विविधतीर्थकल्प प्रकरण ४५ विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्री श्रेयांस:। प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रत:।

१०. महापुराण पर्व ३० श्लोक ६५ से ८४ भूभृता पतिमुत्तुगं पृथुवश धृतायतिम्। परैरलंघ्यमद्राक्षीद् विन्ध्याद्रि स्वमिव प्रभु:॥इत्यादि।

११. चउपन्नमहापुरिसचरिय पृ० ३०९ वियडगिरिकडयकूडनिविडम्मि उद्धुद्धाइयतुंगतरुसकडिल्लम्मि बहुसावयसहस्ससकुलम्मि विंझाडइरण्णगहणम्मि पंचसयजूहाहिवई आसि करिराया।

१२. हरिवंशपुराण सर्ग १७ श्लो० ३६ विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम्।

१३. बृहत्कथाकोष कथा ११८ ततो जरत्कुमारोऽपि हित्वा द्वारावर्ति पुरीम्। कृत्वा *विन्ध्यपुरं तस्थौ* विन्ध्यपर्वतमस्तके॥

१४. उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लो० ३८९।

१५. धर्मपरीक्षा परिच्छेद ११ श्लो० ४०।

१६. पार्श्वचरित सर्ग १२ श्लो० ५५ यत्रास्पदं न लभते जिन शासन ते तेजो रवेरिव तम:प्रसरापहारि। सा बन्धमोहनमयी जिन चित्तवृत्ति: न श्यामिका त्यजति विंध्यगिरेर्गुहेव॥

१७. पासणाहचरिउ संधि ११ कडवक १० ते भिडिय महारहसावलेव अवरुप्परु असुरसुरिन्द जेव। णं उत्तर दाहिण गयवरिंद णं सज्झ विंझ इह महिहरिंद॥

१८. प्रबन्धकोष प्रकरण ९ विंझेण विणा वि गया नरिंद-भवणेसु होति गारविया: विंझो न होई वंझो गएहिं बहुएहि वि गएहिं॥ माणसरहिएहिं सुहाइं जह न लब्भंति रायहंसेहिं। तह तस्स वि तेहिं विणा तीरुत्तंगा न सोहंति।

—महाकोशल महाविद्यालय
जबलपुर

बुन्देलखण्ड का जैन इतिहास[1]

(माध्यमिक काल)

□ अख्तर हुसैन निजामी

बुन्देलखण्ड के माध्यमिक इतिहास के तीन युग है। पहला राजपूत काल, जिसमे कन्नौज के गुर्जर–प्रतिहार साम्राज्यान्तर्गत चन्देलों के राज्य में यमुना नदी के दक्षिण महोबा, कालजर तथा खजुराहो के केन्द्र थे और खजुराहो के दसवी-ग्यारहवी शताब्दी ईसवी के जैन मंदिर आज जगत विख्यात है। दिल्ली की तुर्की सत्ता ने जब ग्वालियर पर अधिकार करके चन्देलो पर सेनाएँ भेजी तो चन्देल, महोबा–कालजर से हट कर आजमगढ चले गये। जैनियो के केन्द्र एरछ, देवगढ, बानपुर, अहार, पपौरा बराबर पनपते रहे, क्योंकि वैश्य-व्यापारी का हित इसमे होता है कि नई सत्ता को सहयोग देकर उसका सरक्षण प्राप्त किया जाय।

पश्चिमी बुन्देलखण्ड मे चन्देरी राज्यान्तर्गत भेलसा (विदिशा) व्यापार का केन्द्र था जिसे तेरहवी शताब्दी के अन्त मे कड़ा के उपराज्यपाल ने लूटा था। इस समय की ग्रंथ-प्रशस्तियों तथा शिलालेखो पर अनुसधान की आवश्यकता है। दूसरा युग, इस समय के बुन्देलखण्ड इतिहास का, तब आया जब अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा, जलालुद्दीन खिलजी को कडा तथा मानिकपुर के बीच, बहने वाली गगा नदी की मंझधार पर मारकर दिल्ली सल्तनत का भार संभाला और ऐनुल मुल्क मुलतानी को भेज कर मालवा के साथ चन्देरी को भी हस्तगत कर वहां एक राज्यपाल की नियुक्ति कर दी। जैनियों के सांस्कृतिक केन्द्र, चन्देरी के राज्यपाल ही के अधिकार मे थे और यह समय चौदहवी शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भ है जब कि 'चन्देरी देश' मे बटिहाडिम के स्थान पर एक उपराजधानी स्थापित की गई।

माध्यमिक बुन्देलखण्ड का तीसरा युग वह है जब कि माण्डवगढ के गोरी—खिलजी नरेशों के राज्य मे परमार राजपूतों की प्रशासनिक परम्परा पर पुनः वृहद मालवा अस्तित्व मे आया और चन्देरी अब मालवा की उपराजधानी बन गई और चन्देरी से बुन्देलखण्ड के उस भूभाग का शासन होता रहा जो मालवा साम्राज्य मे सम्मिलित था। शेष बुन्देलखण्ड पर यमुना नदी के नीचे पश्चिम से पूर्व केन नदी तक कालपी के मालिकजादा तुर्क शासन करते थे। दिल्ली-माण्डव काल अर्थात् चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी में अनेको शिलालेख संस्कृत तथा देशी बोली अथवा मिश्रित भाषा में और इसी प्रकार ग्रन्थ-प्रशस्तिया एव लिपि-प्रशस्तियाँ भी पाई गई है जो दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे से निकाल कर आधुनिक विद्वानो ने उनका संग्रह कर दिया है। यही शिलालेख और प्रशस्तियां ही हमारी जानकारी के आधार है। बटिहाडिम में गढ़ का निर्माण होने से उसका नामकरण बटिहागढ हो गया। यह बटिहागढ़ दमोह जिले की उत्तरी तहसील हटा मे स्थित है और सन १३०५ ईस्वी की खिलजी विजय के पश्चात् तुगलुक राज्यवंश के सुलतान गयासुद्दीन तथा मुहम्मद बिन तुगलुक के समय चन्देरी के मालिक जुलची तथा बटिहा के जलालउद्दीन खोजा का शासन ऐसा रहा है कि उसमें जैन प्रभाव की झलक स्पष्ट है। जुलचीपुर का गाँव, जिसे आज कल 'दुलचीपुर' कहते है, मालिक जुलची का बसाया हुआ माना जाता है और सागर जिले मे स्थित है। जुलची ने सन १३२४-२५ ई० मे एक बावली का निर्माण किया था। तथा बटिहागढ का श्रेय भी उसी को है। इसी बटिहागढ़ में उपराज्यपाल जलाल ने एक 'गोमठ' स्थापित किया जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साथ ही उसने भी एक बावली खुदवाई और एक बाग लगवाया जो

1. अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा की जैन विद्या गोष्ठी, १९८० में पठित।

जलाल बाग के नाम से अब भी जाना जाता है। किन्तु पशुओं के लिएविश्राम गृह बनवाना, यह तो जैन परम्परा का सूचक है।

भट्टारकीय पृष्ठभूमि

ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी में गोरी-खिलची सुलतानो के तत्वावधान मे बुन्देलखण्ड क्षेत्र में दिगम्बर जैनियो की गति-विधियाँ बढ़ गई थी। एक तो होशंगशाह गोरी तथा महमूद शाह खिलची जैसे महान एव महत्वाकाक्षी सुलतानों ने प्रथम स्वतंत्र शासक दिलावर की उदार एव जैन-पक्षीय नीति को आगे बढाया। दूसरे यह कि परिहारो के चन्देरी राज्य का महत्व, जो दिल्ली के खिलजी-तुगलुक सुलतानों ने चन्देरी में राज्यपाल और बटिहागढ मे उप-राज्यपाल रख कर, पिछली एक शताब्दी मे कायम रखा था—उसमें कोई परिवर्तन नही किया और अब चन्देरी, मालवा की उपराजधानी हो जाने के कारण उसकी वही मान्यता रही जो पहले थी। हाँ सुलतान महमूद खिलजी के समय, उपराज्यपाल का कार्यालय बटिहा से उठ कर 'दमोव' (दमोह) आ गया और दमोह से समूचे दक्षिणी बुन्देलखण्ड पर—वर्तमान सागर जिले से जबलपुर जिले के बिलहरी (मुडवारा तहसील, कटनी) तक का शासन सुचारु रूप से होने लगा। इस समूचे चन्देरी क्षेत्र में, जिसको शिलालेखो मे 'चन्देरी देश' कहा गया है—दमोह को जो महत्व प्राप्त हुआ उसके कारण उसका उल्लेख 'दमोवा देश' के नाम से होने लगा और अब बटिहा छोड़ कर जैनी महाजन और सेठ भी दमोह तथा बिलहरी तक फैल गये और उनकी बस्तियो मे आचार्य भट्टारक मुनि तथा सतो का आवागमन हुआ। मन्दिरों-मूर्तियो का निर्माण तथा ग्रन्थो की रचना साथ-साथ चली। इस नवीन प्रगति को समझने के लिए भट्टारकीय आन्दोलन का उल्लेख करना आवश्यक है। ग्रंथ प्रशस्तियो में प्रायः इस युग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता के साथ 'महाखान भोजखान' का उल्लेख किया जाता था। यह विरूद फारसी के 'आजम मुअज्जम' का अनुवाद (आजम=महा) भी है और अपभ्रंश (मुअज्जम=भोज) भी। दिलावर का ज्येष्ठ पुत्र होशंग तो मान्डव की गद्दी पर बैठा और लहुरा बेटा कद्र खान, जो चन्देरी का प्रथम राज्यपाल था—उसकी उपाधियों में भी आजम-मुअज्जम विद्यमान है जो बाद के उत्तराधिकारी बराबर प्रयोग में लाते रहे। माण्डव के सुलतान और चन्देरी के राज्यपाल, गैर-मुस्लिम जनता का हृदय मोहने के लिए, मन्दिर बनवाने और मूर्तियो गढवाने पर कोई रोक-टोक न करते थे और जैन व्यापारियों को उच्च पद तथा सम्मान प्रदान करते थे। सुदृढ़ शासन ही व्यवसाय वर्धक होता है और राज-भक्ति एवं स्वामी भक्ति की नींव डालता है। तभी तो सुलतान गयासुद्दीन खिलजी के समय में (१४६९–१५००)। फारसी के साथ सस्कृत शिलालेखों का बाहुल्य पाया जाता है और जैन ग्रन्थ-प्रशस्तियो में बड़ी सख्या में उसका उल्लेख मिलता है और ये शिलालेख ग्रन्थ-प्रशस्तियो में दूरवर्ती क्षेत्रो में पाई गई है। देवगढ क्षेत्र के शिलालेख में होशंगशाह को 'आलम शाह' कहा गया है (१४२४ ई०)। यह देवगढ, खजुराहो पतन के पश्चात् चन्देरी देश का तत्कालीन सबसे बडा जैन सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था जहाँ जैनियो ने मन्दिरो मूर्तियो की स्थापना की योजना चालू की थी। मूर्ति-लेख में सुलतान का नामोल्लेख, तुर्की शासको की धार्मिक सहनशीलता का द्योतक है। इन सुलतानों की राजधानी माण्डवगढ़ तो ओसवाल-श्रीमाल जाति के श्वेताम्बरों का गढ़ बनी हुई थी और सौ वर्षों तक वे लोग न केवल दरबार मे छाये रहे अपितु सस्कृत भाषा मे धार्मिक ग्रन्थो की रचना करते रहे और कल्पसूत्र कालकाचार्य कथा के ग्रन्थो मे उच्च शैली के चित्र बन-वाते रहे और अनेको ग्रथो की लिपिया कराते रहे।

आधुनिक विद्वानों ने मूर्तिलेखो, पट्टावलियो और ग्रथ-प्रशस्तियो के आधार पर भट्टारकीय दिगम्बर संघो के पट्टों का उल्लेख किया है और पट्टाधीशो की नामावली बनाई है जिससे यह स्पष्ट हुआ है कि पन्द्रहवी शताब्दी ईस्वी में भट्टारक गुरुओ से प्रेरणा लेकर जैन गृहस्थों ने बड़ी स्फूर्ति से मूर्तियों, मन्दिरों, चैत्यालयो एव उपासराओ का निर्माण कराया। नरवर तथा सोनागिर के अतिरिक्त उस समय उदयगिरि, एरछ, आहार एव पपौरा के लघु-केन्द्रो में सांस्कृतिक गतिविधियां चलती थी।

इसी समय मूल सघ—सरस्वती—गच्छ—नन्दी आम्नाय के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वारा चन्देरी में एक पट्ट

अथवा गद्दी स्थापित हुई। उसकी पट्टावली के तीन शुभनाम तत्कालीन बुन्देलखण्ड के जैन इतिहास की 'त्रिमूर्ति' है—प्रथम देवेन्द्र कीर्ति गुजरात के निवासी और भट्टारक पद्मनन्दि, के शिष्य थे और सर्वप्रथम वे ही चन्देरी के मंडलाचार्य बनाए गए थे। ये ही देवेन्द्र कीर्ति सन् १४३६ ई० के पूर्व किसी समय चन्देरी पट्ट के स्थापक हुए, जैसा कि पंडित फूलचन्द शास्त्री प्रमाणों के आधार पर अनुमान करते है। इसी समय खिलजी कुल के मुहमूद खां ने गोरी कुल के मुहम्मद शाह से राज-सत्ता छीन कर चन्देरी विद्रोह का दमन किया था और कई जैन परिवारों के लोग मुहम्मद शाह गोरी का पक्ष लेने के कारण बन्दी बनाए गए थे। उपरोक्त देवगढ़ वाले मूर्ति लेख में सुलतान होशंग शाह के समय, देवेन्द्रकीर्ति का नाम आया है। देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य चन्देरी देश के निवासी परवार जातीय विद्यानन्दी हुए जो सन् १४६८ ई० के पूर्व किसी समय त्रिभुवनकीर्ति के नाम से चन्देरी के मण्डलाचार्य हुए और जब गुरु का देहान्त हुआ तो पट्टाधीश हो गए। इन त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य सुप्रसिद्ध श्रुतकीर्ति थे जो अपनी विद्वता के लिए जाने जाते है। अपभ्रंश की परम्परा इस समय चल रही थी और श्रुतकीर्ति अपभ्रंश के अच्छे लेखक थे। इन्होने गयास शाह खिलजी (१४६६-१५००) तथा नसीर शाह (१५००-११) के समय प्राय: चन्देरी देश के 'जेरहाट' नगर के नेमिनाथ चैत्यालय मे बैठकर ग्रन्थ रचना की है। यह जेरहाट नामी स्थान कौन सा है इसका निर्णय अभी तक नही हो पाया है। रायबहादुर हीरालाल सागर जिले मे जेरहाट (जेरठ) ग्राम का पता देते है किन्तु वहाँ किसी जैन मन्दिर का अवशेष भी नही है।

पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने श्रुतकीर्ति के चार ग्रन्थो का उल्लेख किया है :—

(१) हरिवंशपुराण (२) धर्म परीक्षा (३) परमेष्ठी प्रकाश सार और (४) योगसार। इन ग्रंथों की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई है। उन सब मे सम्वत् समान रूप से एक ही अंकित हुआ है : अर्थात १५५२ विक्रमी—१४९५ ईस्वी और प्रशस्तियो मे परम्परागत, चन्देरी के शासक राज्यपालों का प्रचलित विरुद 'महाखान भोजखान' मात्र ही उल्लिखित है। सुलतान ग्यास शाह का तत्कालीन राज्यपाल, सुप्रसिद्ध मल्लूखान का पुत्र मल्लूखान ही हो सकता है। चन्देरी पट्ट के भट्टारकों की विशेषता यह थी कि वे बुन्देलखण्ड के सुविख्यात दिगम्बर जैन परवार जाति के प्रतिनिधि थे और परवार जाति आज भी बुन्देलखण्ड के जैनियों मे बहुसंख्यक और प्रभावशाली है।

श्रुतकीर्ति के सिवाय, आधुनिक दतिया जिले में स्थित सोनागिर के भट्टारक थे जिनका संघ काष्ठा, गच्छ माथुर और गण पुष्कर था और समकालीन गुरु कमलकीर्ति थे, जो इस गद्दी का पहला नाम है, और इनके उत्तराधिकारी पट्टाधीश शुभचन्द्र थे। प्रथम गुरु कमलकीर्तिदेव के शिलालेख सन ईस्वी १४४९, १४५३ और १४७३ के पाए गए है। सोनागिर, ग्वालियर की शाखा पीठ था और तोमर राजपूतो की राजधानी ग्वालियर का यह जैन केन्द्र सबसे बड़ा एव सम्पन्न था। ऐसी धारणा है कि सोनागिर का नाम, श्रमणागिरि का विकृत रूप है और इसका नामकरण श्रमणसेन मुनि (विक्रमी सम्वत १३३९) से हुआ माना जाता है।

जिन तारण तरण स्वामी

ईस्वी सम्वत् की पन्द्रहवी शताब्दी अनेकों विशेषतायें रखती हैं। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की पर्याप्त प्रगति चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी मुस्लिम संतो द्वारा हुई थी जिसकी ध्वनि अमुस्लिम वैष्णव एवं जैन-समाज के तत्कालीन साहित्य में विद्यमान है। जैन श्रावकों की जो सूची ग्रन्थ प्रशस्तियों मे मिलती है उसमें उनके नाम उस समय के मुस्लिम संतों के अथवा उनकी समाधियों के नाम पर आधारित हैं। प्रान्तीय राज्यों में खुशहाली का दौर-दौरा था और व्यापार उन्नति पर था। एक ओर सूफियों ने ग्रामीण बोलियों में रचना शुरू की तो दूसरी तरफ कायस्थों, खत्रियों और कश्मीरी पण्डितों ने फारसी राजकीय भाषा सीख कर बड़ी संख्या में सुलतानों के कार्यालय को संभाला। विशेष रूप से माण्डव के दरबार में जैनियों का पल्ला भारी था।

जौनपुर की शर्की सल्तनत के अन्तर्गत संत कबीर, जुलाहा जाति के प्रतिनिधि, गोरखपंथी विचारों को लेकर चले और गोरखनाथी विचारधारा स्वयं जैन धर्म से प्रभावित थी। कबीर के निर्गुण प्रेम मार्ग मे इस्लाम का शुद्ध एकेश्वरवाद एव जैन धर्म के उच्च सिद्धान्तों का पुट मौजूद है। कबीर ही के समकालीन गुजरात (अहमदाबाद) के श्वेताम्बर जैन समाज मे संत लोकाशाह की उत्पत्ति हुई जिन्होंने कबीर के समान ही मूर्ति पूजा का खण्डन किया और यतियो को ललकार कर कहा कि प्रतिमा-पूजा का औचित्य क्या है?—आगम साहित्य मे कोई इसका प्रमाण हो तो लाओ।" विदित रहे कि लोकाशाह के प्रमुख दो शिष्यों मे लखमसी पारिख, मालवा की राजधानी माण्डव के निवासी थे अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वाराणसी तथा माण्डवगढ के मध्य स्थित चन्देरी देश (बुन्देलखण्ड) मे इन नवीन विचारो ने दोनों दिशाओं से प्रवेश किया होगा। लोकाशाह का जन्म सम्वत् १४७५ विक्रमी १४१८ ईस्वी है जबकि उनसे एक पीढ़ी पश्चात तारण-तरण स्वामी ने बुन्देलखण्ड के बिलहरी नगर (कटनी तहसील—जबलपुर जिला) मे सम्वत १५०५=१४४८ ई० में जन्म लिया। लोकाशाह का ढूंढिया पंथ सं० १५०८—१४५१ ई० से स्थापित हुआ तो छद्मस्त बाणी के लेखानुसार तारण स्वामी ने अट्ठावन वर्ष की अवस्था में अपने मत का प्रचार किया जिसका सम्वत् १५६३ ईस्वी १५०६ बैठता है।

तारण-तरण स्वयं विद्वान् न थे। एक भक्त के लिए विद्वान होना अनिवार्य भी नही है। भट्टारकों के रूढ़िवादी आचार-विचार और उनके शिथिलाचार का यह युग था। तारण परवार जातीय गढा साहु के यहाँ उत्पन्न हुए और सिरोज नगर (जिला विदिशा) के पास सेमल खेड़ी मे अपने मामा के घर जाकर रहे। जब होश सभाला तो मूलसंघीय चन्देरी पट्टाधीश, विद्वान लेखक श्रुतकीर्ति का जमाना था। स्वयं तारण-तरण सत्य की खोज मे यथाकथित भट्टारकों से दूर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विभिन्न स्थानों में तप करते रहे। भट्टारक तो प्राचीन मुनियों के आदर्श से नीचे गिर चुके थे और उनके कठोर अनुशासन को त्याग कर आलस्य तथा भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगे थे। यद्यपि जैन संस्कृति के प्रति उनकी सेवाएं ऐसी है जिनकी बदौलत न केवल मूर्ति गढन, मन्दिर निर्माण एव ग्रथ लिपि-करण को बड़ा प्रोत्साहन मिला किन्तु द्रव्य-सकलन और उनके ठाठ-आडंबर के कारण वे मठाधीश बन कर रह गए थे। परस्पर विचरते रहने के विपरीत, भट्टारकों ने चैत्यालयो और उपासराओं मे तत्र-मत्र तथा आयुर्वेद ज्योतिष का अभ्यास चलाया। भट्टारकों मे जो विद्वान थे, उनके विचार संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी थे और शूद्रो तथा स्त्रियों की मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नही करते थे। तारण-तरण के विचार भट्टारको से अलग थे और सर्वजातीय अपनी मडली सहित तारण सेमल खेडी, सूखा (दमोह जिला) तथा राख (अब मल्हारगढ़) के निकटवर्ती जगलो मे तपस्या करते रहे। मुसलमान शिष्यो मे लुकमान साह की कुटिया निसई क्षेत्र के हाते के बाहर विद्यमान है। दूसरे शिष्य रूइयारमन भी मुसलमान पिंजारे कहे जाते है।

तारण-तरण की एक दर्जन रचनाओ का सग्रह आज उपलब्ध है जिसमे जैन धर्म के विशेष सिद्धातो—अनेकान्त तथा स्याद्वाद—का पग-पग पर दिग्दर्शन होता है। यद्यपि तारण स्वामी के क्रियाकाड मे मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान न था तथापि दिगम्बर श्रावको और उनके गुरुओ की मूर्ति पूजा पर सीधा आघात उन्होने नही किया जैसा कि लोकाशाह ने श्वेताम्बरों और कबीर ने वैष्णवो के बीच किया था। तारण की रचनाओ की भाषा विचित्र और अटपटी है जिसमें सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्दावली का सम्मिश्रण है।

तारण स्वामी ने सड़सठ वर्ष की अवस्था मे शरीर त्याग दिया। उनकी समाधि निसई जी के नाम से तारणपंथी समाज का मुख्य केन्द्र है जहा से दिगम्बर परवार जाति के इस सर्वोच्च महान आत्मा की विचारधारा का प्रकाश चारों दिशाओ मे फैलता रहा है। किन्तु कबीर तथा लोका जैसे ऊंचे भक्तो की टक्कर का यह

महापुरुष ऐसा है जिसके जीवन का वृत्तान्त बहुत ही कम ज्ञात है। तारण पंथ के संगठन कार्य को हाथ में लेने वाला कोई योग्य विद्वान भी तारण समाज ने पैदा नहीं किया। आज भी तारण वाणी पर जो कुछ कार्य हुआ है अथवा हो रहा है उसके लिए समाज ऐसे विद्वानों का ऋणी है जो या तो अजैन हैं या तारणपंथी भी नहीं हैं।

उपरोक्त वर्णन का यह अर्थ नहीं है कि बुन्देलखण्ड में जैन समाज के भीतर प्रतिमा पूजा का, तारणपंथी आन्दोलन द्वारा अंत कर दिया गया। कदापि नहीं। तारणपंथी अल्प संख्या में रहे और आज भी हैं। जैन गृहस्थ, अपने भट्टारक गुरुओं के अनुसरण में, मूर्ति निर्माण तथा स्थापना में एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते रहे। ऐसे श्रावकों में, जिवराज पापड़ीवाल ने मूर्ति निर्माण में विशेष ख्याति प्राप्त की है। अकेले ही उसने एक लाख जैन प्रतिमाएं गढ़वा कर समस्त उत्तरी भारत के जैन मन्दिरों में भेज दी और शायद ही कोई जैन मन्दिर ऐसा हो जहाँ जिवराज पापड़ीवाल लेखांकित विक्रम सम्वत १५४८=१४९१ ईस्वी की कोई न कोई मूर्ति न पाई जाती हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हीरालाल—दमोह दीपक

खान बहादुर इम्दाद अली : गजेटियर आव दमोह डि०

— : दमोह डि० गजे० (१९०५)

— : दमोह डि० गजे० (१९७४)

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर रा० के अभिलेख

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर के तोमर

— : ग्वालियर स्टेट गजेटियर

— : गाइड टू चन्देरी

— : एपिग्राफिया इण्डिका

— : ई० आय० (पर्शियन ऐन्ड अरेबिक सप०)

— : इन्डियन एपिग्राफी (वार्षिक रिपोर्टस)

— : ग्वालियर राज्य के पुरातत्व पर वार्षिक रिपोर्टस

राय ब० हीरालाल : सी० पी तथा बरार के शिला-लेखों की विवरणात्मक सूची

परमानन्द जैन शास्त्री : जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह

— : अनेकान्त त्रैमासिक, दिल्ली

शिहाब हकीम : मआसिर-ए महमूद शाही

सीतामऊ फोटोस्टाट)

दलसुख मालवणिया : श्री लोंकासाह (गुजराती) (रत्न मुनि स्मृति ग्रंथ)

— : लुका के बोल (स्वाध्याय, वड़ोदरा II, १)

— : हिन्दी अनुवाद के लिए देखिये सम्यग्दर्शन, सैलाना (म०प्र०)

उपेन्द्रनाथ दे : मेडीवल मालवा

— : उर्दू (पत्रिका) पाकिस्तान

— : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (त्रैमासिक)

— : जैन ऐन्टीक्वेरी, आरा

— : जनरल मध्यप्रदेश इतिहास परिषद

फूलचन्द्र जैन शास्त्री : ज्ञान समुच्चय सार की भूमिका एवं क्षुल्लक चिदानन्द स्मृति ग्रंथ और अन्य लेख

नाथूराम प्रेमी : जैन हितैषी (पत्रिका) रीवाँ (म० प्र०)

□□

क्षमावणी

(आध्यात्मिक)

मैं हूं चेतन निज-स्वभाव में, मुझमें लघु-गुरु-भाव नहीं।
क्षमा दान-आदान पराश्रित, लैन-दैन का चाव नहीं॥

कितने जीवों ने एकाकी, मिश्रित मम अपमान किए।
मैंने उनको जाना-पर, अनजाने जैसे मान लिए॥

क्षमा धरम मेरा है अपना मुझसे छूट नहीं सकता।
कैसे लूं-दूं इसे आत्मवर ! सूझ नहीं मुझको पड़ता॥

क्षमा-दान व्यापार बना अब इसमें है कुछ सार नहीं।
क्यों करे, क्षमा-का दान कोई, जब, क्षमा किसी को भार नहीं॥

पर्यूषण में अनुभव पाया, स्वाश्रित-समरस पीने का।
भाव जगा है मन में मेरे, सिद्ध-शिला पर जीने का॥

मैं अपने में जीता हूं, जगती जन अपने में जीवें।
अध्यात्म-पर्व का लाभ उठा, सब प्राणी समरस को पीवें॥

जैसे होवें भाव आपके मुझको भी लखते रहना।
क्षमा-रत्न अनमोल निधि ये, कभी किसी को क्या देना॥

आत्म-भाव में आप सदा रस स्वातम का चखते रहना।
दे ले क्षमा यदि कोई तो, मौन-रूप लखते रहना॥

जब क्षमा किसी को दान न की तब क्षमा हमारे साथ रही।
क्षमा-शील होने से जगती, 'पद्म' बनेगी सौख्य मही॥

(व्यावहारिक)

'खंमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केण वि॥"

□ श्री पद्मचन्द शास्त्री

□□

जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग

☐ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

व्यक्ति के जीवन में स्वप्नों का जो स्थान है वही समाजजीवन मे पुराण कथाओं का है। स्वप्न में जिस प्रकार कुछ यथार्थ, कुछ कल्पना और कुछ आशा-आशंका का मिश्रण होता है उसी प्रकार पुराण कथाओ मे भी पाया जाता है। स्वप्नों से व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है उसी प्रकार पुराण कथाओ से समाज की अन्तर्निहित प्रवृत्तियो का सकेत मिलता है। बौद्ध व जैन परपरा मे प्रारभिक युग मे आगम एव त्रिपिटक मे महावीर और बुद्ध के जीवन और पूर्वभवो की कथायें प्रकीर्ण रूप मे है। बाद मे एक साहित्य प्रकार के रूप मे जैन परंपरा मे पुराण कथाओ को प्रथमानुयोग यह नाम मिला। विमल का पउमचरिय, सघदास-धर्मसेन की वसु-देवहिण्डी और शीलांक का चउपन्नमहापुरिसचरिउ ये प्राकृत में प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रथ है। सस्कृत में रविषेण का पद्मचरित, जिनसेन का हरिवंशपुराण और जिनसेन (द्वितीय) तथा गुणभद्र का महापुराण ये प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त हरिषेण, श्रीचन्द्र आदि के कथाकोश भी महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध परपरा मे प्रथमानुयोग जैसा शब्द तो नही है परन्तु विस्तृत कथासाहित्य अवश्य है। पालि में जातक और सस्कृत में अवदानशतक, दिव्या-वदान, ललितविस्तर आदि बौद्ध कथा साहित्य के मुख्य ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन दो धाराओ में प्राप्त कुछ सामान्य धारणाओ के साम्य-वैषम्य पर विचार करेंगे।

२. दीर्घ आयु

मानवों की आयु प्राचीन समय मे बहुत अधिक हुआ करती थी यह दोनों परपराओं की धारणा है। दिव्याव-दान के सघरक्षितावदान के अनुसार काश्यप बुद्ध के समय लोगों की आयु बीस हजार वर्ष थी,[१] चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वा-दान के अनुसार उस बोधिसत्त्व के समय की मनुष्यायु चवालीस हजार वर्ष थी।[२] भविष्यकाल में दीर्घ आयु होगी ऐसी भी धारणा थी। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान के अनुसार जब मैत्रेय बुद्ध होंगे तो मनुष्यायु अस्सी हजार वर्ष होगी।[३] जैन धारणा में ये सख्यायें काफी अधिक है। प्रथम तीर्थङ्कर वृषभदेव की आयु चौरासी लक्ष पूर्व[४] और अठारहवें तीर्थङ्कर अरनाथ की आयु चौरासी हजार वर्ष कही गई है,[५] इसी प्रकार भविष्यकाल के तीर्थङ्करों की आयु क्रम से बढ़ती हुई बताई गई है।[६]

३. तीर्थङ्करत्व या बुद्धत्व

दोनों परंपराओ की धारणा है कि वर्तमान के समान भूतकाल और भविष्यकाल में बहुत से तीर्थङ्कर या बुद्ध हुए और होंगे। जैन परपरा में तीनो कालो में चौबीस तीर्थङ्करों का कथन है। अवदानों में बुद्धों की संख्या बहुत अधिक है। बुद्ध या स्तूप की पूजा या उनको दिये गये दान से विशुद्धचित्त होकर कोई प्राणी मैं बुद्ध बनूं इस प्रकार चित्तोत्पाद करता है यह अवदानों में बुद्धत्व प्राप्ति की प्रक्रिया के प्रारभ का प्रकार है।[७] जैन पुराणों में तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के लिए ऐसी कोई विशिष्ट घटना को निमित्त नही बताया गया है—सामान्य रूप से तपस्या से या दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं से तीर्थङ्करत्व की प्रक्रिया का प्रारंभ बताया गया है।[८]

४. बुद्धकृपा

तीर्थङ्कर और बुद्ध महान् लोकोपकारक है, इस विषय मे दोनों परपराओ की धारणा समान है। परन्तु अवदानों मे दुःखित भक्तो की पुकार सुन कर बुद्ध स्वयं या इन्द्र को आदेश देकर भक्तों को दुःखमुक्त करते बताये गये हैं।[९] जैन पुराणो मे इस प्रकार तीर्थङ्करों की प्रत्यक्ष सहायता का वर्णन नहीं है—उनके उपदेश या भक्ति से प्राप्त पुण्य से दुःखमुक्ति बताई गई है। अपवाद रूप मे जिनप्रभु के विविध तीर्थकल्प मे अश्वावबोध तीर्थकल्प में बताया गया

है कि भरुकच्छ के राजा के घोड़े को जब अश्वमेध में बलि दिया जा रहा था तब उसके उद्धार के लिए मुनि-सुव्रत तीर्थङ्कर प्रतिष्ठान नगर से एक रात्रि में साट योजन चलकर भरुकच्छ पहुंचे और उस अश्व को पूर्व जन्म कथा सुनाकर प्रतिबोधित किया।[१०]

तिर्यंच प्रतिबोध

अश्वावबोध के समान अन्य अनेक जैन कथाओं मे पशु-पक्षी नमस्कार मंत्र या उपदेश श्रवण से प्रतिबोधित होते बताये हैं। पार्श्वनाथ कथा में नाग-नागिनी मरणासन्न स्थिति में राजकुमार पार्श्व का उपदेश सुनकर देव-पद प्राप्त करते है।[११] जीवन्धर कथा मे एक कुत्ता जीवधर से नमस्कार मंत्र सुनकर यक्षपद प्राप्त करता है।[१२] इसी प्रकार बौद्ध कथाओं में भी पशु-पक्षियो के उद्धार के प्रसग वर्णित हैं। दिव्यावदान के शुकपोतकावदान मे दो तोतों का वर्णन है जो बिल्ली द्वारा पकड़ जाने पर नमो बुद्धाय कहते हुए प्राण त्याग कर देवपद पाते है।[१३] इसी ग्रन्थ के अशोकवर्णावदान के अनुसार वैशाली मे मारा जा रहा एक बैल बुद्ध की कृपा से मुक्त होता है और अगले जन्म में प्रत्येक बुद्ध होता है।[१४]

६. निदान

जैन कथाओं मे तपस्वी अपने तप का अमुक फल प्राप्त हो ऐसी इच्छा करे उसे निदान कहा गया है। सुभौम चक्रवर्ती की कथा,[१५] त्रिपृष्ठ नारायण की कथा,[१६] कंस की कथा[१७] आदि में इसके उदाहरण बताये गये हैं। बौद्ध कथाओं मे ऐसे सकल्प को मिथ्या प्रणिधान कहा गया है। दिव्यावदान के कोटिकर्णावदान के अनुसार एक उपासिका का पुण्य इतना अधिक था कि वह त्रायस्त्रिंश देवो में उत्पन्न होती परन्तु मिथ्या प्रणिधान के कारण वह प्रेत-महर्धिका बनी।[१८] बौद्ध कथाओं में प्रणिधान शुभ रूप में भी वर्णित है। जैसाकि ऊपर बताया है—मैं बुद्ध बनूं ऐसे चित्त के उत्पाद से बुद्धत्व की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान में शख चक्रवर्ती का प्रसंग है जिसने पूर्व जन्म में मैं चक्रवर्ती बनूं ऐसा संकल्प किया था।[१९]—इसमें अशुभत्व का कथन नहीं है।

७. स्त्रियों की हीनतर स्थिति

यद्यपि दोनों परम्पराओं में समता का बड़ा सम्मान है तथापि स्त्रियों के विषय में दोनों की धारणा अनुदार है। बौद्ध ग्रंथ सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है कि ब्रह्मपद, शक्रपद, महाराजपद, चक्रवर्तिपद और बुद्धपद स्त्री पर्याय में प्राप्त नही होते।[२०] जैन परपरा का भी इस विषय में प्राय: यही मत है। अपवाद रूप में श्वेतांबर परंपरा में मल्लि तीर्थंकर को अवश्य स्त्री बताया गया है।[२१] जैसाकि सुविदित है—स्त्रियों की मुक्ति प्राप्ति श्वेतांबर और दिगबर संप्रदायों में विवाद का विषय रहा है।

८. देवस्थिति

जैन कथाओं में तीर्थंकरों के और बौद्ध कथाओं में बुद्धों के दर्शन-पूजन के लिए देवों के आगमन का वर्णन प्राय: मिलता है।[२२] अन्तर यह है कि अवदानो में बुद्ध के आदेश से देवराज वर्षा कर भक्तों को दु:खमुक्त करते है या धन देकर किसी बैल को बचाते हैं।[२३] तीर्थंकरों की कथाओं में देवों को ऐसे कोई कार्य करने को नहीं कहा गया है। दिव्यावदान के मांधातावदान में त्रायस्त्रिंश देवों की आयु मनुष्यों की गणना से ३६०००० वर्ष बताई है।[२४] स्पष्ट है कि जैन कल्पना इस विषय में काफी बढ़ी-चढ़ी है जिसमें देवों की न्यूनतम आयु दस हजार वर्ष और अधिकतम तैंतीस सागर बताई गई है।[२५] मांधातावदन में देवलोक सुमेरु पर्वत के ऊपर बताया गया है।[२६] जैन कल्पना भी वही है।[२७] परन्तु इस अवदान में राजा मांधाता देवलोक में जाकर इन्द्र के अर्धासन पर बैठने का सम्मान प्राप्त करता है।[२८] ऐसी बात जैन कथाओं में संभव नही है। दिव्यावदान के नगरावलम्बिकावदान आदि में वर्णन मिलता है कि देवों का ज्ञानदर्शन अपने स्थान से नीचे प्रवृत्त हो सकता है—ऊपर नही।[२९] जैन कथाओं में भी इसी आशय का वर्णन मिलता है।[३०] जैन कथाओं में देव अपनी नियत आयु पूर्ण होने के बाद नियत गति में जन्म लेते बताये गये हैं। देवगति में वे उत्तरकालीन गति में परिवर्तन नहीं कर सकते।[३१] इसके विपरीत दिव्यावदान के सूकरिकावदान में कथन है कि एक देव जो सूकर योनि में उत्पन्न होने वाला

(शेष पृष्ठ २७ पर)

ज्ञान प्राप्ति के उपाय :

अवग्रहेहावायधारणाः*

□ डा० नंदलाल जैन

सामान्य जनता में धार्मिक वृत्ति को जगाये रखने के लिये अनेक पुरातन आचार्यों ने समय-समय पर उपयोगी धर्म ग्रन्थों की रचना की है। इनका मुख्य विषय 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' ही होता है। वस्तुतः मोक्ष और उसका मार्ग साधु-जन सुलभ होता है, सामान्य जन के लिये तो गृहस्थ मार्ग ही प्रमुख है। जिन गृहस्थो के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्य कर्मों का जितना अल्प बंध या उदय होता है, वे उतना ही मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि 'निर्वाणकांड' मे मुक्तों की अपरमेय संख्यायें निरूपित की गई है, फिर भी पिछले पच्चीस-सौ वर्षों में कितने मोक्षगामी हुए है, इसका कोई विवरण उपलब्ध नही है। फिर भी, मुक्ति मे एक मनोवैज्ञानिक आकर्षण है, शुभत्व की ओर बढने की प्रेरणा है। यह मार्ग निसर्गज भी बताया गया है और अधिगमज भी।[1] निसर्गज मार्ग विरल ही दृष्टिगोचर हुआ है। इसलिये इसके अधिगम के विषय मे शास्त्रो मे पर्याप्त वर्णन आया है। इसके एक लघु अंश पर ही यहा विचार किया जा रहा है।

अधिगम के लिये विषय वस्तु के रूप मे सात तत्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है। इनका अधिगम प्रमाण और नयो से किया जाता है।[2] इनका विवरण अनुयोग द्वार मे विशेष रूप से दिया जाता है। पदार्थों का अध्ययन सामान्य या विशेष अपेक्षाओं से छह या आठ अनुयोग द्वारो[3] के रूप मे किया जाता है। यह अध्ययन ही ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान सामान्य जन को इन्द्रिय, मन और भुज की सहायता से होता है। योगिजन अथवा महात्माओं को यह ज्ञान आत्मानुभूति के माध्यम से भी प्राप्त हो सकता है जहाँ उन्हें बाह्य साधनो की आवश्यकता नही पड़ती। संसारी जीव ही क्रमिक विकास करते हुए योगी होता है, फलतः उसका ज्ञान-विकास भी बाह्य-साधन-प्रमुख विधि से आगे चल कर अन्तर्मुखी हो जाता है, ऐसा मानना चाहिये। सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति के लौकिक साधनो के रूप मे इन्द्रिया और मन सुज्ञात है। इनकी सहायता से प्राप्त ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। इस प्रकार, सामान्य जन मति और श्रुत—दो ज्ञानो से ही आगे बढता है। श्रुतज्ञान स्वय या दूसरों के मतिज्ञान का रिकार्ड है। मतिज्ञान स्वय का अपना प्रयोग और दर्शन-जन्य ज्ञान है। एक वैज्ञानिक भी इन्हीं दो ज्ञानो से वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रारंभ, विकास और पुनर्निर्माण करता है। श्रुतसागर सूरि ने बताया है कि यह ज्ञानमार्ग ही हमारे लिये सरल, परिचित और अनुभवगम्य है।[4]

मतिज्ञान के नाम—

मैं सर्वप्रथम अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान-मतिज्ञान की बात करू। उमास्वामी ने इसके अनेक नाम बताये हैं—स्मृति, सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि आगम ग्रन्थों मे मति के बदले अभिनिबोध का ही नाम आता है, कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम मतिज्ञान के नाम से इसका निरूपण किया। उमास्वामी ने इसके अनेक रूपो को वर्णित किया। इसके अंतर्गत अनेक मनोप्रधान या बुद्धिप्रधान प्रवृत्तियां भी मति मे ही समाहित होती है।[5] यह वर्तमान को ग्रहण करता है, इस आधार पर स्मृति आदि को मतिज्ञान नही माना जाना चाहिये था। क्योंकि इनमे अतीत का भी सबध रहता है। फिर भी अकलंक[6] ने इन्हे मनोमति मान कर सामान्य मतिज्ञान के रूप मे ही बताया है। वस्तुतः इस आधार पर स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क,

* जैन विद्या सगोष्ठी, उज्जैन, १९८० मे पठित निबंध का परिवर्धित रूप।

कार्यकारण भाव), और अभिनिबोध (अनुमान व्याप्ति-ज्ञान) को जिन दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण माना है, उनका निरसन कर जैनों ने इन सभी को मतिज्ञान में समाहित कर लिया। भट्टाचार्य[7] ने चिन्ता और अभिनिबोध को वर्तमान आगमन और निगमन तर्क शास्त्र के समरूप बताकर पाश्चात्य तर्कशास्त्र की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

उमास्वामी के मतिज्ञान के अनर्थान्तरों के दिग्दर्शक सूत्र की टीकाओं में अनर्थान्तरत्व (पर्यायवाची) पद पर अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर किये गये है। इनमे इसी सूत्र में वर्णित 'इति' शब्द को इत्यादि वाचक, प्रकार वाचक या (अभिधेयार्थवाचक) के रूप में माना है। जब 'इति' को इत्यादि वाचक मानते है, तब मतिज्ञान के कुछ अन्य पर्यायवाची भी बताये जाते हैं इनमे प्रतिभा, बुद्धि मेधा, प्रज्ञा समाहित होते हैं।[8] इन सभी पर्यायवाचियों के विशेष लक्षण पूज्यपाद ने तो नही दिये है पर अकलंक और श्रुतसागर ने दिये है। इनके अनुसार, मतिज्ञान के इन विभिन्न नामरूपों से उसकी व्यापकता तथा क्षेत्रीय विविधता का स्पष्ट आभास होता है क्योंकि प्रत्येक नाम एक विशिष्ट अर्थ और वृत्ति को प्रकट करता है।

मतिज्ञान की प्राप्ति के चरण—

सामान्य जन को मतिज्ञान कैसे उपलब्ध होता है ? इस विषय पर ध्यान जाते ही उमास्वामी के दूसरी सदी के 'तत्त्वार्थसूत्र' का 'अवग्रहेहावायधारणाः' (१,१५) स्मरण हो आता है। यद्यपि आगम ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख पाया जाता है,[9] (इससे इनकी पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है), पर साधारण जन के लिये तो 'तत्वार्थसूत्र' ही आगम रहा है। सचमुच मे, सैद्धान्तिक आधार पर यह सूत्र एवं इसकी मान्यता सर्वाधिक वैज्ञानिक है। इस मान्यता मे ज्ञान प्राप्ति के लिये वे ही चरण बताय गये है जो आज के वैज्ञानिक चौदहवी सदी मे अपने पर-अनुभव से बता सके। काश, इन्हें हमारे आगम और तत्वार्थ सूत्र मिले होते ?

इस सूत्र के अनुसार, मतिज्ञान प्राप्ति के पांच चरण होते हैं—प्रथम, इन्द्रिय और पदार्थों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सपर्क से निराकार दर्शन, फिर साकार सामान्य ज्ञानात्मक अवग्रह, फिर किंचित् मन का उपयोग कर विचार-परीक्षण करने से वस्तु विशेष का अनुमान—**ईहा**, इन्द्रिय-सबद्ध वस्तु विशेष का उपलब्ध तथ्यों और विचारों के आधार पर निर्णय—**अवाय** या अपाय, और तब उसे भावी उपयोग के लिये ध्यान, स्मरण मे रखना—**धारणा**। ये क्रमिक चरण हैं, पूर्वोत्तरवर्ती हैं। इन्ही चरणों को वैज्ञानिक जगत अपनी स्वय की पारिभाषिक शब्दावली[10] मे निम्न प्रकार व्यक्त करता है :

१. प्रयोग और निरीक्षण	दर्शन और अवग्रह
२. वर्गीकरण	ईहा
३. परिणाम निष्कर्ष, उपपत्ति	अवाय
४. नियम सिद्धान्त	धारणा

इनमें से प्रथम चरण को छोड़ अन्य चरणों मे मन और बुद्धि की प्रमुखता बढती जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे यहां धारणा शब्द का अर्थ कुछ सीमित अर्थों मे किया गया है। वस्तुतः यह शब्द अनेकार्थक है और इसे केवल स्मरण मात्र नही मानना चाहिये। इसे उपरोक्त चार चरणों से प्राप्त इन्द्रिय और मन के उपयोग से निष्कर्षित ज्ञान के व्यापकीकरण या सैद्धान्तिक निरूपण के समकक्ष एव श्रुत के आधार के रूप में मानना चाहिए। यही परिभाषा इसे नियम या सिद्धान्त के समकक्ष ला देती है। इस प्रकार ज्ञानप्राप्ति की वर्तमान चतुश्चरणी वैज्ञानिक पद्धति 'अवग्रहेहावायधारणाः' का नवीन सस्करण ही है। इस पर आधारित धर्म या दर्शन को वैज्ञानिकता प्राप्त हो, इसमें आश्चर्य नही करना चाहिये।

मतिज्ञान के भेद और सीमायें—

शास्त्रो में अवग्रह आदि को मतिज्ञान के भेद के रूप में माना गया है। इसमें अवग्रह का विशेष वर्णन है क्योंकि यह हमारे ज्ञान का प्रथम और मूलभूत चरण है। यह श्रुत निःसृत और अश्रुत अनिःसृत के रूप में दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है।[11] यह व्यक्त रूप से और अव्यक्त रूप से भी उत्पन्न हो सकता है। अव्यक्त अवग्रह चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों के कारण ही होता है अव्यक्त अवग्रह दर्शन की समतुल्यता प्राप्त कर सकता है, ऐसा भी कहा गया है। अवग्रह के विपर्यास में,

ईहादिक चरण व्यक्त रूप में ही होते है। मतिज्ञान से पदार्थों की जिन विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है, उनकी संख्या १२ बताई गई है :[१३]

१-२ बहु और अल्प	संख्या तथा परिणाम (भार) द्योतक
३-४ बहुविध और एकविध	पदार्थों के विविध जातीय रूपो की संख्या तथा परिमाण
५-६ क्षिप्र और अक्षिप्र	वेग शील और मन्द पदार्थ का बोधक
७-८ अनि:सृत और नि.सृत	अप्रकट या ईषत् प्रकट और प्रकट पदार्थ बोधक
९-१० अनुक्त और उक्त	अभिप्रेत या कथित पदार्थ बोधक
११-१२ ध्रुव और अध्रुव	पदार्थ की एकरूपता व परिवर्तनीयता का द्योतक

इन विशेषताओं के देखने से पता चलता है कि मतिज्ञान से पदार्थ के केवल स्थूल गुणो का ही ज्ञान होता है, आतंरिक संघटन या अन्य नैमित्तिक गुणों का नही। इससे हमे प्राचीन मतिज्ञान की सीमा का भी भान होता है। यही नही, उपरोक्त बारह विशेषताओ मे अनेक में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। जिनका सतोषजनक समाधान शास्त्रीय भाषा से नही मिलता।[११] फिर भी, मतिज्ञान के १२×४×६ (५ इन्द्रिय+१ मन)=२८८ और व्यजनावग्रह के १२×४ (चार इद्रिय)=४८=३३६ भेद शास्त्रों में किये गये हैं। इसस सीमित मतिज्ञान की पर्याप्त असीमता का पता चलता है। इसकी तुलना मे, यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्मतर निरीक्षण क्षमता के इस उपकरण प्रधान युग मे मतिज्ञान की सीमा मे काफी वृद्धि हो चुकी है। अब इससे बहिरंग के अवग्रहादिक के साथ अंतरंग के अवग्रहादिक भी सम्भव हो गये हैं। मतिज्ञान के क्षेत्र में पिछले दो सौ वर्षो के विकास ने हमारे पदार्थ विषयक शास्त्रीय विवरणों को काफी पीछे कर दिया है।

ज्ञान के क्षितिजों एवं सीमाओं का विकास—

यह बताया जा चुका है कि सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति दो प्रकार के ज्ञानों से होती है—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान की परिभाषा शास्त्रों में अनेक प्रकार से की गई है। कुछ लोग श्रवणेन्द्रिय प्रधानता के आधार पर श्रुत को मतिज्ञान मानना चाहते है, पर यह सही नही है। अकलंक[१४] ने साहचर्य, एकत्रावस्थान, एकनिमित्तता, विषय साधारणता तथा कारण-कार्य सदृशता के आधार पर मति-श्रुत की एकता का खंडन करते हुए बताया है कि श्रुतज्ञान मनोप्रधान है, इन्द्रियप्रधान नही। वह त्रिकाल-वर्ती तथा अपूर्व विषयों का भी ज्ञान कराता है। उसमें बुद्धिप्रयोग के कारण पदार्थों की विशेषताओं, समानताओं एव विषमताओ के अपूर्व ज्ञान की भी क्षमता है। यह सही है कि श्रुतज्ञान का आधार मतिज्ञान ही है, लेकिन यह देखा गया है कि श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की सीमायें बढाने में सहायक होता है। शास्त्री[१५] ने श्रुतज्ञान से० श्रुतज्ञान की भी औपचारिक उत्पत्ति मानी है। इसीलिये जो सुना जाय, जिस साधन से सुना जाय या श्रवण क्रिया मात्र को पूज्यपाद और श्रुतसागर ने श्रुत कहा है। अकलंक ने इस परिभाषा में एक पद और रखा—श्रूयते स्मेति, जो सुना गया हो, वह भी श्रुत है।[१६]

यह श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। साधारणत: श्रुत को अक्षरात्मक एव भाषा रूप माना जाता है। प्रारंभ में यह कण्ठगत ही विकसित हुआ पर यह समय-समय पर लिखित और मुद्रित रूप में प्रकट होता रहा है। वस्तुत: आज की भाषा में अक्षरात्मक श्रुत विभिन्न प्रकार के मतिज्ञानों से उत्पन्न धारणाओ का रिकार्ड है जिससे मानव के ज्ञान के क्षितिजो के विकास में सहायता मिले। वर्तमान विज्ञान में ज्ञानार्जन के साथ उसके संप्रसारण का भी लक्ष्य रहता है। विज्ञान की मान्यता है कि ज्ञान का विकास पूर्वज्ञात ज्ञान के आधार पर ही हो सकता है। इसलिये मति से प्राप्त ज्ञान को श्रुत के रूप में निबद्ध किया जाता है। विज्ञान का यह सप्रसारण चरण ही अक्षरात्मक श्रुत मानना चाहिये। इसकी प्रामाणिकता इसके कर्ताओं पर निर्भर करती है: उनकी निरीक्षण-परीक्षण पद्धति से प्राप्त निष्कर्षों की यथार्थता पर निर्भर करती है। अकलंक[१७] ने श्रुत की प्रामाणिकता के लिये अविसवादकता तथा अवंचकता के गुण माने हैं। इस आधार पर उन्होंने

'प्राप्त' की बड़ी ही व्यापक परिभाषा दी है और प्राचार्यों के रचित ग्रन्थों और उसके अर्थबोधों को भी प्रामाणिकता की कोटि में ला दिया है। यही नही, यो यत्र अविसंवादक: स तत्र आप्त:। तत: परोऽनाप्त:। तत्वप्रतिप दनमविसवाद:, तदर्थज्ञानात् ११' के अनुसार वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा लिखित श्रुतों को भी प्रामाणिकता प्राप्त होती है। फलत: नवीन श्रुत में नये अवाप्त ज्ञानक्षितिजो का समाहरण किया जाना चाहिये। यह आज के युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान प्राचीन श्रुत की प्रामाणिकता पर अकलंक के मत का विशेष प्रभाव नही पड़ता। उनके प्रणेताओं ने परपराप्राप्त ज्ञान को स्मरण, मनन और निदिध्यासन के आधार पर लिखा है। यही नही, उन्होंने विभिन्न युगों में उत्पन्न सैद्धान्तिक एव तार्किक समस्याओं के लिये परिवर्धित एवं योगशील व्याख्यायें दी हैं जो उनके मनन और अनुभूति के परिणाम हैं। इनसे अनेक भ्रान्तियाँ भी दूर हुई है। विशेषावश्यक भाष्य और लघीयस्त्रय में इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृति, वीरसेन द्वारा स्पर्शनादि इन्द्रियो की प्राप्यकारिता—अप्राप्यकारिता की मान्यता, अष्टमूल गुणों के दो प्रकार, प्रमाण के लक्षण का क्रमिक विकास, काल की द्रव्यता आदि तथ्य वस्तुतत्व निर्णय में जैनाचार्यों द्वारा परीक्षण और चिन्तन की प्रवृत्ति की प्रधानता के प्रतीक हैं। इसीलिये आचार्य समंतभद्र को 'परीक्षा प्रधानी' कहा जाता है। स प्रक्रिया में इन्द्रिय और बुद्धि का क्रमशः अधिकाधि.. उपयोग किया जाता है इस प्रकार हमारे विद्यमान श्रुत परीक्षण प्रधान है, वैज्ञानिक है।

वैज्ञानिक ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया की एक और विशेषता होती है। यद्यपि यह पूर्वज्ञात ज्ञान या श्रुत से विकसित होती है, पर यह पूर्वज्ञात ज्ञान की वैधता का परीक्षण भी करती है। उसकी वैधता का पुनर्मूल्याकन करती है। सामान्यत: वैज्ञानिक ज्ञान का प्रामाण्य परत: ही अधिक समीचीन माना जाता है। हमारे शास्त्रों में ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दशाओ के प्रामाण्य के स्वत:परत: के सबंध में पर्याप्त चर्चा पाई जाती है। हिरोशिमा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० यूनो इस विषय पर विशेष अनुसंधान कर रहे है।[१८] यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञ और स्वानुभूति के ज्ञान को छोड़ कर ज्ञान का प्रामाण्य परत: ही माना जाता है। इस प्रकार हमारा श्रुतनिबद्ध ज्ञान वर्तमान सदी की विश्लेषणात्मक धारा के निकष पर कसा जा सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि जैन दर्शन की अनेक पुरातन मान्यतायें, विशेषत: पदार्थ की परिभाषा, परमाणुवाद की मान्यतायें, ऊर्जा और द्रव्य की एकरूपता आदि— इस निकष पर कसे जाने पर पर्याप्त मात्रा में खरी उतरी है यही कारण है कि आज अनेक विद्वान् जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रेरित हो रहे है और जैन विद्या के अनेक अज्ञात पक्षो को उद्घाटित कर रहे हैं।

श्रुतज्ञान का अनक्षरात्मक रूप भी हमारे ज्ञानार्जन में सहायक है। इसके असंख्यात भेद होते है।[१९] संकेत दर्शन, मानसिकचिन्तन तथा ऐसे ही अन्य प्रक्रमो से जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुतात्मक होता है आज जो श्रुतविद्यमान है, उसके विविध रूपो का विवरण गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि आदि में दिया गया है। वस्तुत: विभिन्न श्रुत श्रुतज्ञान के साधन है। ज्ञान के रूप मे श्रुतज्ञान मतिज्ञान की सीमा का विस्तार करता है, उसमें बौद्धिक नवीनता लाता है।

इस प्रकार सामान्य जन का वर्तमान ज्ञान 'अवग्रहेहावायधारणा:" की प्रक्रिया पर आधारित है। यह प्रक्रिया जितनी ही सूक्ष्म, तीक्ष्ण और यथार्थ होगी, हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाण होगा। आज उपकरणों ने अवग्रह की प्रक्रिया में अपार सूक्ष्मता तथा विस्तार ला दिया है। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे यहाँ आचार्य नहीं है जो इस क्षमता का उपयोगकर नये श्रुत का उद्घाटन कर सकें।

सन्दर्भ

१. उमास्वामि आचार्य; (तत्वार्थसूत्र, १-३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, २६५०।
२. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-६।
३. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-७, ८।

४. श्रुतसागर सूरि; (तत्त्वार्थवृत्ति) १-६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९४९ ।
५. फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री (वि० क०); (तत्त्वार्थसूत्र) १-१३, वर्णी ग्रन्थमाला, १९५० ।
६. अकलंक देव; (लघीयस्त्रय), श्लोक ६६-६७ ।
७. भट्टाचार्य, हरिसत्य; जैन विज्ञान, (अनेकान्त),
८. शास्त्री, ए० शान्तिराज (स०); (तत्त्वार्थसूत्र) (१-१३), (भास्करनंदि टीका), मैसूर विश्ववि० १९३४ ।
९. — (भगवतीसूत्र (८८,२,३१७)
१०. पीमेन्टैल, जार्ज; (रसायन एक प्रयोगात्मक विज्ञान) १-१० म० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७३ ।
११. दलसुख मालवणिया; (आगमयुग का जैन दर्शन), पृ० १२९-३५, सन्मति ।
१२. उमास्वामि आचार्य; (तत्वार्थसूत्र) १-१५ १६ ज्ञानपीठ आगरा, १९३९ ।
१३. अकलंकदेव; (तत्वार्थराजवार्तिक, १-१६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६४ ।
१४. अकलंकदेव; पूर्वोक्त, १-९
१५. फूलचंद शास्त्री (वि० क९); सन्दर्भ ४, सूत्र १-२० ।
१६. अकलंक देव; पूर्वोक्त, १-९ ।
१७. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य; (जैन दर्शन), पृष्ठ ३५३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९६६ ।
१८. ए० यूनो; (जैन प्रामाण्यवाद पर एक टिप्पणी) (कैलाशचद्र शास्त्री अभिनदन ग्रन्थ) पृष्ठ ५४८, १९८० ।
१९. नेमचद सिद्धान्त चक्रवर्ती; गोमटसार जीवकांड, तथा गाथा ३१६, परमश्रुत प्रभावकमडल, अगास, १९७२ ।

गर्ल्स कालेज, रीवां

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

था— शक्र के उपदेश से बुद्ध की शरण में पहुचा जिससे उसकी गति में सुधार होकर वह तुषित देवनिकाय में उत्पन्न हुआ ।[३२]

सन्दर्भ

१. दिव्यावदान (दरभगा संस्करण) पृ० २१५ ।
२. वही पृ० १९६ ।
३. वही पृ० ३६ ।
४. हरिवंश पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) पृ० २१४ ।
५. उत्तर पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण) पृ०२१९
६. वही पृ० ५६१ ।
७. दिव्यावदान पृ० ४० आदि ।
८. उत्तरपुराण पृ० २, १४ आदि ।
९. दिव्यावदान पृ० ५९, ८५ आदि ।
१०. विविधतीर्थकल्प (सिंधी ग्रथमाला सस्करण) पृ० २०
११. उत्तरपुराण पृ० ४३६ ।
१२ वही पृ० ५०३ ।
१३. दिव्यावदान पृ० १२४ ।
१४. वही पृ० ८६ ।
१५. उत्तरपुराण पृ० २२२ ।
१६. वही पृ० ८५ ।
१७. वही पृ० ३६२ ।
१८. दिव्यावदान पृ० ६ ।
१९. वही पृ० ३९ ।
२०. सद्धर्मपुण्डरीक (दरभंगा संस्करण) पृ० १६१ ।
२१. चउपन्न महापुरिसचरिय (प्राकृत ग्रन्थ परिषद) पृ० १६६ ।
२२. दिव्यावदान पृ० ४८ उत्तरपुराण पृ० ३ आदि ।
२३. दिव्यावदान पृ० ८५, अवदानशतक (दरभगा सस्करण) पृ० ३४ ।
२४. दिव्यावदान पृ० १३९ ।
२५. पासणाहचरिउ (प्राकृत ग्रंथ परिषद) पृ० १४१-२
२६. दिव्यावदान पृ० १३६ ।
२७. हरिवंशपुराण पृ० १२३ ।
२८. दिव्यावदान पृ० १३७ ।
२९. वही पृ० ५२ ।
३०. हरिवंशपुराण पृ० १२९ ।
३१. इसका स्पष्ट कथन तो कथाग्रंथों में नहीं मिला परंतु देव मरण के बाद मनुष्य या तिर्यंच गति में ही जन्म लेते बताये गये हैं ।
३२. दिव्यावदान पृ० १२० ।

□□□

णमोकार मंत्र

□ श्री बाबूलाल जैन

महान मंत्र है णमोकार। इस मंत्र मे किसी व्यक्ति का, किसी तीर्थंकर का नाम नही लिया। नाम लेने से पक्षपात खड़ा हो जाता है। कोई कहता यह पूजनीय है, कोई कहता यह पूजनीय नही है। इसलिए व्यक्ति का ख्याल छोडकर मात्र वस्तु स्वरूप का ही ख्याल रखा गया। इसीलिये यह मंत्र अनादि अनिधन है।

(१) पहले णमो अरहंताणम् कहा अथवा जो अरहत हो गये हैं उनको नमस्कार है। अरहंत अवस्था को प्राप्त हैं यानी जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है उनको नमस्कार है, वह कोई भी हो, उनका कुछ भी नाम हो, इससे मतलब नहीं, हमे तो मतलब है केवल उन आत्माओं से जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है। यहाँ पर नास्ति रूप से कथन है। नेगेटिव रूप से कथन है कि जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है वह हमारे नमस्कार करने योग्य है। आत्मिक शत्रु कौन है ? तो बताया कि क्रोध-मान-माया लोभ अथवा रागद्वेष अथवा मोह, ये आध्यात्मिक शत्रु है। यह कोई बाहरी चीज नही जो नष्ट हुआ है, यह तो आत्मा का अपना विकार था, रोग था, जो नष्ट हो गयी है। वह मेरे नमस्कार करने योग्य क्यो है ? क्योकि मैं भी चाहता हूँ कि मेरे भी आत्मिक शत्रु नष्ट हो जायें। असल मे आत्मा की अशुद्धता ये रागादि ही हैं। इनका अभाव होना ही आत्मा की शुद्धता है, रागादि ही आत्मा का रोग है, अस्वस्थता है, उनका अभाव ही स्वस्थता है इसलिए यहाँ पर उनको नमस्कार किया है जिन्होने आत्मा की अस्वस्थता और अशुद्धता को नष्ट कर दिया। क्योकि मैं भी आत्मिक रूप से रोगी हूं अस्वस्थ हू, और मैं भी अपनी अस्वस्थता को नष्ट करना चाहता हू, इसलिए मेरे लिए वही नमस्कार करने योग्य पूज्य हो सकता है जिसने इनको नष्ट किया है। जिनके अन्तर्द्वन्द नही रहा—लोभ नही रहा—मान नही रहा—मोह नही रहा—काम नहीं रहा, उनको नमस्कार किया गया है। साथ मे यह भी मिश्रित है कि जब उन्होने नाश किया तो मैं भी नाश कर सकता हूं।

(२) णमो सिद्धाणम् यानी सिद्धों को नमस्कार है। सिद्ध यानी जिन्होंने पा लिया है अपनी स्वस्थता को, आत्मिक स्वस्थता को। अरहन्त जिन्होने छोडा है, सिद्ध जिन्होने पा लिया है, जिनको उपलब्धि हो गयी है। यहाँ पर भी किसी का नाम नही है, किसी व्यक्ति विशेष की बात नही है। यहा पर बात है कि जिसने आत्मिक गुणो को प्राप्त कर लिया है, जो शुद्धता को प्राप्त हो गये है, जिन्होने अस्वस्थता का नाश करके शुद्धता को, स्वस्थता को पा लिया है, वे नमस्कार करने योग्य है। वे कैसे गुणों को प्राप्त हुए है ? जो ज्ञान की पूर्ण शुद्ध विकसित अवस्था—केवल ज्ञान को प्राप्त हो गये है। जो दर्शन यानी दृष्टि के पूर्ण शुद्ध विकास को केवलदर्शन को प्राप्त हुए है। जो पूर्ण आत्मिक आनन्द को, स्वाधीन आनन्द को प्राप्त हो गये है, आत्मिक शक्ति जिनकी पूर्ण प्रगट हो गया है। जो शरीर से रहित हो गये है, जिनमे अब कोई सस्कार नही बचा जिससे फिर जन्म लेने का सवाल पैदा हो नही सकता। जिनके आयु का सम्बन्ध नही रहा, जो शरीर की स्थिति का कारण था। जो पुण्य और पाप दोनों से रहित हो गये, जो शरीर के साथ रहने वाली इन्द्रियो से भी रहित हो गये, मात्र ज्ञान का अखण्ड पिण्ड, अनत गुणो का पिण्ड, जैसा एक अकेला आत्मा था वैसा सब सयोगों से रहित हो गया है। ऐसा आत्मा-सिद्ध आत्मा-नमस्कार करने योग्य है। इससे यह भी निश्चित होता है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा निज स्वरूप है। वस्तु मे तो फरक नही। मेरी आत्मा स्त्री-पुत्रादि-मकानादि शरीरादि-कर्मादि और रागादि के सयोग मे पड़ा हुआ है इसलिए मलिनता को प्राप्त है परन्तु ये

सब आत्मा की अपनी चीज नहीं है। अगर आत्मा की अपनी होती तो नष्ट नहीं होती इसलिए वर्तमान में उनका मेरा साथ संयोग है अब अगर मैं उनमे संयोग न मान कर अपनापना मानता हूं तो यह मेरी गलती है, यही चोरी है, यह अपराध है दूसरे की चीज हमारे पास मे रहने से भी हमारी नही हो सकती। हमारा अपना तो उतना ही है जो कुछ सिद्ध आत्मा के पास है। उससे जो कुछ ज्यादा मेरे पास है। वह कर्मजनित, पर रूप है; मेरा अपना नही हो सकता, उसमे अपनापना नही माना जा सकता। अगर मैंने अपनापना माना है तो यह अपराध है और उस अपराध का फल बंधन है—क्योंकि वह आत्मा के अपने निज रूप में नही है। इसलिए इनका अभाव हो सकता है। कोयले की कालिमा उसकी अपनी है। बाहर से आई हुई नही। उसका अपना अस्तित्व है। वह दूर नही हो सकती। परन्तु स्फटिक मे झलकने वाली कालिमा उसकी अपनी नही, बाहर से आई हुई है। वह दूर की जा सकती है। सिद्ध वे है जिन्होने इस कालिमा का नाश किया है। इससे मालूम देता है कि यह कालिमा बाहर से आई हुई है और नाश हो सकती है। जिस प्रकार से उन्होंने पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट की है वैसे ही मैं भी पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट कर सकता हू।

(३) तीसरा, (४) चौथा और (५) पांचवा पद है—णमो आइरियाणम्—णमो उवज्झायाणम्—णमो लोए सव्व साहूणम्—

इन तीन मन्त्रों मे साधुओ को नमस्कार किया गया है। लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। उन साधुओ मे तीन कोटि होती है। एक वे जो आचार्य है उनको नमस्कार है। आचार्य वे है जो निज मे आत्म-साधना करते हैं और दूसरो से आत्म साधना करवाते है। जिन्होंने आत्मा को प्राप्त किया है, निज स्वभाव को प्राप्त किया है और उसी मे लगे हुए है। अभी तक निज स्वभाव मे पूर्ण रूप से ठहरने मे, रमण करने मे, वे समर्थ नही हुए है इसलिए जो राग का अश बचा हुआ है उस राग के अश की वजह से दूसरों को आत्म साधना की प्रेरणा करते है। गुरु रूप से उनका उपकार करते है।

इसके बाद उन साधुओं मे दूसरा पद है उपाध्याय का जो निज में पठन-पाठन करते है और दूसरों को पठन-पाटन कराते हैं। ये अपना आत्म साधना मे लगे हैं। निज स्वरूप मे अभी पूर्ण स्थिरता को प्राप्त नही हुए है इसलिए बाहर मे शास्त्रादि का अध्ययन निज मे करते है और औरों को कराते हैं। यह कार्य उस राग की कणी का है जो शेष रह गयी। ऐसे उपाध्याय को मैं नमस्कार करता हूं।

उन लोक के सर्व साधुओ को नमस्कार करता हूं जिन्होंने निज आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया है, पर से भिन्न निज स्वभाव को अपने रूप से जाना है। अपने ज्ञान स्वभाव मे ज्ञाता दृष्टापने के वे मालिक है, उसमे वे जागृत है। जागृति दो तरह से हो सकती है—

बहिर्मुखी और अंतर्मुखी। बहिर्मुखी जागृति होगी तो अंतर्मुखता अधकार पूर्ण हो जायेगी, वह मूर्छित हो जायेगी। अगर जागृति अतर्मुखी है तो बाहर की तरफ मूर्छा हो जायेगी। अन्तर्मुखता का अगर विकास हुआ तो तीसरी स्थिति जागृति की उपलब्ध होती है, जहाँ अन्तर मिट जाता है मात्र प्रकाश रह जाता है। वह पूर्ण जागृत स्थिति है। परन्तु बहिर्मुखता मे कोई कभी तीसरी स्थिति मे नही पहुच सकता। तीसरी स्थिति मे पहुंचने को अर्न्तमुखता जरूरी है। बाहर से भीतर आना है फिर अपने में समा जाना है। मूर्छा का अर्थ है हम बाहर है, बाहर का अर्थ है हमारा ध्यान अन्य पर है। जहाँ ध्यान है वही पर हमारी शक्ति लगी हुई है और जहाँ ध्यान नही है वहाँ मूर्छा है। इन अन्तर्मुखता का नाम ही जागरण है। इस लिए जो पूरी तरह जग गया वह साधु है। जो सो रहा है, जो निज स्वभाव मे मूर्छित है, जो दुनिया मे, कर्म के कार्य मे जाग रहा है वह असाधु है। वह जागरण भीतर इतना हो जाता है जहा न केवल बाहर की आवाज सुनाई देना बन्द होती है परन्तु अपनी श्वास की धड़कन भी सुनाई पडे, अपनी आख की पलक का, हिलना भी पता चले, भीतर के विचार का पता चले और उनके जानने वाले का ज्ञान भी बना रहे। ऐसी साधना ये तीनों प्रकार के साधु करते हैं। ऐसे लोक के सर्व साधु नमस्कार करने योग्य हैं। उनको नमस्कार हो।

पं० टोडरमल जी ने भी मुनि का स्वरूप निम्न प्रकार से ही लिखा है।

"जो वीतरागी हैं समस्त पर पदार्थ को त्याग कर शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अंतरंग मे तो उस शुद्धोपयोग से अपने आपको आप अनुभव करते है, पर द्रव्य मे अहं बुद्धि नही रखते, अपने ज्ञान स्वभाव को ही अपना मानते हैं, पर भावों में ममत्व नही रखते, पर द्रव्य और उनके स्वभाव को जानते है परन्तु इष्ट अनिष्ट मान कर रागद्वेष नही करते। शरीर की अनेक अवस्था होती है, बाहर में अनेक पदार्थों का संयोग होता है परन्तु वहां सुख-दुख नहीं मानते, अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बने वैसे बनती है, खेंच करके उनको नही करते, जैसे पानी मे कोई चीज बाहर की है, वैसे कर्म के सम्बन्ध के अनुसार मान-सम्मान आदि होते हैं परन्तु किसी चीज की अपेक्षा नहीं रखते, अपने उपयोग को बहुत नही भ्रमाते। उदासीन रह कर निश्चल वृत्ति को धारण करते है, मंदराग के उदय से कदाचित् शुभोपयोग भी होता है जिससे जो शुद्धोपयोग के बाहरी साधन है उनमे अनुराग करते हे। परन्तु उस राग भाव को हेय समझ कर दूर करने की चेष्टा करते, तीव्र कषाय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का जहा अस्तित्व ही नही है इस प्रकार की अंतरंग अवस्था होते बाहर समस्त परिग्रह रहित दिगम्बर सौम्य मुद्रा के धारी है, वन मे रहते है, अठाईस मूल गुणो का पालन अखंडित करते है, बाईस परिषह को सहन करते है, बारह प्रकार तप को धारण करते है, कभी ध्यानमुद्रा को धारते है कभी अध्ययनादि बाहरी धर्म क्रिया मे प्रवर्तते है, कदाचित् शरीर की स्थिति के लिए योग्य आहार विहार क्रिया मे सावधान होते है। ऐसे साधु ही नमस्कार करने योग्य है।

इन पाचो मे पूज्यता का कारण वीतराग विज्ञान भाव है; क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा तो जीव समान है परन्तु रागादि विकार से तथा ज्ञान की कमी से तो यह जीव निन्दा योग्य होता है और रागादि की हीनता से और ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होता है। अरहन्त और सिद्ध तो पूर्ण रागादि से रहित हैं और वीतराग विज्ञानमय है और आचार्य, उपाध्याय और साधु मे एक देश राग की हीनता और एक देश वीतराग विज्ञान भाव हैं इसलिए वे बंदना करने योग्य हैं।"

अरहंता मंगलं—सिद्धामंगलं—साहूमगलं—केवलिपण्णतो धम्मोमंगलं। ये चार मगल रूप है। जिनसे आत्मा का हित हो, आत्म-कल्याण हो उन्हे ही मंगल रूप कहा है। आत्म हित में साधन अरहंत-सिद्ध-साहू और वस्तु का स्वरूप जैसा इनके द्वारा बताया गया है वही मंगल रूप कल्याणकारी हो सकता है। अन्य जिनको हम लोक में मगल रूप मान रहे है वे मगल रूप नही हैं। जहां वीतराग विज्ञानता है वहां मगलपना है।

चार ही लोकोत्तम है, याने ये चार ही लोक मे उत्तम हैं। धन-वैभव-राज्य-पद आदि कोई उत्तम नही क्योंकि बाहर से आया हुआ है। लोक मे उत्तम है तो यह चार ही हैं। इस पद के द्वारा लोक मे अन्य बाहरी पदार्थों को उत्तम मान कर जो पकड कर रखा है उनका निषेध किया है। असल मे यहाँ पर भी अरहंतादि रूप जो अपना स्वरूप है उसे ही उत्तम और मंगलरूप बताया जा रहा है परन्तु जब तक ऐसे स्वरूप की पूर्ण रूप से प्राप्ति नही हो जाती तब तक व्यवहार मे जो ऐसे स्वरूप को प्राप्त हुए है उन्हे मंगल रूप और उत्तम बताया है। इस प्रकार से यहां बाहर से हटा कर, पर से हटा कर अपने निज स्वरूप मे उत्तमपना धारण करने को कहा है।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—इन चार की शरण लेता हू ये ही शरण रूप है, ये ही शरण लेने योग्य है, ऐसा स्वरूप ही प्राप्त करने योग्य है। यहां पर भी किसी अन्य व्यक्ति विशेष की शरण लेने को नही कहा जा रहा है। परमार्थ से तो आप ही अपने लिये शरणभूत है परन्तु जब तक ऐसे स्वभाव मे पूर्ण रूप स्थिरता नही हो जाती तब तक बाहर मे अगर किसी का आसरा खोजने की दरकार पड़े तो ये ही चार शरणभूत है, अन्य दुनिया के पदार्थ, वस्तुएं, धन-वैभव, पुण्यादि का उदय, मान, सम्मान, राजा, महाराजा कोई भी शरणभूत नही है। कोई पद शरणभूत नही है, सभी नाशवान हैं, पर कारण से होने वाले है, पर रूप है।

—सन्मति विहार, नई दिल्ली २

□□

मध्वदर्शन और जैनदर्शन

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन,

मध्वदर्शन विशुद्ध द्वैतवादी दर्शन है। जैनदर्शन द्वैतवादी होते हुए भी प्रत्येक जीवात्मा के स्वतन्त्र अद्वय तत्त्व को स्वरूपतः मानता है। मध्व ज्ञान के तीन साधनों को स्वीकार करते है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण। जैन दर्शन मे प्रमाण के केवल दो भेद किये गए है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम और अनुमान प्रमाण आते है। मध्व दर्शन मे उपमान प्रमाण का अनुमान की ही कोटि मे माना गया है। जैन दर्शन मे उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण मे किया गया है। मध्व के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान स्वय विश्व की समस्या को हल करने मे सहायक नही हो सकते। प्रत्यक्ष की पहुच उन्ही तथ्यो तक है जो इन्द्रियगोचर है। अनुमान हमे कोई नवीन तथ्य नही दे सकता। यद्यपि अन्य साधनो द्वारा प्राप्त हुए तथ्यो की परीक्षा करने तथा उन्हे क्रमबद्ध करने मे यह सहायता अवश्य करता है। जैन दर्शन के अनुसार जानकारी के दो ही साधन है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है (१) साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) परमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन के निमित्त मे जो जानकारी होती है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का विषय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय है। अनुमान द्वारा हमे परोक्ष रूप से तथ्यो की जानकारी होती है। मध्व के मत मे यथार्थ सत्ता के सत्यज्ञान के लिए वेदो का आश्रय आवश्यक है। जैन दर्शन वेदो को प्रमाण नही मानता है, उसके अनुसार अपने आवरण के क्षयोपशम या क्षय से ही यथार्थ सत्ता की जानकारी होती है। मध्व के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय मे कुछ कहना निरर्थक है। जैन दर्शन ज्ञान और ज्ञेय का पार्थक्य मानते हुए भी निर्विकल्प अवस्था मे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को स्वीकार नही करता है।

मध्व के अनुसार यह ससार अयथार्थ वस्तु नही है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नही करते तो हम विचारो मे परस्पर भेद की व्यवस्था भी नही कर सकते। हमारा ज्ञान हमे बतलाता है कि भेद विद्यमान हैं। हम उन्हे केवल मात्र औपचारिक नही मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नही करती। जैन दर्शन संसार को सर्वथा अयथार्थ नही मानता है। पदार्थों के मध्य भेदाभेद है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी से मिलती-जुलती है अथवा पृथक् अस्तित्व रखती है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है।

मध्व के मत मे पदार्थ दो प्रकार के होते है—स्वतन्त्र और परतन्त्र। ईश्वर जो सर्वोपरि पुरुष है, वही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ (यथार्थ सत्ता) है। परतन्त्र प्राणी दो प्रकार के है—(१) भाववाचक (२) अभाववाचक। भाववाचक के दो वर्ग है—एक चेतन आत्माएं है और दूसरे अचेतन पदार्थ, जैसे प्रकृति और काल। अचेतन पदार्थ या तो नित्य है, जैसे कि वेद या नित्य और अनित्य जैसे—प्रकृति, काल और देश अथवा अनित्य जैसे प्रकृतिजन्य पदार्थ। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता को मानता है, किसी को सर्वोपरि नही मानता है। उसके अनुसार ससार की सारी वस्तुयें भावाभावात्मक और नित्यानित्यात्मक है।

मध्व के अनुसार तीन वस्तुयें अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप से एक दूसरे से भिन्न है अर्थात् ईश्वर, आत्मा और जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य है, फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत् ईश्वर से निम्न श्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित हैं। जैन दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। नैश्चयिक दृष्टि से ये सभी स्वाश्रित है। इनमें से कोई भी निम्न अथवा उच्च श्रेणी का नहीं है, सभी की स्वतन्त्र सत्ता है।

मध्व ब्रह्म मे सब प्रकार की पूर्णता मानते हैं। ब्रह्म तथा विष्णु को एक रूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से संसार का सचालन करता है।

वह संसार को बार-बार रचता तथा उसका संहार करता है। उसकी देह अति प्राकृतिक है और उसे सब संसार से ऊपर माना गया है तथा वह संसार के अन्तर्निहित भी है, क्योंकि वह सब जीवात्माओ मे अन्तर्यामी है, वह अपने को नानाविध आकृतियों में प्रकट करता है, समय-समय पर अवतारों के रूप में प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियों के अन्दर गुप्त रूप मे उपस्थित रहता है। वह सृष्टि को रचता, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है। वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार से व्यक्त करता है, कुछ को दण्ड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। जैन दर्शन मुक्तावस्था को ही ब्रह्मोपलब्धि मानता है। मुक्त होने के बाद कोई अभीप्सा न रह जाने के कारण संसार के संचालन का प्रश्न ही नही उठता। सृष्टि, स्थिति तथा संहार अथवा उत्पाद, ध्रौव्य और व्ययपना प्रत्येक वस्तु मे पाया जाता है। जीव का स्वरूप अरूपी है। मुक्तावस्था मे स्वरूप प्रकट होने पर पवित्र मूर्तियों के अन्दर उपस्थित रहने का प्रश्न ही नही उठता। राग-द्वेष से विहीन होने के कारण मुक्त पुरुष अथवा कैवल्यप्राप्त पुरुष न तो किसी को दण्ड देता है, न किसी पर अनुग्रह करता है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों का क्षय कर मुक्त हो सकता है।

मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं। उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते है और ससार में भिन्न है। जैन दर्शन सभी आत्माओ का चाहे वे मुक्त हों या संसारी स्वतन्त्र, पृथक पृथक अस्तित्व मानता है। मध्व के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नही है, क्योंकि वह परिमित शक्ति वाला है और प्रभु उसका मार्ग दर्शन करता है। जीव को आकार मे अणु बतलाया है और यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा नैश्चयिक दृष्टि से अपने भावो का कर्ता है और व्यवहारिक दृष्टि से कर्मादि का कर्ता है। आत्मा स्वरूपतः अपरिमित शक्ति वाली है। ससारी आत्मा कैवल्य प्राप्त अथवा मुक्त आत्माओं से प्रेरणा ग्रहण करता है। जीव शरीर प्रमाण आकार वाला है। मुक्तात्माओं से भिन्न किसी सर्वव्यापी ब्रह्म की सत्ता नहीं है।

मध्व तथा जैन दर्शन दोनो मे इस बात में समानता है कि आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है, यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण सुख व दुःख के अधीन है। जब तक यह अपनी मर्यादाओं से विरहित नही होती, यह नाना जन्मो मे अपनी आकृतियाँ बदलती हुई भ्रमण करती रहती हैं। सब वस्तुओं के विषय मे यथार्थ ज्ञान अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान हमे ईश्वर (परमात्मत्व) के ज्ञान की ओर ले जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमों का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मों का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमे सत्य की गहराई मे पहुंचाने मे सहायक होता है।

मध्व के अनुसार वेदों के अध्ययन से हम सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते है और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात्कार करने की क्षमता रहती है। केवल देवताओ तथा तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीय कृपा से अपने अन्तःकरण मे ईश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों की जानकारी होती है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एक देश ज्ञान तथा क्षय से पूर्णज्ञान प्रकट होता है। प्रत्येक आत्मा अपना पूर्ण विकास कर परमात्मा बन सकता है। सम्यग्ज्ञान की आराधना का अधिकार सबको है। प्रशस्त ध्यान के द्वारा आत्मत्व की उपलब्धि होती है, दैवीय कृपा का ध्यान के साथ योग नही है। जीव स्वयं प्रयत्न कर बन्धन से मुक्त होता है, इसके लिए ईश्वर कृपा आवश्यक नही है। कोई दैवीय इच्छा मनुष्य को बन्धन में नहीं डालती, अपितु अपनी अनादिकालीन कर्म परम्परा से जीव बन्धन मे पड़ा हुआ है। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं।

जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ० प्र०)

श्रावक और रत्नत्रय

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

मोक्ष मार्ग को इंगित करने के भाव में 'श्रावक' शब्द का बहुत बड़ा महत्व है। जैन परम्परा में श्रावक और मुनि इन दोनों शब्दों का उल्लेख प्राचीनकाल से मिलता है। मुनि अवस्था मे सर्व पाप और आरम्भ का पूर्णतः त्याग होता है और श्रावक में अशतः। 'श्रावक' अवस्था मोक्षमार्ग की प्रथम प्रारंभिक सीढ़ी है: ससार मे डूबे प्राणी को पार लगाने मे श्रावक पद लकड़ी के तख्ते की भांति सहारे का काम करता है तो मुनिपद नौका की भांति सहारा देता है।

संसार समुद्र में मग्न जिस जीव से नौका का दूर का फासला हो उसे तख्ते का सहारा लेकर नाव के पास तक पहुंचना चाहिए—इसी मे बुद्धिमानी है।

तत्वार्थ सूत्र मे मोक्षमार्ग के प्रसग में एक सूत्र आता है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसका भाव है सत्यश्रद्धा, सत्य-ज्ञान और सत्य-चारित्र की पूर्णता (एकत्वपना) मोक्ष का मार्ग है। यही भाव अशतः 'श्रावक' शब्द के वर्णो से सहज ही निकाला जा सकता है—'श्रा' से श्रद्धा, 'व' से विवेक और 'क' से क्रिया। अर्थात् जो श्रद्धा-विवेक और क्रिया (चारित्र) वान् है वह श्रावक है, वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है—ऐसा समझना चाहिए।

श्रद्धा-सम्यग्दर्शन का अपर नाम है। आचार्यों ने समझाने की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का दो भांति से वर्णन किया है—निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। इन दोनों की पहिचान तो बड़ी कठिन है, पर व्यवहार मे जो जीव शंका-आकांक्षा आदि दोषों से रहित हों—और देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखते हों, जिनके अष्टमूल गुण धारण हों और मद्य-मांस-मधु इन तीन मकारों का त्याग हो वे जीव भी सम्यग्दृष्टि की श्रेणी में आते हैं। उक्त बातों से हमें व्यवहार सम्यग्दृष्टि का निर्धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का जैसा विशद् वर्णन आचार्योंने किया है उसकी किंचित् झलक इस भांति है—अतः इसे समझ कर अपने में सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसी सम्यग्दर्शन पर आधारित हैं—

सम्यग्दर्शन

'शिष्यों के प्रति संबोधन करते हुए जिनवरों—तीर्थंकर परमदेवों तथा अन्य केवलियों ने धर्म को दर्शनमूल कहा है अर्थात् धर्म की प्रतिष्ठा प्रासादगर्तापूरवत् और वृक्ष-पातालगत जटावत् सम्यग्दर्शन के आधार पर है। ऐसे धर्म को स्वकर्णों से सुनकर—अन्तरंग से मनन चिन्तवन करना व मानना चाहिए और दर्शन से हीन धर्म (धर्मी) की वन्दना (मान्यता) नही करनी चाहिए'। श्री श्रुतसागर सूरि तो यहां तक कहते हैं कि दर्शनहीन अर्थात् मिथ्यादृष्टि को (दान की दृष्टि से) दान भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि—

'मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः।

विपरीत इसके—शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाई गई है और यहां तक भी कह दिया गया है कि 'सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंग देहजम्' अर्थात् शरीर से चाण्डाल भी हो पर यदि सम्यग्दर्शन संपन्न है तो वह देव तुल्य (उत्तम) है! भाव यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मगुण है उसका इस नश्वर शरीर-पुद्गलपिण्ड से साक्षात्-परमार्थ रूप कोई सबंध नहीं है। यदि कोई जीव देहादिक जड़ क्रिया अथवा देह के आश्रित रूप में सम्यग्दर्शन का महत्व मानता है तो वह भ्रम में है। हमे तो ऐसा उपदेश मिला है कि—आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मान्यता रखना, बहिरंग की बढ़ोतरी में गर्व अथवा न्यूनता में हीनता का भाव करना आत्मतत्त्व की दृष्टि से हेय है। आचार्य ने शरीराश्रित और अनाश्रित दोनों ही प्रकार की विभूतियों की बढ़वारी अथवा हीनता में समता भाव का ही उपदेश दिया है। उक्त विवेचन का सार हम तो यही समझे हैं कि—

'न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥

व्यवहार में हम जिन उत्तम क्षमा-मार्दव आर्जव शौच सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य को धर्म का रूप मानते हैं उन धर्मों की जड़ में भी सम्यग्दर्शन बैठा हुआ है। अतः मिथ्यादृष्टि के उत्तम क्षमादि होना सर्वथा अशक्य हैं। यदि कोई कुलिंगी उक्त धर्मों का आसरा लेता है और उनके आसरे मिथ्यात्व सहित अवस्था में धर्म मानता है तो वह धर्म एव उसके स्वरूप को नहीं जानता सम्यग्दृष्टि का धर्म ऐसे किसी प्रपच से सम्बन्ध नही रखता जिसमें संसार-वर्धक क्रिया-कलापों का ससर्ग भी होता हो। कहा तो यहाँ तक है कि—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव किन्हीं भी और कैसे भी कारणों के उपस्थित होने पर कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं की मान्यता नही करता। मूलरूप मे धर्म भी वहीं है जहाँ शुद्ध आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त पर पदार्थों मे निजत्व की कल्पना अथवा उन पर पदार्थों से ख्याति-पूजादि की चाह आदि का पूर्ण अभाव होता है और किसी भी लोभ-आशा अथवा स्नेह के वश से पर-पदार्थों की प्रशसा नहीं की जाती है। हाँ, पदार्थ स्वरूप अवगम की दृष्टि से उनके याथातथ्य स्वरूप पर विचार और वर्णन करने मे दोष नही। सार यह कि धर्म के अस्तित्व मे सम्यग्दर्शन की उपस्थिति परमावश्यक है। आत्म-पुरुषार्थी का प्रयत्न होना चाहिये कि उसका एक भी क्षण सम्यग्दर्शन की आराधना के बिना न जाय।

सम्यग्दर्शन-महिमा के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

दंसण भट्ठा भट्ठा, दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसण भट्ठा ण सिज्झंति॥३॥

अर्थात् दर्शन से भ्रष्ट जीव भ्रष्ट हैं। उनके सर्वकर्म-क्षयलक्षण मोक्ष नहीं है। चारित्रभ्रष्ट (व्यवहार-चारित्र-भ्रष्ट) जीव तो कदाचित् ठिकाने पर आ आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव आत्मोपलब्धि नहीं पाते। आशय है कि—

संसारी जीव अपनी अज्ञानतावश जिस इन्द्रियजन्य सुख को सुख समझ रहे है वह सुख नही अपितु दुख ही है। क्योंकि उसमें अनाकुलता और स्थायित्व नहीं। सुख परमसुख वह है जिसके आदि मध्य अन्त्य तीनों सुखरूप हों। जिसमें दुख और आकुलता का लेश न हो। ऐसा परमसुख सर्वकर्म क्षय लक्षण मोक्ष में है और वह मोक्ष सम्यग्दर्शन रूपी सीढ़ी के बिना नहीं मिल सकता। अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। इसलिए दर्शन से भ्रष्ट नही होना चाहिए। क्योंकि—

'नहि सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्।'

अर्थात् तीनों कालों और तीनों लोकों मे शरीरधारियों को सम्यक्त्व सदृश कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के सदृश कोई अकल्याणकारी नहीं है।

सांसारिक सुख अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि में तुच्छ सुख तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते है। पर मोक्ष सुख के लिए सम्यग्दर्शन होना अवश्यम्भावी है। आचार्यों ने जहां पुण्य की महिमा का वर्णन किया है वहां सम्यग्दर्शन को ही प्रधानता दी है। यथा—

'सम्माइट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाण ण सो कुणई॥'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं होता। स्वाध्यायी देखेंगे कि उक्त गाथा मे पुण्य के पूर्व सम्यग्दर्शन का उल्लेख किया गया है। यदि मात्र पुण्य से ही मोक्ष मिलता होता तो आचार्य इस गाथा में सम्यग्दर्शन जैसे महत्वपूर्ण शब्द का प्रयोग पुण्य के पूर्व में न करते। और अन्यत्र मोक्ष विधि में पुण्य प्रकृति के नष्ट करने का विधान भी नहीं करते। यदि कदाचित् सम्यग्दर्शन-हीन पुण्य को ही मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो ज्ञान ने कौन सा अपराध किया है जिसे आत्म-गुण होने पर भी सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष का कारण न माना जाय। विचित्र सी बात होगी कि एक ओर तो आत्मा से सर्वथा विपरीत और कर्म प्रकृति-रूप-पुण्य को सम्यग्दर्शन की उपेक्षा कर मुक्ति का दाता मान लिया जाय और दूसरी ओर आत्मा के निज तत्व-ज्ञानगुण को सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्पना भी न दिया जाय।

इन बातों पर दृष्टिपात करने से ऐसा ही बोध होता है कि उक्त वर्णन में आचार्य का तात्पर्य उन जीवों को संबोधन का रहा है जो कदाचित् मात्र पुण्य को ही सब कुछ मान उसे मोक्ष का कारण तक मान बैठे हों। आचार्य ने दर्शाया है कि—हे भव्य जीवो, केवल पुण्य को ही मोक्ष का कारण न मान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करो। अन्यथा पुण्य तो मिथ्यात्वी के भी होता है। आचार्य का भाव ऐसा है कि जब सम्यग्दर्शन होगा, तभी पुण्य शुभ रूप में उपस्थित होगा। यद्यपि पुण्य साक्षात् रूप से तब भी मोक्ष न पहुंचायेगा अपितु उस पुण्य को भी नष्ट करना ही होगा। यह तो सम्यग्दर्शन की महिमा होगी कि उससे प्रभावित पुण्य सामग्री उस जीव को निरन्तर उत्कर्ष की ओर ले चलेगी। अन्यथा पुण्य साधारण तो मिथ्या-दृष्टि के भी देखा जाता है। वध कर्म करने वाले बधक को पुण्य योग से प्राप्त सामग्री वध जैसे अशुभ कार्य में प्रयुक्त होती देखी ही जाती है।

स्पष्ट यह है कि पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। शास्त्रों में अशुभ से निवृत्ति कर शुभ में प्रवृत्ति और शुभ से निवृत्ति कर शुद्ध में प्रवृत्ति का उपदेश है। अशुभ सर्वथा हेय है और शुभ कथंचित् उपादेय है। कथंचित इसलिए कि शुभ भाव सहित सम्यग्दृष्टि शुद्धि की ओर बढ़ता है। अन्ततोगत्वा मोक्ष विधि में शुभ को सर्वथा छोड़ शुद्ध ही धारण करना पड़ता है।

बहुत से जीव ऐसा विचार कर लेते है कि अशुभ की निवृत्ति से शुभ और शुभ की निवृत्ति से शुद्ध स्वाभाविक ही हो जाता है। इस प्रकार शुभ—पुण्य से मोक्ष हो ही जायेगा। सो उनका ऐसा मानना भी भ्रम है। क्योंकि ऐसा नियम नही है। अतः जीव शुभ से निवृत्त हो अशुभ में भी जा सकता है, शुद्ध मे भी जा सकता है। ये सब जीवों के अपने परिणामो पर निर्भर करता है और परिणामों के सम्यक् व मिथ्या होने मे जीव के सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन मुख्य कारण है। इसी बात को पंडित प्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में विशेष स्पष्ट करते है, वे कहते हैं—

'कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग कौं कारण है। सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। अथवा द्रव्यलिंगी कैं शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है—शुद्धोपयोग होता ही नही।'

'बहुरि जो शुभोपयोग ही कौं भला जानि ताका साधन किया करै तौ शुद्धोपयोग कैसे होय। तातैं मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तौ शुद्धोपयोग कौं कारण है नहीं। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोग कौं शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है।'

इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग प्रकरण में सर्वत्र सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। किसी कर्म प्रकृति की प्रधानता सर्वथा ही नहीं। अपितु कर्म प्रकृतियो के नष्ट करने का ही विधान है। इस कथन का तात्पर्य यह नही कि पुण्य को सभी दृष्टियों से हेय मान पापरूप प्रवृत्ति की जाय। जब तक जीव की प्रवृत्ति शुद्ध दशा की ओर सर्वथा नहीं, तब तक पुण्यजनक क्रियायें करने का शास्त्रो मे समर्थन है। देव-पूजा आदि षट्कर्म-श्रावक और मुनि के व्रत सभी इसी के अंग है। जहां तक व्यवहार है ये सब रहेंगे। पर सर्वथा इनसे ही चिपके रहना और आत्मा की शुद्ध परिणति की सभाल न करना आत्म-कल्याण में आचार्य को इष्ट नही। निष्कर्ष ये निकला कि बिना सम्यग्दर्शन के शुभक्रियायें भी आत्म-साधन मे कार्यकारी नही। अतः सम्यग्दर्शन की सभाल रखनी चाहिए; सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव सदा ही भ्रष्ट हैं- यह पूर्वार्ध का भाव है।

मूल गाथा में जो ऐसा कहा गया है कि 'सिज्झति चरिय भट्ठा' इसका आशय इतना ही है कि जिन जीवों को सम्यग्दर्शन है और चारित्र नही है, उन्हें भविष्य में स्वभाव प्राप्ति की तीव्र लगन होने पर चारित्र सहज भी प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों मे वर्णन है कि बाह्य चारित्र के अभाव में भी 'आणं ताण कछु न जाणं' और 'तुषमाषं घोषन्तो' रटते हुए अंजन चोर आदि अनेकों जीव कदाचित् क्षणमात्र में पार हो गए। अर्थात् उन्हें आत्मबोध और लीनता प्राप्त करते देर न लगी। और दर्शनभ्रष्ट मरीचि जैसे जीव को सीझते सीझते भगवान आदिनाथ के काल

(शेष पृ० ३६ पर)

कर्म सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता

☐ सुश्री श्री पुखराज जैन

मुक्ति ! मुक्ति !! मुक्ति !!! सर्वत्र यही चर्चा है। लेकिन मुक्ति मिले कैसे ? जब तक जीव निज-पहचान-श्रद्धान-रमणता रूप त्रिवेणी में डुबकी लगाकर ज्ञान-ध्यान-तप रूपी अग्नि में जीव के अनादिकालीन-कर्म-शत्रुओं का नाश न करे। यदि जीव भवभ्रमण से थकान महसूस करता है और सच्चे अर्थों मे शाश्वत निराकुल सुख के लिए लालायित है, तो उसके लिए कर्म-सिद्धान्त की रहस्यमय सम्यक् जानकारी अनिवार्य है। अन्यथा कर्म का स्वरूप, आस्रव (आगमन) के कारण, बन्ध (आत्मा केसाथ) की प्रक्रिया, कर्मों की स्थिति और मैं इनसे भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा हूं – यह सब जाने बिना किस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर परम-इष्ट मुक्ति का वरण करेगा। अत: कर्म-विज्ञानका यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है।

साधक के आत्म-विकास मे जिस-कारण से बाधा उपस्थित होती है। उसे जैनदर्शन मे कर्म कहते है। जैनों के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को सांख्य योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक बौद्धादि मत भी मानते है। लेकिन अन्य दर्शनो से भिन्न जैन शासन मे कर्म-सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत अधिक गभीर, विशद, वैज्ञानिक चिंतना की गई है। निष्पक्षता व दृढता-पूर्वक इसे जैनागम की मौलिक विधा कहा जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अभाव में जैनागम का अध्ययन पंगु है।

विश्व की विविधता का समाधान कर्म तत्वज्ञान द्वारा (अन्य दर्शनो से भिन्न) तर्कानुकूल पद्धति से जैन शासन में होता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। वह ईश्वर की किंचित भी अपेक्षा नही करता न कर्म करने मे न भोगने में। स्मरणीय है कि विचित्रताओं से पूर्ण विश्व एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नही हो सकता।

कर्म केवल संस्कार मात्र नहीं वस्तुभूत पदार्थ है। जो रागी-द्वेषी जीव की योग-क्रिया मन-वचन काय से आकृष्ट होकर जीव के पास आता है और मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता अविरत, प्रमाद व कषाय का निमित्त पाकर जीव से बध जाता है।

बंध अवस्था मे जीव व पुद्गल अपने-अपने गुणो से कुछ च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते है। सामान्यपने से कर्म एक ही है, उसमे भेद नहीं लेकिन द्रव्य

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

से प्रारम्भ कर भगवान पार्श्वनाथ के होने तक के करोड़ों-करोड़ों वर्षों का लंबा काल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे लग गया। यदि दर्शन शीघ्र भी हो जाय तो भी आश्चर्य नही—पर इसका होना जरूरी है क्योंकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यक्ता को प्राप्त नहीं करते।

इतना ध्यान रखें कि उक्त कथन 'दर्शन' की मुख्यता को लिए हुए है। वैसे जैनधर्म चारित्र प्रधान धर्म है और इसमें सभी रूपों में चारित्र की महिमा गाई गई है। साधारण जन के लिए मुनिपद तो बड़ी दूर की कल्पना की बात है, इसके श्रावक पद का ही चारित्र इतना ऊँचा और कठिन है कि जिसे देख स्वर्ग में देव तक भी ईर्ष्या करते है। वे चारित्र पालन में हेतुभूत मनुष्य भव की चाहना करते हैं क्योंकि मनुष्य भव के बिना चारित्र नही होता और चारित्र के बिना मुक्ति नही होती। आखिर, यथाख्यात चारित्र—चारित्र की उच्चतम अवस्था ही का नाम है। मूल बात ये कि यह यथाख्यात चारित्र भी सम्यग्दर्शन के बल पर ही होता है— मूल सम्यग्दर्शन होने पर कभी न कभी चारित्र होता ही है। अतः आचार्य ने दर्शन को मूल कहते हुए उपर्युक्त गाथा मे उसकी प्रशंसा और महानता को दर्शाया है। भाव ऐसा जानना चाहिए कि हमें बाह्य चारित्र में रहकर दशन प्राप्त करने में 'उद्यम करना चाहिए, चारित्र से विमुख नही होना चाहिए।

(क्रमशः)

तथा भाव के भेद से इसके दो प्रकार हैं। जिन भावों के द्वारा पुद्गल पिण्ड आकर्षित हो यह भावकर्म है तथा आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल द्रव्यकर्म है। पुद्गलजनित द्रव्य कर्म की संख्या ८ है। ज्ञानावरण कर्म—ज्ञान पर आवरण डालता है। जैसे देवता के मुख पर ढका वस्त्र देवता के विशेष ज्ञान को नही होने देता। दर्शनावरण—जो आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डाले। इसका स्वभाव दरबारी जैसा है जो राजा के दर्शन से रोकता है। वेदनीय कर्म—शहद लपेटी छुरी के समान है, जिसको चखने पर क्रमशः साता रूप सुख व असाता रूप दुख होता है। मोहनीय कर्म—मदिरा के समान है। मोह रूपी मदिरा नशे के कारण आत्मा को अचेत कर देती है। और निज स्वरूप का भान नही होने देती। आयु कर्म सांकल के स्वभाव का है जो आत्मा को शरीर मे स्थित रखती है। आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्यायों मे रोके रखता है। नामकर्म रूपी चित्रकार जीव को सुन्दर-असुन्दर, दुबले-मोटे शरीर की रचना करता है। गोत्रकर्म ऊँचे-नीचे कुल मे पैदा करता है—जैसे कुंभकार छोटे-बड़े घड़े बनाता है। अन्तराय कर्म का स्वभाव भडारी सरीखा है। भंडारी जैसे दानादि मे विघ्न डालता है। वैसे ही अन्तराय कर्म का काम सदैव रंग में भंग डालने का है। उपरोक्त मे चार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण घातिया कर्म कहलाते हैं। शेष आयु नाम गोत्र वेदनीय अघातिया कर्म है। तत्वार्थसूत्र नाम के ग्रन्थ में कर्मों के आस्रव (आगमन के कारण) बंध की प्रक्रिया, उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति आदि का व्यापक विवेचन है। कर्मबन्ध के चार भेद बतलाये। प्रकृतिबंध—कर्म परमाणुओ मे स्वभाव का पड़ना। प्रदेशबंध—कर्म परमाणुओ मे सख्या का नियत होना, स्थितिबंध—कर्म परमाणुओं मे काल की मर्यादा का पड़ना कि ये अमुक समय तक फल देंगे। इनमे फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बंध है। प्रकृति और प्रदेश बन्ध का निर्धारक योग है। और स्थिति व अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमूर्तिक आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म से संबद्ध कैसे और क्यों कर होता है? दोनों के समाधान अपेक्षित हैं।

जिस प्रकार तेल तिल का सोना-किट्टिमा का संबद्ध अनादि से देखा जाता है आत्मा और कर्म का संबद्ध भी अनादि से है। सादि सबंध मानने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसे—पहले आत्मा कर्मबंधन से मुक्त था; उसमें अनन्त ज्ञानादि गुण पूर्ण विकसित अवस्था मे थे। ऐसा परिशुद्ध आत्मा क्यों कर्म बंधन को स्वीकार कर स्वयं अपनी चिता रचने का प्रयास करेगा? सर्वदा परिशुद्ध आत्मा अत्यन्त अपवित्र घृणित शरीर को धारण करने का स्वप्न में भी विचार न करेगा।

चूंकि आत्मा और कर्म सबंध अनादि है अतः बंध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित मूर्तिक है। और अपने ज्ञानादि लक्षणों का परित्याग न करने के कारण कथंचित अमूर्तिक है। जैसे रूपादि रहित आत्मा रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को जानता है। वैसे ही अरूपी आत्मा रूपी कर्म पुद्गल से बाँधा जाता है।

कर्मफल—वैदिक दर्शन की मान्यतानुसार जीव कर्म करने मे स्वतत्र लेकिन फल भोगने मे परतंत्र है। लेकिन जैनदर्शन मे जैसे दूध पीने से पुष्टि व मद्यपान से नशा स्वतः ही आता है। उसके लिए किसी अन्यकर्ता की आवश्यकता नही होती; इसी प्रकार भले बुरे फलदान की शक्ति स्वयं कर्म मे होती है। कहा है—

'स्वय किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य, तो स्वय किये निष्फल होते।।'

यह मानना कि ईश्वर विश्व के समस्त चराचर प्राणियों के समस्त कर्मों (कार्यों) का लेखा-जोखा रख उन्हें दण्ड व पुरस्कार देता है; उस सच्चिदानन्द को संकट के सिंधु मे डालने सदृश होगा। फिर भगवान तो वीतराग-वीतद्वेष होते है वे क्यो कर क्रमशः पुरस्कार और दण्ड प्रदाता होंगे।

कहा भी है—

'कर्ता जगत का मानता, जो कर्म या भगवान को।
वह भूलता है लोक मे, अस्तित्व गुण के ज्ञान को।।"

वस्तुतः संसार मे सभी प्राणी अपने कर्मों से बंधे हैं। उनकी बुद्धि कर्मानुसार ही होती है। शुभ कर्मोपार्जित

बुद्धि सन्मार्ग प्रदर्शाती है। इसके विपरीत अशुभ कर्मोदय में प्राणी कुमार्ग मे भटकता है।

विचारणीय है कि किसी कर्म का फल इस जन्म में मिल जाता है और किसी का जन्मान्तर में। इस प्रकार कर्मफल भोग में विषमता देखी जाती है। ईश्वरवादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त और कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। लेकिन कर्म में ही फलदान की शक्ति मानने वाला जैन सिद्धान्त इसका तर्कानुकूल पद्धति से उत्तर देता है। युक्ति, अनुभव, आगम से भी यही सिद्ध होता है कि कर्मफलदाता ईश्वर नहीं, कर्म है।

जब जीव को कर्म-फल का रहस्य ख्याल में आता है। कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वकृत कर्मानुसार ही अनुकूलता-प्रतिकूलता सफलता-असफलता मिलती है; तो वह व्यर्थ ही खेद-खिन्न न हो सतोष प्राप्ति को धारण करता है। उसके लिए अन्य प्रगतिशील साथी से ईर्ष्या करने का भी कोई प्रयोजन नही रह जाता क्योंकि उसे उसके अपने कर्मानुसार प्राप्त होता है। **कैसा कर्म करें, जिससे श्रेष्ठ फल मिले"** भव्य जीव निरन्तर यही चिंतवन और श्रेष्ठ आचरण करने का प्रयास करता है। कर्म-सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान वह औषधि है, जिसका हर रूप में पान करने से फल की आकांक्षा नही रहती। क्योंकि उसका पक्का विश्वास है कि मेरे शुभ कर्मों की शुभप्राप्ति मे इन्द्रनरेन्द्र (संसारी तो क्या जिनेन्द्र (मुक्त) भी फेरफार करने में समर्थ नही। शुभाशुभ कर्मफल में ज्ञानी समभाव धारण कर विचारता है कि इसमे वर्तमान की अपेक्षा जन्मान्तर से संचित कर्मों का भी हाथ है।

कर्म बलवान/निर्बल—जैन दर्शन की अनेकान्तमय दृष्टि कथंचित् कर्म को बलवान स्वीकार करती है।

> कर्म महारिपु जोर एक ना कान करे जी।
> मन माने दुःख देय काहूं सों नाहीं डरे जी ॥
> कबहुं इतर-निगोद कबहुं नरक दिखावे।
> सुर-नर पशु गति मांहि बहु-विध नाच नचावे ॥
> मैं तो एक अनाथ ये मिल दुष्ट घनेरे।
> कियो बहुत-बेहाल सुनियो साहिब मेरे ॥'

भूधरदास जी द्वारा रचित भजन की उपरोक्त चंद पंक्तियों से कर्म माहात्म्य स्पष्ट रूप से झलकता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का विवेचन सहज ही भयाक्रान्त करने वाला है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस-कोड़ा-कोड़ी सागर (अपरिमित-काल) और अकेले मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है। घातिया कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जीव को दीर्घकाल तक भव-भ्रमण कराने में सबल निमित्त है। और भी उल्लेखनीय है कि कर्म उदय में आने पर फल अवश्य देते हैं। सती सीता चन्दनबाला, अंजना और मैनासुन्दरी को कर्मों ने क्या खेल नहीं खिलाये।

भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव का उपसर्ग तो सर्वप्रसिद्ध है तीव्र कर्मोदय में प्रायः सुबुद्धि भी चलायमान हो जाती है। 'जैनशतक' मे भूधरदास जी असाताकर्मोदय आने पर धैर्य धारण की शिक्षा देते हैं—

> 'आयो है अचानक भयानक असाता कर्म।
> ताके दूर करिबे को बली कौन अह रे ॥
> जे जे मन भाये, ते कमाये पूर्व पाप आप।
> तेई अब आये, निज उदैकाल लहरे ॥
> एरे मेरे वीर काहे होत है अधीर यामें।
> काहु को न सीर, तू अकेलो आप सह रे ॥
> भये दीलगीर[1] कछु पीर न विनसि जाय।
> ताही तैं सयाने तू तमासगीर[2] रह रे ॥

निर्बलता—कर्म कोई क्रूर आततायी नहीं जो प्रत्यक्ष में सन्मुख होकर जीव को दुःख देते हों वे तो प्राणी के साथ रहने वाले संस्कार अभ्यास व आदतें हैं जो उसने मानसिक वृत्तियों वचनालापों व कायिक विकृतियों द्वारा अपने मे अंकित कर रखे है। ये संस्कार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नहीं चलते। वरन ये तो स्वयं व्यक्ति के पाले-पोषे सहायक साथी हैं। जिन्हें वह सदा अपने सीने से लगाये रहता है। इस जन्म में भी और जन्मान्तर में भी। यद्यपि कथन मे ऐसा आता है कि ज्ञानावरणादिक कर्म दुःख के कारण है तथापि द्रव्यार्थिक नय से कहा जाय तो जब यह जीव स्वयं विकार भाव रूप परिणमन करता है

---

१. निराश।

२. ज्ञाता-दृष्टा—(आत्मा का स्वभाव जानना देखना है।)

और तब निमित्त रूप में कर्म उपस्थित रहते हैं। इसीलिए कर्म के मत्थे दुःख का कारण मढ़ दिया जाता है। वस्तुतः जीव अपनी ही भूल (मोहरागद्वेष) से दुःखी है। जीव को अपनी अनन्त वीर्य शक्ति का ख्याल नहीं, अन्यथा रत्नत्रय खड्ग संभाले तो कर्म-शत्रुओं का नाश होने मे विलम्ब नहीं। विश्व रंगमंच पर यह जीव प्रायः सभी रसों के खेल दिखाता है। यदि भूले-भटके भी यथाजातलिंग हो, जिनेन्द्र मुद्रा को धारण करे और शान्तरस का अभिनय करे तो कर्म अनन्त निधि का अर्पण करते हुए आत्मा के पास से विदा हो जायें।

तर्क की दृष्टि से भी कर्म महा निर्बल सिद्ध होते हैं। जड़ कर्म चेतना-शक्ति सम्पन्न आत्मा को सुख-दुख प्रदान करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं। फिर जैन धर्म तो प्रत्येक द्रव्य का ही नहीं कण-कण की स्वतन्त्रता का उद्घोषक है। वस्तुतः जीव स्वय पुद्गल पुंज को कर्म-योग्य परिणमन के लिए आमन्त्रित करता है।

कहा भी है—कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात लोह की सगति पायी ॥

निम्न पंक्तियों मे कर्म की निर्बलता स्पष्ट झलकती है—

'जिस समय हो आत्म-दृष्टि कर्म थर-थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि छोड़ खुद ही भागते हैं ॥
आत्मा से है पृथक तन-धन सोच रे मन कर रहा क्या।
लखि अवस्था कर्म-जड़ की बोल उनसे डर रहा क्या ॥'

यह सत्य है तभी तो जीव और कर्म का शाश्वत वियोग मोक्ष सुख कहा।

जैन दर्शन का रहस्यमय कर्म सिद्धान्त गूढ़ व अति वैज्ञानिक है। इसका जितना गहन अध्ययन किया जाय इसकी वैज्ञानिकता उजागर होती है। कर्मों का स्वरूप, आस्रव के कारण, बंध की प्रक्रिया कर्म-फल, संवर (कर्म आगमन रुकना) और निर्जरा (कर्मों का एक देश झड़ना) आदि सभी चरण क्रमबद्ध व अति वैज्ञानिकता लिये हैं। आवश्यकता है इसके रहस्य को आत्मसात करने की। इसी क्रम में कर्मों की दस अवस्थाएं उल्लेखनीय हैं। इन्हें जैन शासन में करण कहते हैं। **बंध**—कर्म-पुद्गल का जीव के साथ सबद्ध होने को बंध कहते हैं। कर्मों की स्थिति व अनुभाग का 'बढ़ना' व 'घटना' क्रमशः **उत्कर्षण** व **अपकर्षण** कहलाता है। कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद यदि भावों में कलुषता बढ़ती है तो उत्कर्षण होता है और उत्तरोत्तर भावों की शुद्धता होने पर अपकर्षण होता है। महाराजा श्रेणिक की सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर की बंधी थी लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम नरक की आयु मात्र चोरासी हजार वर्ष की रही। **सत्ता**—कर्म बंधने के तुरन्त बाद अपना फल नहीं देते उसी प्रकार जैसे बीज डालने के तुरन्त बाद पौधा नहीं उगता। **उदय**—कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म के फल देकर नष्ट होने को फलोदय और बिना फल दिये नष्ट होने को प्रदेशोदय कहते है। उदीरणा—अपकर्षण द्वारा कर्म की स्थिति को कम किये जाने के कारण कभी-कभी नियत समय से पूर्व कर्म का विपाक हो जाता है जैसे आम को घास में दबा कर नियत समय से पूर्व पका लिया जाता है। **संक्रमण**—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म रूप हो जाना। यह संक्रमण मूल भेदों में नहीं अवान्तर भेदों में होता है। संक्रमण का एक सुन्दर उदाहरण सती मैना सुन्दरी के जीवन का एक प्रसंग है। सिद्धचक्र विधान करनेके दौरान मैना सुन्दरी के विशुद्ध परिणाम और अतिशय पुण्य का बंधना सभव हुआ। परिणाम स्वरूप अशुभ कर्म का शुभ कर्म मे संक्रमण हुआ। उसी समय उसके पति श्रीपाल के अशुभ कर्मों की स्थिति समाप्त हुई, और कोढ़ दूर हुआ। **उपशम**—कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य करना **निधत्ति**—कर्म का उदय और संक्रमण न होना। **निकाचना**—उसमें उदय संक्रमण अपकर्षण और उत्कर्षण का न होना।

इससे सिद्ध होता है कि जीव के भावों में निर्मलता अथवा मलिनता की तरतमता के अनुसार कर्मों के बंध आदि में हीनाधिकता हो जाती है। कर्मों को असमय में उदय में लाकर, आत्मबल को जागृत कर, कर्मों की राशि जो सागरों (अपरिमित काल) काल पर्यन्त अपना फल देती, नष्ट किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था न हो तो अनन्तकाल से स्वभाव पर आच्छादित कर्म राशि को कैसे अलग किया जाता। इसे कर्म सिद्धान्त की महती देन ही

कहना चाहिये कि भव्य जीव योग्य पुरुषार्थ द्वारा अशुभ को शुभ में संक्रमण कर सकता है। अनन्त कर्मों के पुंज को तीव्र पुरुषार्थ द्वारा (उपशम) उदय के अयोग्य बनाया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त द्वारा प्राणी मात्र की स्वतन्त्रता की घोषणा—जैन धर्मानुसार प्रत्येक प्राणी स्वय अपना भाग्य-विधाता है। उत्कृष्ट शुभकर्मोपार्जन कर एक जीव नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती और यहाँ तक कि सोलहकारण भावनाओं के चिंतवन के फलस्वरूप लोकोत्तर सर्वोत्तम समवशरणादि वैभव का स्वामी बनता है। प्रत्येक प्राणी अकेला कर्मोपार्जन करता है और अकेला ही भोगता है। कविवर पं० दौलतराम जी ने छहढ़ाला में एकत्व भावना में कहा है—

'शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक ही ते ते।
सुत-दारा[1] होय न सीरी[2], सब स्वारथ के हैं भीरी॥'

कर्म सिद्धान्त द्वारा भेद विज्ञान—स्त्री, पुत्र, संपदा, महल व मकानादि तो प्रत्यक्ष ही भिन्न है। औदारिक शरीर को भी मृत्यु के समय भिन्न होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। तैजस और कार्माण शरीर जिनका आत्मा के साथ संबद्ध अनादि काल से है (अनादि सबंधे च') उनकी भिन्नता का ज्ञान कर्म सिद्धान्त द्वारा होता है। कर्म चूंकि पौद्गलिक जड़ है अत: स्वाभाविक रूप से वह अमूर्तिक ज्ञानादि गुणों के धारी जीव से नितान्त भिन्न है। चाहे चक्रवर्ती का राज्य मिले या तीर्थंकर का समवशरणादि अत्यन्त आश्चर्यकारी वैभव यह सब कर्म कृत है। चिदानन्द स्वरूप तो पर से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार का विवेक जागृत होने से भेद-विज्ञान होता है।

पूर्वकृत कर्मानुसार ही नर-नारकादि भव मिलते हैं इसलिए अज्ञानी जीव कर्म को ही आत्मा मानने की भूल कर बैठता है। इस तथ्य से विस्मृत होकर, कि जीव की भूल के कारण ही पुद्गलपुंज कर्म रूप परिणमन हुआ है। वे कर्मों पर सुख-दुख कर्ता होने का मिथ्या आरोप लगाते हैं। स्मरणीय है कि जीव की सत्ता में कर्म सत्ता का प्रवेश ही नहीं हो सकता तो वे जीव को सुखी दुःखी कैसे कर सकते हैं ? अर्थात नहीं कर सकते। और यदि करने में समर्थ हों तो अनन्त स्वतन्त्रता के धारी आत्म तत्व को पराधीन कहा जायेगा जो तीन काल मे भी संभव नहीं। कर्म को ही आत्मा मानने वाले जीव इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि कर्मों का नाश कर वीतरागता जीव को ही प्रकट करना है। कर्म को ही आत्मा कहने वालों का यह तर्क हैं कि जैसे लकड़ी के आठ टुकड़ों से भिन्न कोई पलंग नहीं उसी प्रकार कर्म सयोग से भिन्न कोई आत्मा नहीं। यद्यपि आठ टुकड़ों से बना निःसन्देह पलंग ही है तथापि पलग पर सोने वाला पुरुष द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा पलंग से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के सयोग से भिन्न कर्मावरण मे रहने वाला चैतन्य महाप्रभु पलंग से पुरुषवत् भिन्न है।

इस प्रकार भेद-विज्ञान कर उस चैतन्य प्रभु की क्रमश: पहचान, श्रद्धान, रमणता से अष्टकर्म संयोग भी छूट जाता है। जब तक कर्मों से भिन्न ज्ञायक आत्मा की प्रतीति न होगी, तब तक उसे स्वभाव पर दृष्टि के बल से भिन्न करने का उपक्रम भी कैसे किया जायेगा।

कर्म सिद्धान्त का ज्ञान परंपरा से मोक्ष का कारण—जिस प्रकार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो दृष्टि पर्याय के क्रम पर न रह कर पर्याय के पुंज को भेदती हुई ज्ञायक—स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है। इसी प्रकार कर्म—सिद्धान्त की सम्यक् जानकारी जब ख्याल मे आती है तो दृष्टि कर्म माहात्म्य को गौण कर अखण्ड ज्ञानपुंज सुखकंद आत्मा में जम जाती है। और स्वभाव-सन्मुख दृष्टि रूपी हंस अन्तर्मुहूर्त मात्र में कर्म और आत्मा को नीरक्षीरवत् भिन्न कर देता है। अब जीव पूर्ण विकसित अन्तरग लक्ष्मी (अनन्त चतुष्टय) का स्वामी और तीन लोक का नाथ बन जाता है।

कर्म—विज्ञान को ख्याल मे लेते हुए भव्य जीव विचार करता है। अहं ! हो !! मेरे तपाये हुए सोने के समान शुद्ध स्वरूप में अनादि से यह किट्टकालिमा रूप ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म और शरीरादि नो-कर्म चिपके पड़े हैं। अतः वह स्वभाव-सन्मुख हो ज्ञान-ध्यान तप रूपी अग्नि का आश्रय लेकर कर्म कालिमा को दूर करने के लिए कमर कस लेता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मूल की भूल से परिचित करा शाश्वत सुख-शांति का मार्ग-निर्देशन करता है।

२ (घ) २७ जवाहरनगर,
जयपुर

१. स्त्री २. भागीदार

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी
तथा
कार्यकारिणी समिति के सदस्य

	नाम	पद	पता
१.	साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२.	श्री ला० श्यामलाल जैन ठेकेदार	उपाध्यक्ष	४-६, टोडरमल रोड, "
३.	न्यायमूर्ति श्री मांगेलाल जैन	"	३०, तुगलक क्रीसेण्ट, नई दिल्ली
४.	श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६ दरियागंज "
५.	श्री बाबूलाल जैन	सचिव	२/१० दरियागंज "
६.	रत्नत्रयधारी जैन	"	५, अल्का जनपथ लेन "
७.	श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज "
८.	श्री इन्दरसेन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड दरियागंज न. दिल्ली
९.	श्री प्रेमचन्द जैन	"	७/३२, दरियागंज नई दिल्ली
१०.	श्री शीलचन्द्र जौहरी	"	११ दरियागंज "
११.	श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार	"	५-ए/२८ दरियागंज "
१२.	श्री गोकुलप्रसाद जैन	"	३ रामनगर पहाड़गंज "
१३.	श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३ दरियागंज "
१४.	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७ कनाट प्लेस "
१५.	श्री देवकुमार जैन	"	एम-७४ ग्रेटर कैलाश I "
१६.	श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	४६६२/२१, दरियाखंज "
१७.	श्री हरीचन्द जैन	"	२/२९ " "
१८.	श्री प्रकाशचन्द जैन	"	४ अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली
१९.	श्री शैलेन्द्र जैनी	"	११, दरियागंज नई दिल्ली
२०.	श्री मल्लिनाथ जैन	"	१ " "
२१.	श्रीमती जयवन्ती देवी जैन	"	घटा मस्जिद रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

R. N. 10391/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ में प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। (प्रेस में)

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

सम्पादन परामर्श मण्डल—**डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द जैन,** सम्पादक—**श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १६८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

सहस्रकूट जिनचैत्यालय (११वी शती ईस्वी) कारोतलाई

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

□□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मंदिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१-०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्
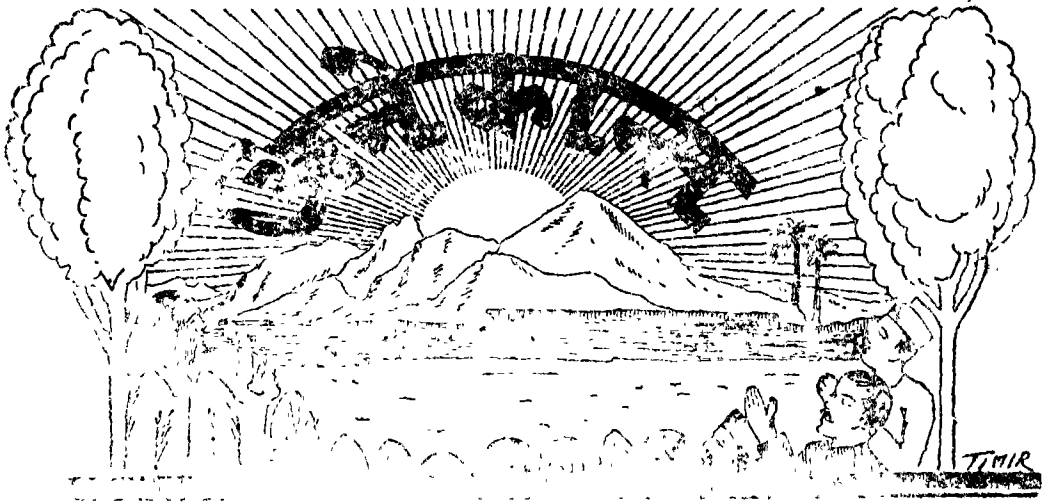
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण ४ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०७, वि० सं० २०३८ { अक्टूबर-दिसम्बर १९८१

अध्यात्म-पद

चित चिंतके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ॥ चित० ॥
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दागनी शमूं ॥ चित० ॥
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ॥ चित० ॥
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलके त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ॥ चित० ॥
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ॥ चित० ॥

—कविवर दौलतराम कृत,

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं संपूर्ण विभावों का वमन करूँगा । और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूंगा । पुन्य-पाप को छोड़ कर आतम में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूंगा । सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा । मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोड़ूंगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊंगा । मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ ।

□□

जैन परम्परानुमोदित तपः विज्ञान

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

तपतीति तपः', 'तप्यतेतितपः', 'तापयतीति तपः', इत्यादि रूपों में पुरातन जैनाचार्यों ने तप का शब्दार्थ किया, अर्थात तापना या तपाना प्रक्रिया जहाँ होती है, वह तप है। सामान्यतया ताप का कारण अग्नि होती है और उसके दो परिणाम होते है, भस्म हो जाना अथवा भस्म कर डालना, शुद्ध कर देना। लोक में तृण काष्ठ कूड़ा आदि त्याज्य, तिरस्कृत, व्यर्थ या अनुपयोगी वस्तुओं को अग्नि में भस्म कर दिया जाता है अथवा किसी धातु को विशेषकर, स्वर्णपाषाण को अग्नि में तपा कर उसके किट्टिमादि मल को दूर किया जाता है उसका शोधन किया जाता है और फलस्वरूप अन्ततः शुद्ध सोटची स्वर्ण प्राप्त होता है। इन लौकिक आधारों पर जैनाचार मे तप का विधान हुआ है—

विशुद्धयति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम्।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥

इसीलिए जहाँ 'तपतीति तपः' कहा, वहां स्पष्ट करने के लिए साथ मे उसका प्रयोजन भी बता दिया— 'विशोधनार्थं' अथवा 'कर्मतापयतीति तपः', 'कर्म निर्दहनात्तपः यथाग्निसंचित तृणादि दहति', उसी प्रकार 'देहेन्द्रिय तापाद्वाकर्मक्षयार्थं तप्यतेतितपः' या 'कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः', अथवा 'तवरेणामतावयति अनेक भवोपात्तमष्ट प्रकार कर्मेति', 'भवकोडिए संचित कम्म तवसा णिज्जदिज्जई', इत्यादि!

अतएव परिभाषा की गई 'इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः' अर्थात् आत्मोद्बोधनार्थ अपने मन और इन्द्रिय के नियमन के लिए किया गया अनुष्ठान ही तप है।

इस नियमन में सबसे बड़ी बाधा इच्छा है— नानाविध इन्द्रिय-विषयों को भोगने की, अतः उन्हें प्राप्त करने की, जुटाने की संग्रह करने आदि की इच्छा है। मानवी इच्छाएँ अनगिनत है, उनकी कोई सीमा नहीं है। और एक इच्छा पूरी नहीं हो पाती कि उसके स्थान में चार नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। उनका कोई अन्त नहीं है। परिणामस्वरूप औसत व्यक्ति इच्छाओं का दास होकर रह गया है। इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्नों मे ही उसका संपूर्ण जीवन बीत जाता है। वह स्वयं बीत जाता है, परन्तु उसकी समस्त इच्छाएँ कभी भी पूर्ण नहीं होतीं अनगिनत इच्छाएँ अतृप्त एवं अपूर्ण ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त, उक्त इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्नों के प्रसंग से वह व्यक्ति अनेक प्रकार की आकुलताओं, कष्टों, चिन्ताओं, राग-द्वेष, मद-मत्सर, ईर्ष्या-जलन, वैर-विरोध, दुराचार, कदाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार व अपराधी प्रवृत्तियों मे बुरी तरह उलझा रहता है। उसे स्वयं को तो सुख-शान्ति का दर्शन होता ही नहीं, जो भी अन्य व्यक्ति, परिवार के, पड़ोस के, समाज, नगर, राष्ट्र या कहीं के भी, उसकी इच्छापूर्ति के प्रयत्नों मे बाधक होते या होते लगते है, उन सबको भी वह अशान्त, दुःखी, क्रुद्ध या क्षुब्ध कर देता है। शोषण, अपराधों, द्वन्द्वों और संहारक युद्धों की जननी इच्छा ही है— विरोधी इच्छाओं के टकराव मे यह सब होता है।

इस शाश्वतिक अनुभूति से प्रभावित होकर श्रमण तीर्थकरों और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थाचार्यों ने 'इच्छानिरोधस्तपः' सूत्र द्वारा इच्छानिरोध को ही तप बताया। जब इच्छाओं का ही, भले ही शनैः शनैः उन्मूलन हो गया तो उनके कारण होने वाले रागद्वेषादि विकारों का, अतः समस्त पाप प्रवृत्तियों का उपशमन होता ही चला जायेगा। फलतः साधक आत्मोन्नयन के पथ पर अग्रसर होता हुआ अपने शुद्ध स्वरूप को, अक्षय सुख-शान्ति की स्थिति अपने परम प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेगा। इसी से आध्यात्म-

दृष्टा कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समस्त रागादि परभावेच्छा त्यागेन स्वरूपे प्रतपन विजयनं तप:' कहा है। वस्तुत: समस्त रागद्वेषादि विभावों की इच्छा का त्याग करके निज स्वरूप या शुद्ध आत्मस्वरूप स्वभाव में देदीप्यमान होना ही सच्चा तप या सच्चे तप का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में, विषय-कषायों का निग्रह करके स्वाध्याय व ध्यान में निरत होते हुए आत्म चिन्तन करने या उसमें लीन होने का नाम ही तप है। ऐसा तप देह एवं इन्द्रियों को तपाता हुआ कर्म को स्वत: नष्ट कर देता है, आत्मा को कर्म-बन्ध से मुक्त करके परमात्मा बना देता है। एक पाश्चात्य विचारक की उक्ति है कि 'इच्छाविहीन मनुष्य ही ईश्वर है—और इच्छावान ईश्वर मनुष्य है।' एक शायर के शब्दों में —

सरापा आरजूओ ने बन्दा कर दिया मुझको।
वगरना हम खुदा थे गर दिले बेमुदा होता।।

वास्तव में, आत्मशोधनार्थ बुद्धिपूर्वक किया गया सम्यक् तप ही मोक्ष पुरुषार्थ है, और उसकी प्रथम शर्त है नि:स्पृहता। इच्छाओं का सर्वथा अभाव ही परमात्मा है। 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव' कषाय मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है! विषय लोलुप व्यक्ति के चित्त में धर्मांकुर कैसे पनपेगा? संयम-नियम-तप से भावित आत्मा के ही सामायिक संभव है। तप: साधना द्वारा विषय-कषायों का दमन ही सच्ची नमस्कृति भी है -

नहंगो अजदहा ओ शेरेनर मारा तो क्या मारा।
बड़े मूजी को मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा।।

इसी से साधक अनुभव करता है कि —

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माह परे हि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि।।

दूसरों के द्वारा मेरा वध-बन्धनादि रूपों में दमन किया जाये इससे कहीं अच्छा है कि मैं अपनी आत्मा का संयम एवं तप द्वारा दमन कर दूं।

उक्त रागद्वेषादि कषाय या विकार भाव ही जैन दर्शन में भावकर्म कहलाते हैं और वे ही आत्मा के ज्ञानावरण-दर्शनावरण आदि अष्टविध द्रव्यकर्मों के बंधन में जकड़े जाने तथा फलस्वरूप जन्म-मरण रूप संसार में निरन्तर संसरण करने एवं अकल्पनीय दु:खों का पात्र बने रहने के कारण होते हैं। ये द्रव्यकर्म जब उदय में आते हैं तो अपना-अपना फल दिखाते हैं। उनके बहाव में आत्मा दु:खी, क्लेशित, आकुल, व्याकुल और रागी द्वेषी होता है, क्रोध-मान-माया-लोभ-काम आदि नाना कषाय भावों में ग्रस्त होता है, तथा परिणामस्वरूप नवीन कर्मबन्ध करता रहता है—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयै र्व्याकुलीकृतम्।
सञ्चिनोतिमन: कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्।।

कषाय रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित और विषयों से व्याकुल मन संसार के बन्धनभूत कर्मों का संचय करता रहता है। कर्म से कर्म बंध का यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। जब तक वह समाप्त नहीं होता आत्मा की मुक्ति नहीं होती, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं होती। परन्तु —

निर्वेद पदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा।।

संयमी आत्मा संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण में प्रवृत्त होता जाता है वह उक्त दुर्जन कर्मों का क्षय करता जाता है।

अस्तु प्राणी का परम प्राप्तव्य या अभीष्ट लक्ष्य सच्चे शाश्वत निराकुल अक्षय सुख की स्थिति मोक्ष या सिद्धत्व है। उसे प्राप्त करने के लिए नवीन कर्मों के आने और बंधने के सिलसिले को रोकना आवश्यक है, और इस द्विविध फलप्राप्ति का साधन इच्छानिरोध रूप तपानुष्ठान है। जिन शासन में तप का फल संवर अर्थात् कर्मास्रव का निरोध और निर्जरा अर्थात् पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय बताया है। यही संक्षेपत: वह तपविज्ञान है जो भौतिकज्ञान, शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान से तथा युक्ति, तर्क और अनुमान से भी साधित एवं सिद्ध है।

यह तपानुष्ठान दो प्रकार का है, बाह्य और अभ्यन्तर, जिनमें से प्रत्येक छ: छ: भेद हैं—

द्वादशं द्विविधं चैव बाह्याभ्यन्तर भेदत:।
तपं स्वशक्ति प्रमाणेन क्रियते धर्मवेदिभि:।।

अनशन, ऊनोदर (या अवमोदर्य), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन और कायक्लेश नामक

रूपों में परम्परया या प्रतिपादित बाह्य तप का लक्ष्य मन तथा इन्द्रियों का ऐसा अनुशासन, नियमन एवं नियन्त्रण करना है कि जिससे वे साधक की साधना मे बाधक नही, वरन् साधक हों।

दूसरे शब्दों में, हम अपनी देह एवं इन्द्रियों के दास न बने रह कर उन्हें ही अपने दास बना लें, उन्हे अपने अधीन एवं वश में ऐसा कर लें कि उनकी ओर से सर्वथा निश्चित हो जाये। यहाँ भी शक्तितस्तप की शर्त लगा कर आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि तप के लक्ष्य को ध्यान मे रख कर उतना और वैसा ही तप किया जाय जितना अपनी शारीरिक स्थिति, शक्ति एवं परिवेश अनुमति दें—हठयोग कृच्छ्रतप या तपातिरेक न करे। बाह्य तपों के विविध अनुष्ठानों द्वारा शरीर और इन्द्रियों को पूर्णतया स्वाधीन बना लेने पर ही अभ्यन्तर या अन्तरंग तपों की साधना की जाती है—

न च बाह्यतपोहीनमभ्यन्तरं तपो भवेत्।
तंदुलस्य विकिलत्तिर्नहि बन्ह्यादिर्कविना॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एव ध्यान षड्विध आभ्यन्तर तप है। इनमें से प्रथम पांच क्रमशः साधक के चित्त को अहंकारशून्य, विनयी, निरालस, सेवाभावी, ज्ञानाराधक और स्वशरीर के प्रति निर्मोही बना देते हैं जिससे कि उसकी स्वशक्ति उतना विकसित हो जाती है कि वह आत्मध्यान मे स्थिर रह सके। वस्तुत: 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्'—स्वरूप वाला धर्मध्यान ही शुभ से शुभतर, शुभतम होता हुआ शुद्ध आत्मध्यान रूप में हो जाय, वही वास्तविक तप है। आत्मा की आत्मा द्वारा आत्मतल्लीनता या आत्मरमण ही वह परम समाधि-रूप निर्विकल्प ध्यान-तप ही कर्मक्षय तथा आत्मशोधन मे समर्थ एवं सक्षम है, मुक्ति एव सिद्धि का दाता है। शेष समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर तप तो उसकी सिद्धि मे सहायक एवं साधक शरीर अथवा मन-वचन-काय के नियमन की प्रक्रियाएं हैं।

जैन शास्त्रों में तपनुष्ठान, तपाचार, तपाराधना, तपोविधा, तपविनय, इत्यादि अनेक प्रकार से व्याख्या करके तप का महत्व स्थापित किया गया है। वास्तव में निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों की संस्कृति ही तपः पूत है। तप जैनी साधना का अनिवार्य अंग है। वह जैन संस्कृति का एक व्यवस्थित विधान है। जैनेतर मनीषियों ने भी यह तथ्य मान्य किया है और यह भी कि अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के हाथों ही इस तप मार्ग का पूर्ण एव चरम विकास हुआ, वह अपनी पूर्णता एवं प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। दूसरी शती ई० के जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामि के शब्दों मे—

अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया,
त्रयी प्रवृत्ति समधीरवारुणत्॥

हे महावीर भगवान! कोई सतान के लिए, कोई धन सम्पत्ति के लिए, कोई स्वर्गादि सुखों अथवा अन्य किसी लौकिक तृष्णा की पूर्ति के उद्देश्य से, तप करते है किन्तु आप तो जन्म-जरा की बाधा का परित्याग करने के लक्ष्य से इष्टानिष्ट मे मध्यस्थ रह कर अथवा समत्व भाव धारण करके अपनी मन-वचन-काय रूप त्रयी की प्रवृत्तियों निरोध करते है।

अस्तु आत्मोन्नयन के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्यक् तप का अभ्यास एव साधना अत्यावश्यक है एहिलौकिक सुख-शान्ति के लिए भी और पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भी। जो मोक्षमार्ग के पथिक गृहत्यागी साधु है वे तो निरन्तर तपानुष्ठान मे ही सलग्न रहते है, उसके एव निष्ट साधक होते है। ऐसे तपस्वी ही प्रशंसित है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

तपः प्रधान सयम का साधक क्षपक ही तपस्वी है, साधु है—मात्र वैसा वेष धारण कर लेने से कोई तपस्वी या साधु नही हो जाता। ऐसे तपोधन मुनिराज ही स्वपर कल्याण के सम्पादक होते हैं। उन समत्वसाधक तपस्वियों से किसी का भी अहित नही होता, वैर-विरोध का तो प्रश्न ही क्या।

किन्तु सामान्य गृहस्थ स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध भी स्वशक्ति अनुसार आंशिक रूप में तप का अल्पाधिक

अभ्यास करने से लाभान्वित होते ही है। अनशन-ऊनोदर आदि बाह्य तपों के अभ्यास से शरीर को स्वस्थ, निरालस कष्टसहिष्णु सहज ही बनाया जा सकता है और प्रायश्चित, विनय, स्वाध्याय आदि आभ्यन्तर तपो के अभ्यास से अपने मन एवं बुद्धि को निर्मल बनाया जा सकता है। अहंकार का अभाव, विनय, परदु:खकातरता, अनुकम्पा, सेवाभाव और निःस्वार्थ दृष्टि की प्राप्ति होती है, अन्तःपरीक्षण तथा चित्तवृत्तियो को एकाग्र करने की क्षमता बढती है। गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए रचित अद्वितीय नीतिकाव्य तिरुकुरल की सूक्ति है कि 'अपनी पीडा सह लेना और अन्य जीवों को पीड़ा न पहुंचाना, यही तपस्या का स्वरूप है।' अन्यत्र भी कहा गया है कि 'दुःख को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है।' 'दिन मे हजार गम ओं पर जरा पे शिकन न हो।' और 'क्षान्ति तुल्यं तपो नास्ति' —दूसरे के अपराध को सहन करने के बराबर कोई तप नही है। महात्मा गाधी की भी उक्ति है कि तपस्या धर्म का पहला और आखिरी कदम है। वास्तव में तप की महिमा महान है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर करके अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है। धीर पुरुष तप द्वारा ही ससार में उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

अब जो व्यक्ति तप के इस निचोड़ को जानता-समझता और आचरता है वह अपने व्यक्तित्व का तो भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करेगा ही, जिन अन्य व्यक्तियो के सम्पर्क मे वह आयेगा उनके उन्नयन मे भी सहायक होगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नही रहता। अतएव जिस परिवार मे ऐसी तप साधना चलती है उस परिवार के सभी सदस्य सुख-शान्ति अनुभव करेंगे, वे अपना ही नहीं, दूसरों का ध्यान, उनकी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखेंगे। जिस समाज मे ऐसे तपसाधको की बहुलता होगी वह समाज भी सुख-शान्ति का अनुभव करेगा, सशक्त होगा, उसमें शोषण, अन्याय और अपराध वृत्ति को स्थान नहीं रहेगा। जिस राष्ट्र के नागरिक, प्रशासक तथा राजनेता ऐसे तपानुष्ठान मे आस्था रखेंगे और उसे अपने अपने आचरण में लाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे उस राष्ट्र में आन्तरिक सुख-शान्ति एव उन्नति तो होगी ही, इतर राष्ट्रो के साथ भी उसके संबंध सहयोग एवं सहअस्तित्व साधक तथा मधुर होंगे। इस संबध मे यह भी ज्ञातव्य है कि सम्यक् तप की साधना वही संभव है जहाँ व्यक्ति एवं समाज कुछ विकसित होते है। नितान्त असभ्य बर्बर अज्ञ व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समुदाय तो तपश्चरण के महत्व से अनभिज्ञ और उसकी साधना के लिए अयोग्य होते है। किन्तु जब व्यक्ति विशेष के जीवन में तप भाव की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसका आध्यात्मिक विकास द्रुतवेग से होने लगता है। जिस समाज मे ऐसे व्यक्ति पर्याप्त संख्या में होते हैं, उसमें जो यह साधना नही करते वे भी उससे प्रभावित रहते ही है और परिणाम स्वरूप उस समाज का विकास उत्तरोत्तर होता ही चला जाता है। अत: तत्संबंधित राष्ट्र का भी समुचित विकास होता है। मानव संस्कृति की उत्कृष्टता का मूलाधार तप साधना ही है।

इस प्रकार, तपानुष्ठान न केवल एक धार्मिक, साम्प्रदायिक व आध्यात्मिक मूल्य ही है, न केवल वैयक्तिक आत्मोन्नयन के लिए परमावश्यक साधन है, वरन् पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हित-सुख संपादन मे भी उसका अपरिमित महत्व है। अपने दुःख-कष्टों को समभाव से पी जाना और अन्य किसी को पीड़ा न पहुंचाना, न सरसंक पहुंचने देना, यह तप पूत मनोवृत्ति एवं तप: प्रेरित तत्प्रवृत्ति समस्त प्राणियों के हित-सुख की सफल सम्पादिका है।

ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-१

□□

हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक मूल्यांकन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अवधि (१०वीं से १४वीं तक) निर्विवाद है, परन्तु उसके नाम भाषा और चेतना को लेकर भारी विसंवाद है। काल के आधार पर इसके दो नाम हैं—प्रारंभिक काल, आदिकाल। प्रवृत्ति के आधार पर चार नाम हैं—वीरगाथा, चारण, रासो, सिद्धसामंतकाल। लेकिन इनमेसे एक भी नाम—आलोच्यकाल के साहित्य की समग्र चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करता! और जब, प्रारम्भिक युग की प्रवृत्तियों का, जिन पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का भवन खड़ा है, निर्धारण न हो, तो बाकी इतिहास कथा विश्वसनीय नहीं रह जाती।

प्रवृत्तियों के निर्धारित न होने के कई कारण हैं। एक,—आलोच्यकाल के साहित्य की भाषा और हिन्दी के सम्बन्ध का निर्णय अभी तक नहीं हो सका। दो—उपलब्ध साहित्य का अभी तक मूल्यांकन नहीं किया जा सका। तीन—आलोच्य साहित्य—हिन्दी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया। चार—मध्य देश में जो साहित्य लिखा गया वह प्रक्षिप्त और अप्रमाणिक है। पांच—यह अभी भी विचारणीय है कि साहित्य के इतिहास-लेखन का सही दृष्टिकोण क्या हो?

उक्त प्रश्नों का समाधान खोजे बिना, हिंदी साहित्य का ऐसा इतिहास, लिखा जाना असम्भव है कि जो विवादों से परे हो। स्व० ह० प्र० द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल को इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने कविवृत्त संग्रह की पिटारी से निकालकर, हिंदी साहित्य के इतिहास को जीवंत प्रवाह से जोड़ा। फिर भी उनको शुक्ल जी से दो शिकायतें हैं। एक तो यह कि उनकी दृष्टि शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों तक सीमित है। दूसरे, उन्होंने बहुत से अपभ्रंश साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर उसका उपयोग नहीं किया।

परन्तु जिस समय (१९२९) में शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा उस समय कई बातें अस्पष्ट थी। उस समय विवाद का रूप से बड़ा मुद्दा यह था कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा है या कृत्रिम। महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश साहित्यिक कृतियां मूल रूप में प्रकाशित अवश्य हो चुकी थीं, परन्तु हिन्दी अनुवाद के अभाव में ठेठ हिन्दी-विद्वानों का उनमें प्रवेश करना निपट असभव था। अपभ्रंश और हिन्दी के भाषिक रिश्तों की पहचान अभी होना बाकी थी। इसलिए शुक्ल जी सारी अपेक्षाएँ यदि पूरी नहीं कर सके तो यह उक्त सीमाओं के कारण। लेकिन डा० द्विवेदी के समय (१९५०-६५) सारी स्थितियां स्पष्टतर थीं। कुहासा छट चुका था। उन्हें वह लोकदृष्टि प्राप्त थी जो अशिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब बखूबी झांक सकती थी। उनके समय तक हिंदी अनुवाद सहित, महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश कृतियां प्रकाश में आ चुकी थीं, फिर भी उन्होंने आलोच्य युग के मूलभूत साहित्य को नहीं छुआ। उसका अध्ययन—विश्लेषण वे यह कह कर टाल गये कि उक्त साहित्य हिन्दीभाषी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया है।

आदिकाल में वह अपभ्रंश के मुक्तक काव्य की चर्चा तो करते हैं जो सिद्ध हेम व्याकरण, प्रबंध-चिंतामणि आदि में बिखरा हुआ है, लेकिन स्वयंभू पुष्पदंत धनपाल जैसे शीर्षस्थ रससिद्ध अपभ्रंश कवियों के एक शब्द को भी उन्होंने नहीं छुआ। पुस्तक में साहित्येतर तथ्यों का विस्तार से उल्लेख है, इस बात की भी विशद चर्चा है कि हिन्दी प्रदेश में अपभ्रंश साहित्य क्यों नहीं लिखा गया,

यदि लिखा भी गया हो, तो सुरक्षित क्यों नहीं रह सका। यह एक अजीब विरोधाभास है कि जो साहित्य उपलब्ध है उसका विचार नहीं करते हुए जो उपलब्ध नहीं है, उसकी और उसके न होने के कारणों की गुहार मचाई जाए ?

आलोच्यकाल के उत्तर काल में मध्यदेश पर चौहान और गाहड़वार वंशों का आधिपत्य था। गाहड़वार उत्तर-पश्चिम से आए थे। वैदिक धर्म के अनुयायी होने के कारण उन्होंने अपभ्रंश तथा देश्य भाषाओं को प्रश्रय नहीं दिया। दूसरे इस क्षेत्र में उस यजनशील ब्राह्मण-व्यवस्था का बोलबाला रहा, जो संस्कृत को सब कुछ मानती थी। यह तो हुई उत्तरकाल की बात लेकिन पूर्वकाल में (१० से १२वीं तक) महीपाल के समय कन्नौज में सभी भाषाओं के कवियों को स्थान प्राप्त था। मध्यदेश के कवि को सर्वभाषा कवि बनना पड़ता था ! राजशेखर के अनुसार टक्क (पंजाब) से लेकर मादानक (वर्तमान ग्वालियर) तक अपभ्रंश ही काव्य की भाषा थी। उस समय जब दक्षिण के राष्ट्रकूटों, बंगाल के पालों, सांभर के चौहानों, मालव के परमारों और गुजरात के सोलंकियों के प्रश्रय में अपभ्रंश कविता लिखी जा रही थी। तब हिन्दी प्रदेश, जो भारत का हृदय देश है, उससे अछूता नहीं रहा होगा। उसकी धड़कनें संस्कृत के अलावा अपभ्रंश में भी मुखरित हुई होंगी, लोक की भाषायें और भावनाएं मानसूनी हवाओं की तरह ऊपर-ऊपर नहीं उड़ती वे हृदय देश से उठ कर आसपास फैली होंगी, और आस-पास की भाषाओं और भावनाओं ने उसका स्पर्श किया होगा। अतः जो नहीं है, उस पर लम्बा-चौड़ा अफसोस करने के बजाय, उचित यह था या है कि जो है उसकी गहराई से पड़ताल की जाए ? अटकलबाजी इसी से समाप्त होगी। तथ्य यह है कि आलोच्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियां, वहीं हैं जो दूसरे काल की हैं। यह युग वदतोव्याघात का युग नहीं है। वदतोव्याघात का अर्थ है—अपने कथन का खंडन स्वयं करना। मुझे पूरे युग के साहित्य में ऐसा कुछ नहीं मिला जिससे उक्त कथन का समर्थन होता हो। यही बात अन्तर्विरोध के बारे में कही जा सकती है। डा० द्विवेदी ने दो चीजों में अन्तर्विरोध दिखाने की चेष्टा की है। एक तो यह कि इस युग में, एक तरफ, अलंकृत शैली को चरम सीमा पर पहुंचाने वाले श्री हर्ष जैसे संस्कृत कवि थे, और दूसरी तरफ, अपभ्रंश दोहाकार थे जिनमे मर्म की बात थोड़े में और सरल ढंग से कहने की क्षमता थी। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि एक ओर दर्शन के दिग्गज आचार्य हुए, तो दूसरी ओर, निरक्षर संतों के ज्ञान प्रचार के बीज इसी काल मे बोए गए। मेरी समझ मे इन दोनों बातों में कोई अन्तर्विरोध नही है। एक काल मे एक ही भाषा में दोनों प्रवृत्तियां रह सकती हैं, उनमे न तो परस्पर विरोध है और न आधारगत। कहां संस्कृत जैसी परिनिष्ठित काव्यभाषा और कहां अपभ्रंश भाषा ? श्रीहर्ष की तुलना अपभ्रंश दोहाकारो से करने में कोई औचित्य नही है ? अधिकतर हिन्दी विद्वानों की अपभ्रंश साहित्य मे पैठ है, अपभ्रंश दोहों तक सीमित है। जहां तक अलंकृत शैली का सवाल है अपभ्रंश कवि पुष्पदंत और स्वयंभू श्रीहर्ष की टक्कर के कवि है। सरस्वती का स्मरण करते हुए पुष्पदंत ने कहा है—

> सालंकारो छंदेण जंति,
> बहु सत्य अत्थ गारव वहंति।
> चउमुह-वासिणी सद्दजोणी,
> णीसेसहेउ सा सोह-खोणी॥

मेरी वाणी अहंकारों से सजधज कर छंदों में चलती है, अनेक शास्त्रों के अर्थ गौरव को धारण करती है, ब्रह्मा के मुख मे निवास करते हुए भी, शब्द जन्मा है। वह श्रेयस् और सौंदर्य की खान है।" इस प्रकार पुष्पदंत की कविता उस समुद्र की तरह है जिसमें आत्म सौंदर्य और भौतिक सौंदर्य की अनुभूतियों की जलराशि भरी हुई है, जिसमें एक ओर, वीर रस की उद्दाम गर्जनाएं हैं, तो दूसरी ओर शृंगार की कलगीतियां भी। जिसमें शांत और भक्ति रस की धाराओं का संगम है। जहाँ तक दिग्गज आचार्यों और निरक्षर संतों के सह अस्तित्व का प्रश्न है, इसमें भी कोई अन्तर्विरोध नहीं। वास्तव में निरक्षर सन्तों ने इस काल में ज्ञान प्रचार के बीज अचानक नहीं बोए। सभी निरक्षर न तो अज्ञानी होते हैं, और न सभी साक्षर, ज्ञानी। आध्यात्मिक अनुभव और लोक की

यह ज्ञान निरक्षरों को भी हो सकता है। इस काल में लोक भाषा में ज्ञान प्रचार करने वाले सभी लोग साक्षर ही नहीं पंडित थे, जैन अध्यात्म के दोहाकार, सिद्ध और हठयोगी पंडित थे। यह अवश्य है कि उन्होंने लोकभाषा मे अपनी बात कही। संस्कृत के विरुद्ध लोकप्रचलित वाणी मे अपनी बात कहने की परंपरा बुद्ध महावीर के समय से चली आ रही थी। इतिहास एक जीवंत प्रवाह है, हर प्रवाह का पूर्व स्रोत होता है अतः आलोच्यकाल बीज वपन का काल नहीं था, बल्कि बीज के वृक्ष बनने की प्रक्रिया का काल था। इतना ही नहीं, परवर्ती हिन्दी काव्य में जिन शैलियों का विकास हुआ उसके पूर्वरूप स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाओ मे पूरी प्रामाणिकता से मौजूद है। यदि अपभ्रंश कवियो की पद्धडिया-शैली, दोहा छंद, रड्डाछन्द शैली प्रकाश मे न आती तो लोग यही समझते कि तुलसी की दोहा, चौपाई शैली, कबीर की साखियां और सूर की पद शैली - ईरानी कविता शैली का प्रभाव है—

आलोच्यकाल की साहित्यगत प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में सबसे बड़ा बाधक तत्व है हमारा अधूरा ज्ञान। साहित्य के एक अंग (रासो या देश्य भाषा लिखित) को छूकर या तो हम उसे पूरा हाथी मान लेते है, या फिर यह कहते हैं कि हाथी समय की धारा मे बह गया है, उसका एक अंग महत्त्वपूर्ण था, उसे खोजना जरूरी है। एक विद्वान लिखते हैं—इस अंधकार युग को आलोकित करने वाली देशी भाषा की छोटी-सी रचना यदि मिलती है तो उसे चिनगारी की तरह सहेज कर रखना चाहिए क्योंकि उसमें बहुत बड़े आलोक की संभावना है, उसमें युग के पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता है। अजीब बात है कि जो साहित्य सूर्यबिंब की तरह आलोकित है, उसमें न आलोक है और न पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता, जो नही है, उसमे सारी संभावनाएं निहित है।

यह सोचना सही नहीं है कि ९-१०वीं सदी से देशी भाषाओं मे तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रवेश के कारण उनका स्वरूप बदल गया। भाषा का स्वरूप शब्दो के प्रवेश से नहीं रचनागत परिवर्तनो के कारण बदलता है। जब कोई नई भाषा साहित्यिक और व्यापक अभिव्यक्ति की माध्यम बनती है तो उसमे तत्सम शब्दो का प्रवेश होगा ही। हिन्दी प्रदेश के एक छोर पर चन्द वरदायी खड़े है, दूसरे पर विद्यापति, बीच में और पर स्वयंभू और पुष्पदंत, इनके समानांतर (या कुछ बाद को) ऐसी रचनाएं भी मिलती है, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि जिसे हम वीरगाथा या आदिकाल कहते है, वह वस्तुतः अपभ्रंश काल है, जिसमें परवर्ती साहित्य की शिल्पगत और चेतनागत प्रवृत्तियो का पूर्व रूप देखा जा सकता है। इस काल की भाषा की तरह साहित्य की समग्र मूल्यांकन की आवश्यकता ज्यो की-त्यो बनी हुई है।

इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर

□□

जय-स्याद्वाद

□ श्री कल्याणकुमार 'शशि'

तू ऊर्ध्वोन्नत मस्तक विशाल,
जैनत्व तत्त्व का स्फटिक भाल
अपहृत मिथ्या भ्रमतिमिर जाल
तू जैनधर्म का शंखनाद !

नव युक्तायुक्त-विचार-सार !
नित अनेकान्त का सिंह द्वार,
करते आए तेरा प्रसार !
अतुलित तीर्थंकर-पूज्यवाद !

तीर्थंकर पद की निधि ललाम ;
सिद्धान्तवाद का सद्-विराम,
प्राकृत संस्कृति का अमर धाम
तू संस्कृति का निरुपम प्रसाद !

तू पक्षापक्ष-विरूप-रूप
नय विनिमय का सर्वांग रूप
जूझे तुझसे पण्डित अनूप।
गौतम गणधर जैमिनि कणाद !

जय स्याद्वाद जय स्याद्वाद !

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई छन्द

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

काव्य-काल की दृष्टि से जैन हिन्दी काव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अलकार, छन्द, शब्दशक्ति आदि अंगों का इस काव्य में प्रचुर परिमाण से व्यवहार हुआ है। छन्द, काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। काव्य मुख्यतया छन्दबद्ध रचना के लिए आरम्भ से ही प्रसिद्ध है। आचार्य विश्वनाथ ने छन्द को काव्य-सृजन का अन्यतम अंग अंगीकार किया है।[1] छन्द के अभाव में गत्यात्मक छन्द विन्यास इस प्रकार की लयात्मक माधुरी से मंडित नहीं हो पाता। जिसके द्वारा काव्य का श्रोता अथवा पाठक बरबस विभोर हो झूम उठता है। इस प्रकार उसमें जीवन को आनन्दित करने की शाश्वत सम्पदा मुखर हो उठी है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई नामक छंद का क्या स्थान है? प्रस्तुत निबन्ध मे इसी सन्दर्भ मे संक्षिप्त विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

चौपाई मात्रिक सम छद का एक भेद है।[2] चौपाई मे सोलह कलाएँ होती है। छद के अन्त में जगण (। S ।) और तगण (S S ।) नहीं होते है। समकल के अनन्तर विषम कल का प्रयोग वर्जित है।[3] जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने चौपाई के सोलह मात्राओं के चरण में न तो चौकलों का कोई क्रम माना है और न लघु-गुरु का। उन्होंने सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल के प्रयोग को अच्छा माना है तथा अन्त मे जगण (। S ।) का निषेध किया है।[4]

अपभ्रंश में पद्धरिया छंद में चौपाई का आदिम रूप विद्यमान है।[5] अपभ्रंश की कड़वक शैली जब हिन्दी मे अवतरित हुई तो पद्धरिया छंद के स्थान पर चौपाई छंद गृहीत हुआ है।[6]

हिन्दी में चौपाई छंद का प्रयोग आरम्भ से ही हुआ है।[7] वीर रसात्मक काव्याभिव्यक्ति के लिए यह छंद वीरगाथाकालीन महाकवि चन्दवरदायी द्वारा व्यवहृत है। वीररसात्मक प्रसंगों में रीतिकालीन महाकवि केशवदास, जटमल, गोरेलाल, सूदन तथा गुलाब आदि के काव्यों में चौपाई छंद का प्रयोग उल्लिखित है।

प्रेमाख्यानक काव्यधारा के प्रमुख कवि जायसी, उसमान, नूरमोहम्मद तथा कुतुबन द्वारा प्रणीत काव्य कृतियों में इस छद का प्रयोग परिलक्षित है।

भक्तिकालीन हिन्दी काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास, नंददास तथा तुलसीदास द्वारा प्रणीत काव्य ग्रन्थो में 'दोहा चौपाई शैली' मे इस छंद का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक काल के हिन्दी महाकाव्यों में महाकवि द्वारिका प्रसाद मिश्र ने स्वरचित 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य में चौपाई छद का व्यवहार किया है।

यह छन्द सामान्यतया वर्णनात्मक है अतः इस छंद में सभी रसों का निर्वाह सहज रूप मे हो जाता है। कथा-काव्यों में इस छंद की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है।[8]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्यों में इस छंद के दर्शन अठारहवीं शती से होते हैं।[9] अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने 'श्री निर्वाणक्षेत्रपूजा' नामक कृति में इस छंद का व्यवहार सफलता पूर्वक किया है।[10]

उन्नीसवीं शती में रामचन्द्र,[11] बख्तावररत्न,[12] कमलनयन[13] और मल्ल जी[14] विरचित काव्यकृतियों में भी यह छंद व्यवहृत है।

बीसवीं शती के रविमल,[15] रघुसुत,[16] नेम,[17] मुन्नालाल,[18] हीराचंद,[19] और दीपचंद[20] ने अपनी पूजा काव्यकृतियों में इस छंद का प्रयोग किया है।

जैन-हिन्दी-पूजा काव्यों में चौपाई का सर्वाधिक प्रयोग

अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने शान्तरस के परिपाक के लिए किया है।"

उपर्युङ्कित विवेचन के आधार पर यह सहज में कहा जा सकता है कि जैन-हिन्दी पूजा काव्य मे चौपाई छंद का आरम्भ से ही प्रयोग हुआ है। जैन-हिन्दी पूजा के लगभग सभी रचयिताओं ने चौपाई छन्द का उपयोग किया है। यह छंद जहाँ एक ओर लघुकायिक है वहाँ इसमें मुख-सुख और लयता की सहज धारा प्रवाहन की अद्भुत क्षमता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. 'छन्दोबद्ध पदं पद्यम्'
विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ६/३१४, चोखम्बा, वाराणसी संस्करण सं० १९७० ।

२. सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड बनारस, संस्क० सवत् २०१५, पृष्ठ २९० ।

३. प्रो० परमानद शास्त्री, श्री पिंगल पीयूष, प्रकाशक-ओरियण्टल बुक डिपो, १७०५, नई सड़क दिल्ली, संस्क० १९५३ ई०, पृष्ठ १६२ ।

४. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', छंद: प्रभाकर, प्रकाशिका—धर्मपत्नी स्व० बाबू जुगल किशोर, जगन्नाथ प्रिंटिंग प्रेस बिलासपुर, संस्क० १९६० ई०, पृष्ठ ४९ ।

५. (क) डा० हीरालाल अपभ्रंश के महाकाव्य, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, लेख प्रकाशित—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अक ३-४, पृष्ठ ११२ ।

(ख) डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५, पृष्ठ ४३६ ।

६. (अ) डा० रामसिंह तोमर, जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य की देन, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, प्रकाशक—यशपाल जैन, मंत्री—प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़ (सी० आई०) संस्क० अक्टूबर १९४६ पृष्ठ ४६८ ।

(ब) डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डी०लिट्० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७५ ई०, पृष्ठ २४१ ।

७. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन-हिन्दी काव्य में छंदोयोजना, प्रकाशक—जैन शोध अकादमी, आगरा रोड, अलीगढ़, सन् १९७६ पृष्ठ १४ ।

८. वही पृष्ठ १५ ।

९. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी पूजा काव्य की परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७८ पृष्ठ २८३ ।

१० नमो ऋषभ कैलाश पहारं,
नेमिनाथ गिरनार निहार ।
वासुपूज्य चंपापुर बंदो,
सन्मति पावापुर अभिनंदो।
—द्यानतराय, श्री निर्वाण क्षेत्र पूजा

११. रामचन्द्र श्री सम्मेद शिखर पूजा ।

१२. बख्तावर रत्न, श्री कुंथुनाथ जिन पूजा ।

१३. मल्ल जी श्री क्षमावाणी पूजा ।

१४. कमलनयन, श्री पंचकल्याणक पूजा पाठ ।

१५ रविमल, श्री तीस चौबीसी पूजा ।

१६. रघुसुत, श्री विष्णुकुमार मुनि पूजा ।

१७. नेम, श्री अकृत्रिम चैत्यालय पूजा ।

१८ मुन्नालाल, श्री खण्डगिरि क्षेत्र पूजा ।

१९. हीराचंद, श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर समुच्चय पूजा ।

२०. दीपचंद, श्री बाहुबलि पूजा ।

२१. डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी-पूजा काव्यकी परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७८, पृष्ठ २८५ ।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ ।

सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएँ

□ श्री अगरचन्द नाहटा

'अनेकान्त' के अप्रैल-सितम्बर १९८१ के अंक में डा० ज्योतिप्रसाद जैन का 'सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे उन्होंने लिखा है — सम्यक्त्वकौमुदी और सम्यक्त्वकौमुदीकथा नामक अठारह रचनायें ज्ञात हो सकी है जिनमें से आठ संस्कृत १ कन्नड, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी मे रचित है। इनमे से १२ दिगम्बर विद्वानो द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानो द्वारा है। चारो ज्ञात श्वे० रचनाये संस्कृत मे है। सभव है अन्य भी रचनायें हों जो हमारी जानकारी मे अभी नही आई है।"

हमारी जानकारी मे और भी रचनायें है यथा— जिनरत्नकोष पृष्ठ ४२३ ४२४ मे सम्यक्त्वकौमुदी की सबसे प्राचीनतम प्रति पजाब भडार न० २८१८ वाली सम्वत १३४३ की लिखी हुई बताई है। यदि यह लेखन सम्वत सही हो तो मूल रचना का रचनाकाल ईस्वी १३वी शताब्दी के पीछे का तो हो नहीं सकता। (१) गुणाकरसूरि की रचना संवत १४०० ईस्वी की बतलाई है वह 'जिन रत्नकोष' के अनुसार विक्रम सवत १५०४ की रचना है। उसका परिमाण १४८८ श्लोकों का और रचयिता चैत्रगच्छ के बतलाये है।' (२) जयशेखर सूरि के ग्रंथ का परिमाण ६६५ श्लोको का है। (३) जयचद्र सूरि के शिष्य का नाम डा० ज्योतिप्रसाद जी ने नही दिया है लेकिन जिनरत्नकोष मे उनका नाम जिन हर्षगणि दिया है। और रचनाकार सवत १४६२ की जगह १४८७ दिया है। (४) जिन हर्ष गणि की यह रचना टीका सहित प्रकाशित होने का उल्लेख किया है। टीका सम्वत १४६७ में जयचंद गणि के द्वारा रचित बतलाई है। (५) सोमदेव सूरि के जिनरत्नकोष मे रचना का परिमाण ३३५२ श्लोकों का और वे आगम गच्छ के सिंहदत्त सूरि के शिष्य थे, लिखा है।

इनके अतिरिक्त नं० ४ में 'वत्सराज ऋषि रचना का नाम है पर वह संस्कृत मे नही, राजस्थानी में है। अन्य संस्कृत रचनाओं में मल्लिभूषण, यशकीर्ति, यममेन कवि, वादिभूषण और श्रुतसागर की रचनायें है। ये दि० होगी संभव हैं।

इसी तरह 'जैन गुर्जर कवियो' भाग १ और ३ में डा० ज्योतिप्रसाद द्वारा अनुल्लिखित ६ राजस्थानी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओ का विवरण प्रकाशित हुआ है जिनमे से तीन सत्रहवी शताब्दी की और तीन उन्नसवी शताब्दी की है।

१. सम्यक्त्व कौमुदी रास—१६२४ माघसुदी १५ बुधवार को नागोर के निकट 'डेह' ग्राम मे रचित। ग्रंथाग १५५०। कर्त्ता-खरतरगच्छीय।

२. सम्यक्त्व कौमुदीरास—पार्श्वचद्रसूरि की परम्परा के बच्छराज के संवत १६४६ माघ सुदी ५ गुरुवार जम्बावती (खंभात) नव खंडों में रचित। विवरण देखें, जैन गुर्जर कवियो भाग १ पृष्ठ २६६।

३. सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई—चद्रगच्छ के सावितया के शिष्य जयमल्ल रचित सं० १६५२ विक्रमरवदी ६। इस रचना की एक मात्र ३० पत्रो की प्रति हमारे अभय जैन ग्रंथालय मे स० १६५६ की लिखी हुई है।

४. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई-खरतरगच्छ के महोपाध्याय समयसुन्दर जी की परम्परा में कवि आलमचद रचित। स० १८२२ मिगसर सुदी ४ मक्सूदाबाद शहर मे सामसुखा गोत्रीय जैसलमेरी सुगालचद के पुत्र मूलचद द्वारा कारित।

५. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई ढाल ६२ खु(कु)शालचन्द ऋषि रचित सं० १८७६ वैशाख सुदी १३ नागोर मे।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

अनुसन्धान में पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक

☐ डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

'श्रमण' मासिक पत्र, वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१ में मेरे "जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" ग्रन्थ की समीक्षा प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ जून १९८० मे वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकट हुआ है। इसका विमोचन भी आचार्य विद्यासागर महाराज के द्वारा उसी जून १७, १९८० को सागर (मध्यप्रदेश) मे समायोजित अनेक समारोहो के अवसर पर हो चुका है। उसकी मासिक, साप्ताहिक आदि पत्रों एवं जर्नलों में समालोचना भी निकल चुकी है। इन सभी पत्रो और अनेक मनीषियो ने ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से सराहना की है। किन्तु 'तुलसी प्रज्ञा' और 'श्रमण' ने उसकी समीक्षा मे उसके कुछ लेखो को 'दुराग्रहमात्र' कहा है। पर उसके लिए कोई आधार या प्रमाण नही दिया।

'श्रमण' के सम्पादक ने तो कुछ विस्तृत (५ पृष्ठ प्रमाण) समीक्षा करते हुए कुछ ऐसी बाते कही है जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षक को समीक्षा करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर समीक्ष्य के गुण-दोषो का पर्यालोचन करे। यही समीक्षा की मर्यादा है।

ज्ञ तव्य है कि समीक्षित ग्रन्थ के शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आज से लगभग ३९ वर्ष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) 'अनेकान्त', जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आदि पत्रो तथा न्यायदीपिका, आप्त परीक्षा आदि ग्रन्थो मे प्रकाशित है। किन्तु विगत वर्षों में 'श्रमण' के सम्पादक डा० सागरमल जैन या अन्य किसी विद्वान् ने उन पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नही की। अब उन्होने उक्त समीक्षा मे ग्रन्थ के कुछ लेखो के विषयों पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमे अनुसन्धान और गहराई का नितान्त अभाव है। हमे प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रह से मुक्त होकर शोध और गम्भीरता के साथ उसे प्रस्तुत करते। यहां मैं उनके उठाये प्रश्नो अथवा मुद्दों पर विचार करूँगा और उनकी सरणि को नहीं अपनाऊँगा।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

६ सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई—अनूपचद (२) विनयचन्द रचित पत्र १०७ सं० १८८५ फाल्गुन वदि ७ को रचित।

इस तरह पांच संस्कृत और ६ राजस्थानी श्वे० कवियो के रचित का विवरण जिनरत्नकोष और जैन गुर्जर कवियो मे प्रकाशित हो चुका है। इनमे से जयमल्ल की रचना की एक मात्र प्रति हमारे संग्रह मे ही प्राप्त हुई है। अन्य भण्डारों में विशेष खोज करने पर कुछ अतिरिक्त रचनायें भी मिल सकती है।

एक ही कथा सम्बन्धी ऐसे अनेको जैनग्रंथ छोटे और बड़े प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रश हिन्दी, राजस्थानी, कन्नड़ आदि भाषाओं मे लिखे मिलते है। उन सबका तुलनात्मक अध्ययन एक शोध प्रबंध में ही किया जा सकता है। रचनाओ के परिमाण के काफी अन्तर है अतः कइयो मे सक्षेप से और कइयों मे विस्तार से कथा दी गई होगी। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कथा मे परिवर्तन और वर्णन मे अन्तर कर देते है। इससे सब ग्रथों को देखने पर ही कथा के मूल स्रोत एव समय-समय पर उसने किये गये परिवर्तनों की जानकारी मिल सकती है। इसके सम्बन्ध मे तुलनात्मक अध्ययन काफी रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। सम्यक्त्व कौमुदी की कथाओं का मूल स्रोत क्या और किस प्रकार का रहा है, यह अवश्य ही अन्वेषणीय है।

नाहटों की गवाड़ बीकानेर

☐

सम्पादक का प्रथम प्रश्न है कि 'समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा आदि कृतियों मे कुमारिल, धर्मकीर्ति आदि की मान्यताओं का खण्डन होने से उसके आधार पर समन्तभद्र को ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये ?'

स्मरण रहे कि हमने 'कुमारिल और समन्तभद्र' शीर्षक[8] शोध निबन्ध मे सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्र की कृतियो (विशेषतया आप्त-मीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों मे पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनो ग्रन्थकारों से पूर्ववर्ती है, परवर्ती नही। यहाँ हम पुनः उसी का विचार करेंगे।

हम प्रश्नकर्ता से पूछते है कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्ति की स्वय की वे कौन-सी मान्यताएँ है, जिनका समन्तभद्र की आप्तमीमासा आदि कृतियो मे खण्डन है? इसके समर्थन मे प्रश्नकार ने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत दोनो ग्रन्थकारो ने समन्तभद्र की ही आप्तमीमांसागत मान्यताओं का खण्डन किया है यहाँ हम दोनो ग्रन्थकारो से कुछ उदाहरण उपस्थित करते है।

(१) जैनागमो[9] तथा कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थो[9] में सर्वज्ञ का स्वरूप तो दिया गया है परन्तु अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि उनमें उपलब्ध नही होती। जैन दार्शनिकों में ही नही, भारतीय दार्शनिकों में भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एव तार्किक है, जिन्होने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७,) मे अनुमान से सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

समन्तभद्र ने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ प्रवर्तको (सर्वज्ञों) और उनके समयो (आगमो—उपदेशों मे) परस्पर विरोध होने से सब सर्वज्ञ नही है, 'कश्चिदेव'— कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए', 'उस एक की सिद्धि की भूमिका बाधते हुए उन्होने आगे (का० ४ मे) कहा कि 'किसी व्यक्ति मे दोषों और आवरणो का निःशेष अभाव (ध्वंस) हो जाता है क्योंकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्ण मे तापमान, कूटन आदि साधनो से उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनों प्रकार के मलो का अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे कहते है कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि करके वे विशेष सर्वज्ञ की भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ मे) कहते है कि 'हे वीर जिन! अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके बचनों (उपदेश) में युक्ति तथा आगम का[8] विरोध नही है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशों मे युक्ति एवं आगम दोनों का विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते है। इस प्रकार समन्तभद्र ने अनुमान से सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्त-मीमांसागत समन्तभद्र की मान्यता है।

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि[9] ने भी उसे (अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करने को) समन्तभद्र के देवागम (आप्त-मीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथ चरित में समन्तभद्र के विस्मयावह व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र[10] ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि करना समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की निःसन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार उसे शताब्दियों से उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे है।

अब कुमारिल की ओर दृष्टिपात करें। कुमारिल[11] ने सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के सर्वज्ञ का निषेध किया है। यह निषेध और किसी का नहीं, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का है। कुमारिल बड़े आवेग के साथ प्रथमतः सामान्यसर्वज्ञ का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सभी सर्वज्ञ (तीर्थ प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबों में उस एकता निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नही है। कुमारिल उस परस्पर-विरोध को

भी दिखाते हुए कहते हैं कि यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ है, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओं से कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ध्यातव्य है कि समन्तभद्र के 'परस्पर-विरोधतः' पद के स्थान मे 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', सर्वेषां की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थान मे 'को नामैकः' पदों का कुमारिल ने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोध की सामान्य सूचना समन्तभद्र ने की थी, उसे कुमारिल ने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओं के नाम लेकर विशेष उल्लेख किया है। समन्तभद्र ने जो सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सुगत आदि) मे परस्पर विरोध होने के कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरुः' शब्दो द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिल ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी है तथा सबके साधक हेतु एक से है, तो उन सबमें से 'को नामैकोऽवधार्यताम्'—किस एक का अवधारण (निश्चय) करते हो।' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्र के उक्त प्रतिपादन पर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञ के निर्णय के अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नही है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र ने अपने उक्त प्रतिपादन पर किसी के प्रश्न करने के पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरु) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) मे अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है[११]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमान प्रयोग में उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि करता है और जो किसी एक का निर्णायक नहीं है। इसी से कुमारिल ने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओं को सर्वज्ञ का अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नही, उन्होने एक अन्य कारिका के द्वारा समन्तभद्र के इस 'अनुमेयत्व' हेतु की तीव्र आलोचना करते हुए कहा[१३] कि जो प्रमेयत्व, आदि हेतु सर्वज्ञ के निषेधक हैं, उनसे सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे की जा सकती है।' इसका सबल उत्तर समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के विवृत्तिकार अकलंकदेव ने[१४] दिया है। अकलंक कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व' हेतु के पोषक है[१५]—अनुमेयत्व हेतु की तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञ के सद्भाव के साधक है, तब कौन समझदार उन हेतुओं से सर्वज्ञ का निषेध या उसके सद्भाव मे सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिल ने समन्तभद्र का खण्डन किया है, समन्तभद्र ने कुमारिल का नही। यदि समन्तभद्र कुमारिल के परवर्ती होते तो कुमारिल के खण्डन का उत्तर स्वय समन्तभद्र देते, अकलंक को उनका जवाब देने का अवसर नही आता, तथा समन्तभद्र के 'अनुमेयत्व' हेतु का समर्थन करने का भी मौका उन्हे नहीं मिलता।

(२) अनुमान से सर्वज्ञ-सामान्य की सिद्धि करने के उपरान्त समन्तभद्र ने अनुमान से ही सर्वज्ञ-विशेष की सिद्धि का उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' मे पर्यवसित किया है[१६]। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमांसा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिल ने समन्तभद्र की इस विशेष सर्वज्ञता की सिद्धि का भी खण्डन किया है[१७]। अर्हन्त का नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एव सूक्ष्मादि विषयक केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते है वह भी युक्त नही है, क्योकि वह आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सम्भव नही है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण अरहन्तजिन मे भी सर्वज्ञता सिद्ध नही होती।'

ज्ञातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परा मे समन्तभद्र से पूर्व किसी दार्शनिक ने अनुमान से उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की हो ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। हा, आगमों मे केवलज्ञान का स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नही है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने अरहन्त में अनुमान से सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणों से रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष

तथा सूक्ष्मादि विषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है। इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिल के उक्त खण्डन का भी जवाब अकलंक देव ने दिया है"। उन्होंने बड़े सन्तुलित ढंग से कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सिद्ध नही होता, यह सत्य है, तथापि दोनों में अन्योन्याश्रय दोष नही है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवश से माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनों मे बीज और अंकुर की तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह-सन्तान) है'।

अकलंक के इस उत्तर से बिल्कुल स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने जो अनुमान से अरहन्त के केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसी का खण्डन कुमारिल ने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलंक ने उक्त प्रकार से दिया है। केवलज्ञान के साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमान से सिद्ध' विशेषण लगा कर तो अकलंक (वि० सं० ७वीं शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निरावृत कर दिया है। इस उल्लेख-प्रमाण से भी प्रकट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्र से कई शताब्दी बाद हुए अकलंक ने दिया है। समन्तभद्र को कुमारिल का परवर्ती मानने पर उनका जवाब वे स्वयं देते, अकलंक को उसका अवसर ही नही आता।

(३) कुमारिल ने समन्तभद्र का जहां खण्डन किया है वहां उनका अनुगमन भी किया है"। विदित है कि जैन दर्शन मे वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है"। समन्तभद्र ने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणो द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है"। इन दोनों उदाहरणों के लिए उन्होने एक-एक कारिका का सृजन किया है। पहली (५९वी) कारिका के द्वारा उन्होने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्ण के इच्छुकों को उनके नाश, उत्पाद और स्थिति में क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप है, उसी प्रकार विश्व की सभी वस्तुयें त्रयात्मक हैं। दूसरी (६०वी) कारिका के द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धव्रती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नही लेता और दही का व्रत रखने वाला दही ही लेता है, दूध नहीं लेता है तथा दूध और दही दोनों का त्यागी दोनों को ही ग्रहण नहीं करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनों से युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्व) त्रयात्मक है।

कुमारिल ने भी समन्तभद्र की लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधार पर अपनी नयी ढाई कारिकायें रची है और समन्तभद्र की ही तरह उनके द्वारा वस्तु को त्रयात्मक सिद्ध किया है"। उनकी इन कारिकाओ मे समन्तभद्र की कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नही है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमे समाहित है। समन्तभद्र ने जिस बात को अतिसक्षेप मे एक कारिका (५९) मे कहा है, उसी को कुमारिल ने ढाई कारिकाओं मे प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकास का भी यही नियम है कि वह उत्तरकाल मे विस्तृत होता है। इस उल्लेख से भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती है और कुमारिल परवर्ती।

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि" ने अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (भाग १, पृ० ४३९) मे समन्तभद्र की आप्तमीमासा की उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्ट की उपरि चर्चित ढाई कारिकाओ में से डेढ़ कारिका को भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दों को देकर कुमारिल भट्ट को समन्तभद्र का उपजीवी-अनुगामी स्पष्टतया प्रकट किया है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एवं साहित्यकार समन्तभद्र को पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्ट को परवर्ती विद्वान मानते थे।

(४) अब धर्मकीति को लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया है"। विदित है कि आप्तमीमांसा (का० १०४) मे समन्तभद्र ने स्याद्वाद का लक्षण दिया है" और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्त के त्याग से जो 'किंचित्' (कथंचित्) का विधान है वह स्याद्वाद है।' धर्मकीति ने

समन्तभद्र के इस स्याद्वाद लक्षण की बड़े आवेग के साथ समीक्षा की है। उनके 'किंचित् के विधान—स्याद्वाद को प्रयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है।'

ज्ञातव्य है कि आगमों[15] में 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता, 'गोयमा। जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणों में दो भंगों तथा कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय[16] में 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाथा (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भंगों के नाम तो पाये जाते हैं। पर स्याद्वाद की उनमें कोई परिभाषा नहीं मिलती। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में ही प्रथमतः उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने उक्त खण्डन समन्तभद्र का ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। धर्मकीर्ति का 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्त के त्याग से होने वाले किंचित् (कथंचित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) में भी एकान्त की सम्भावना करके उसका—अनेकान्त का खण्डन किया है।

इसके सिवाय धर्मकीर्ति ने समन्तभद्र की उस मान्यता का भी खण्डन किया है,[18] जिसे उन्होंने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है।[19] वह मान्यता है सभी वस्तुओं को सद्-असद्, एक-अनेक, आदि रूप से उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना। धर्मकीर्ति उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सबको उभयरूप मानने पर उनमें कोई भेद नहीं रहेगा। फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।'

धर्मकीर्ति के द्वारा किया गया समन्तभद्र का यह खण्डन भी अकलंक को सह्य नहीं हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का जवाब बड़ी तेजस्विता के साथ उन्होंने दिया है।[20] प्रथम आक्षेप का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्र को जानता है और लोकानुरोध से बाह्य—पर को भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल) जड़बुद्धि और विविध आकुलताओं से घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्र पर किये गये धर्मकीर्ति के प्रथम आक्षेप का यह जवाब 'जैसे को तैसा' नीति का पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप का भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते हैं कि 'जो दही और ऊँट में अभेद का प्रसंग देकर सभी पदार्थों को एक हो जाने की आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्तवाद—स्याद्वाद) को न समझ कर दूषक (दूषण देने वाला) होकर भी विदूषक—दूषक नहीं है, जोकर है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगत को वन्दनीय और मृग को भक्षणीय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेद से सुगत और मृग में वन्दनीय एवं भक्षणीय की भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तान की अपेक्षा से उनमें अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बल से—पर्याय और द्रव्य की प्रतीति से सभी पदार्थों में भेद और अभेद दोनों की व्यवस्था है। अतः 'दही खा' कहे जाने पर कोई ऊँट को खाने के लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्य की अपेक्षा से उनमें अभेद होने पर भी पर्याय की दृष्टि से उनमें उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृग में है। अतएव 'दही खा' कहने पर कोई दही खाने के लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणीय है और ऊँट खाने के लिए वह नहीं दौड़ेगा, क्योंकि वह अभक्षणीय है। इस तरह विश्व की सभी वस्तुओं को उभयात्मक—अनेकान्तात्मक मानने में कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नहीं है।

अकलंक के इन सन्तुलित एवं सबल जवाबों से बिल्कुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्र की आप्तमीमांसागत स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की मान्यताओं का ही धर्मकीर्ति ने खण्डन किया है और जिसका मुंहतोड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंक ने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्ति के परवर्ती होते तो वे स्वयं उनका जवाब देते और उस स्थिति में अकलंक को धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देने का मौका ही नहीं आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व०पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानों ने समन्तभद्र को धर्मकीर्ति का परवर्ती होने की सम्भावना की थी।[११] किंतु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधार पर धर्मकीर्ति समन्तभद्र से काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषय मे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैन का शाकटायन व्याकरण पर लिखा प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है।' 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है,[३१] जिसमें उक्त विद्वानों के हेतुओं पर विमर्श करने के साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयों पर हमें उन्मुक्त दिमाग से विचार करना चाहिए और सत्य के ग्रहण मे हिचकिचाना नही चाहिए।

सम्पादक ने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेन के न्यायावतार और समन्तभद्र के श्रावकाचार मे किसी पद (पद्य) को समान रूप से पाये जाने पर समन्तभद्र को ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय? यह भी तो सम्भव है कि समन्तभद्र ने स्वयं उसे सिद्धसेन से लिया हो और वह उससे परवर्ती हो?

सम्पादक की प्रस्तुत सम्भावना इतनी शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता और न स्वय सम्पादक ने ही उसे दिया है। अनुसन्धान के क्षेत्र मे यह आवश्यक है कि सम्भावना के पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानो द्वारा आदृत होती है।

यहाँ उसी पर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्र की बहुत चर्चा की गयी है, उन्ही का रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचार का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भ मे धर्म की व्याख्या का उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप उन्होंने देव, शास्त्र और गुरु का दृढ़ एवं अमूढ़ श्रद्धान् कहा है। अतएव उन्हें इन तीनो का लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देव का लक्षण प्रतिपादन करने के उपरान्त समन्तभद्र ने ९वें पद्य[११] के द्वारा शास्त्रका लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेन के न्यायावतार में भी उसके ९वें पद्य के रूप में पाया जाता है।

अब विचारणीय है कि यह पद्य श्रावकाचार का मूल पद्य है या न्यायावतार का मूल पद्य है। श्रावकाचार मे यह जहाँ स्थिति है वहां उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतार में जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८)[१४] के समर्थन मे अभिहित है। उसे वहाँ से हटा देने पर उसका अग-भंग नही होता। किन्तु समन्तभद्र के श्रावकाचार से उसे अलग कर देने पर उसका अग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमे शास्त्र का लक्षण दिया गया है, श्रावकाचार का मूल है और न्यायावतार मे अपने विषय (८वें पद्य मे कथित शब्दलक्षण) के समर्थन के लिए उसे वहां से ग्रन्थकार ने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्ती ने लिया है और जो बाद को उक्त ग्रन्थ का भी अंग बन गया। यह भी ध्यातव्य है कि श्रावकाचार मे आप्त के लक्षण के बाद आवश्यक तौर पर प्रतिपादनीय शास्त्र लक्षण का प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नही है, जब कि न्यायावतार मे शब्द लक्षण का प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वा पद्य (आप्तोपज्ञमनु) श्रावकाचार का मूल पद्य है, जिसका वहा मूल रूप से होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। तथा न्यायावतार में उसका, ८वें पद्य के समक्ष, मूल रूप मे होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्तवत है। अतः यही मानने योग्य एवं न्यायसगत है कि न्यायावतार में वह समन्तभद्र के श्रावकाचार से लिया गया है, न कि श्रावकाचार में न्यायावतार से उसे लिया गया है। न्यायावतार से श्रावकाचार में उसे (९वें पद्य को) लेने की सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर न्यायावतार मे धर्मकीर्ति[१५] (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०)[१६] और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वीं शती)[१७] इन ग्रन्थकारों का अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्र के उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्र को न्यायावतारकार सिद्धसेन का परवर्ती बतलाना केवल

पक्षाग्रह है। उसमें युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नहीं है।

समीक्षा का तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्र के समग्र विकास की प्रक्रिया में ऐसा नहीं हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणों ने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समीक्षक ने हमारे लेख को आपाततः देखा है, उसे ध्यान से पढ़ा ही नहीं है। उसे यदि ध्यान से पढ़ा होता, तो वे ऐसा स्खलित और भड़काने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्याय का विकास'[१८] लेख में यह लिखा है कि 'जैन न्याय का उद्गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायों से नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुत से हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायों के साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्याय के विकास में ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय का विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्याय की क्रमिक शास्त्र-रचना में सहायक हुई हो। समकालीनों में ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहाँ हमने कहाँ लिखा कि पहले जैनन्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणों ने उसका अनुकरण किया। हमे खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थान के निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावली का आरोप हम पर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्याय के विकास का प्रश्न है उसमें हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्याय के विकास को प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचना को जैन न्याय की शास्त्र-रचना में सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्याय का उद्गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुत से हुआ। अपने इस कथन को सिद्धसेन (द्वात्रिंशिकाकार)[३९], अकलंक, विद्यानन्द और यशोविजय[४१] के प्रतिपादनों से पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षक से अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्ध को गौर से पढ़ने की कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्य को अवगत करें।

डा० सागरमल जी ने चौथे और अन्तिम मुद्दे में मेरे 'तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा' निबन्ध को लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें तत्त्वार्थ सूत्रकार और दिगम्बर आचार्यों में भी मतभेद है। अतः कुछ बातों में तत्त्वार्थ सूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार श्वेताम्बर परम्परा के नहीं हो सकते।' आपने इस कथन के समर्थन मे कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थ सूत्रकार के नयों और गृहस्थ के १२ व्रतों सम्बन्धी मतभेद को दिया है। इसी मुद्दे में हमारे लेख में आयी कुछ बातों का और उल्लेख करके उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इस मुद्दे पर भी हम विचार करते है। प्रतीत होता है कि डा० साहब मतभेद और परम्परा भेद दोनों में कोई अन्तर नहीं मान रहे है, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद जैन संघ दो परम्पराओ में विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओ मे विभाजित है। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएं है। जो आचार्य दिगम्बरत्व का और जो श्वेताम्बरत्व का समर्थन करते है वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते है तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्र मे दिगम्बरत्व का समर्थन है या श्वेताम्बरत्व का। हमने उक्त निबन्ध में इसी दिशा मे विचार किया है। इस निबन्ध की भूमिका बांधते हुए उसमे प्राक्वृत्त के रूप मे हमने लिखा है[४१] कि "जहां तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलाल जी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्वार्थ सूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषय में दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने कतिपय श्वेताम्बर आगमों के सूत्रों के साथ तत्वार्थ सूत्र के सूत्रों का तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' नाम से एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्वार्थ सूत्र को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जी को प्राप्त

हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार को छोड कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्परा का प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए, दिगम्बर में नहीं। निःसकोच तत्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को श्वेताम्बर होने का अपना निर्णय भी दे दिया है।''

इसके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्री,[१४] पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री[१५] प० नाथूराम जी प्रेमी[१६] जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानो ने भी तत्वार्थसूत्र की जांच की। इनमें प्रथम के दो विद्वानो ने उसे दिगम्बर और प्रेमी जी ने यापनीय ग्रन्थ प्रकट किया। हमने भी उस पर विचार करना उचित एव आवश्यक समझा और उसी के फलस्वरूप तत्वार्थसूत्र की मूल परम्परा खोजने के लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाण मिलने पर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षक ने उन्हे निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु व्याख्यान समीक्षा नही कहा जा सकता, अपितु वह अपने पक्ष का समर्थक कहा जायेगा।

तत्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे प्रतिपादित नयों और गृहस्थ के १२ व्रतों में वैचारिक या विवेचन पद्धति का अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्परा की भिन्नता को प्रकट नहीं करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेव के अष्टमूल गुण भिन्न होने पर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्परा के है। पात्रभेद एव कालभेद से उनमें ऐसा विचार-भेद होना सम्भव है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थो में प्रत्यभिज्ञान के दो भेद माने हैं और अकलक, माणिक्यनन्दि आदि ने उसके अनेक (दो से ज्यादा) भेद बतलाये है। और ये सभी दिगम्बर आचार्य हैं। पर तत्वार्थसूत्र और सचेलश्रुत मे ऐसा अन्तर नही है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेद का सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तर को ही हमने उक्त निबन्ध मे दिखाया है। संक्षेप मे उसे यहाँ दिया जाता है—

तत्वार्थसूत्र	सचेल श्रुत
१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४	दंसणपरीसह, सम्मत्तपरीसह (उत्तरा० सू० पृष्ठ ८०)
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७	एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त० जैना० पृ. २०८
३. तीर्थंकर प्रकृति के १६ बंध कारण, ६–२४	तीर्थंकर प्रकृति के २० बंध-कारण (ज्ञातृ० सू० ८-६४)
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९	संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७ ८)
५. नाग्न्यपरीषह, ९-९	अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२
६. लौकान्तिक देवों के ८ भेद ४-४२	लौकान्तिक देवों के ९ भेद (ज्ञातृ, भगवती)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्यों का मतभेद नही कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्परा भेद का प्रकाशक है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्यों ने सचेल श्रुत का पूरा अनुगमन किया है, पर तत्वार्थसूत्रकार ने उसका अनुगमन नही किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकार का कथन तत्वार्थसूत्र मे न मिलता।

तत्वार्थसूत्र मे 'अचेलपरीषह' के स्थान पर 'नाग्न्य-परीषह' रखने पर विचार करते हुए हमने उक्त निबन्ध मे लिखा था[१७] कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थ मे भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वाति ने उसके स्थान मे नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थ को स्पष्टत ग्रहण करने के लिए 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग किया।' इसका तर्कसंगत समाधान न करके डा० सागरमल जी लिखते है कि 'डा० साहब ने श्वे० आगमों को देखा ही नही है। श्वे० आगमों मे नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिण के अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' प्रश्न यह नही है कि आगमों में नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिन के प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमों मे क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है? इस प्रश्न का उत्तर न दे कर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्द के प्राकृत रूपों (नग्न, णगिन) के प्रयोगों की बात करना और हमें श्वे० आगमों से अनभिज्ञ बताना न समाधान हैं और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हें यह

बताना चाहिए कि उनमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उनमें 'नाग्न्य परीषह नही है। तत्वार्थसूत्रकार ने ही उसे 'अचेलपरीषह' के स्थान मे सर्वप्रथम अपने तत्वार्थसूत्र में दिया है।

उक्त निबन्ध में परम्पराभेद की सूचक तत्वार्थसूत्रगत एक बात यह कही है[४८] कि तत्वार्थसूत्र मे श्वे० श्रुतसम्मत संलीनता तप का ग्रहण नही किया, इसके विपरीत उसमें विविक्तशय्यासन तप का ग्रहण है, जो श्वे० श्रुत में नहीं है। हरिभद्रसूरि के[४९] अनुसार संलीनता तप के चार भेदों मे परिगणित विविक्त चर्या द्वारा भी तत्वार्थ सूत्रकार के विविक्त शय्यासन का ग्रहण नही हो सकता, क्योंकि विविक्त चर्या दूसरी चीज है और विविक्त शय्यासन अलग चीज है।

डा० सागरमल जी ने हमारे इस कथन का भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहब ने विविक्तचर्या में और विविक्तशय्यासन में भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधार पर वे इनमें अन्तर करते है, इसका कोई स्पष्टीकरण नही दे पाये हैं, वस्तुतः दोनों में कोई अर्थभेद है ही नहीं।'

उनके इस समीक्षण पर बहुत आश्चर्य है कि जो अपने को श्वे० आगमों का पारंगत मानता है वह विविक्त चर्या और विविक्त शय्यासन के अर्थ मे कोई भेद नहीं बतलाता है तथा दोनों को एक ही कहता है। जैन धर्म का साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठने को कहते हैं। दोनों में दो भिन्न दिशाओं की तरह भेद है। साधु जब ईर्यासमिति से चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नहीं है। वस्तुतः उनमें पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर डा० सागरमल जी अपने पक्ष के समर्थन की धुन में उस अन्तर को नही देख पा रहे हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि तत्वार्थसूत्र ने २२ परीषहो मे चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनों को परीषह के रूप में गिनाया है। किन्तु तपों का विवेचन करते हुए उन्होंने चर्या को तप नहीं कहा, केवल शय्या और आसन दोनों को एक बाह्य तप बतलाया है,[५०] जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञता को प्रकट करता है। वास्तव में चर्या विविक्त में नही हो सकती। मार्ग में जब साधु गमन करता है तो उसमे उसे मार्गजन्य कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करने से उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नही हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्त चर्या तप नही बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्त में हो सकते हैं। अतएव उन्हें विविक्त शय्यासन नाम से एक तप के रूप में बाह्य तपों में भी परिगणित किया गया है। डा० सागरमल जी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमे स्पष्टतया अर्थभेद उन्हें ज्ञात हो जायेगा। प० सुखलाल जी[५१] ने चर्या और शय्यासन मे अर्थ भेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्म जीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों मे विहार और किसी भी एक स्थान में नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।'—'आसन लगा कर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भाव से जीतना किंवा आसन से च्युत न होना निषद्या परीषह है'—जगह में समभावपूर्वक शयन करना शय्यापरीषह है।' आशा है डा० साहब चर्या, शय्या, आसन के पण्डित जी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेद को नही नकारेंगे और उनके भेद को स्वीकारेंगे।

तत्वार्थसूत्र में परम्परा भेद की एक और महत्वपूर्ण बात को उसी निबन्ध में प्रदर्शित किया है।[५२] हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुत मे तीर्थंकर प्रकृति के २० बन्ध कारण बतलाये हैं और इसमें ज्ञातृ धर्म कथांगसूत्र (८·६४) तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु की आवश्यक निर्युक्ति की चार गाथाएं प्रमाण रूप में दी हैं। किन्तु तत्वार्थ सूत्र में तीर्थंकर प्रकृति के १६ ही कारण निर्दिष्ट हैं, जो दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आगम 'षट्खण्डागम (३-१४) के अनुसार हैं और उनका वही क्रम तथा वही नाम है।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है, दूसरे तत्वार्थ सूत्रकार ने १६ की संख्या का निर्देश नहीं किया है।' यह लिखने के बाद तत्वार्थसूत्र में

सचेल श्रुतपना सिद्ध करने के लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञात धर्मकथा में जिन बीस बोलों का उल्लेख है उनमें जो ४ बातें अधिक है वे है—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमें से कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्परा को अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैली का परिणाम है।'

इस सम्बन्ध में हम समीक्षक से पूछते हैं कि ज्ञातृधर्मकथा सूत्र भी सूत्रग्रन्थ है, उसमे बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्र की तरह उसमे १६ ही क्यों नही गिनाये, क्योकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होने से उसकी भी शैली सक्षिप्त है। तत्त्वार्थसूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश न होने की तरह ज्ञातृधर्म कथासूत्र मे भी २० की संख्या का निर्देश न होने से क्या उसमे २० के सिवाय और भी कारणों का समावेश है? इसका उत्तर समीक्षक के पास नही है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र मे सचेलश्रुत के आधार पर तीर्थंकर प्रकृति के बन्धकारण नही बतलाये, अन्यथा आवश्यक निर्युक्ति की तरह उसमे ज्ञातधर्मकथासूत्र के अनुसार वे ही नाम और वे ही २० संख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम[53] के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्या को लिए हुए बन्धकारण निरूपित है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर श्रुत के आधार पर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य है। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्परा का अनुसारी नही हो सकता, यह डाक्टर साहब के लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्त्वार्थसूत्र में १६ की सख्या का निर्देश न होने की बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्त्व नही रखती, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्या का कही भी निर्देश नही है। चाहे तपो के भेद हों, चाहे परीषहों आदि के भेद हों। सूत्रकार की यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्त्वार्थ सूत्रकार को तीर्थंकर-प्रकृति के बन्ध कारणों को गिनाने के बाद संख्यावाची १६ (सोलह) के पद का निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणों को गिना देने से ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है १६ की संख्या न देने का यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देने से तत्त्वार्थ सूत्रकार को २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्ध कारणों का संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञातधर्म कथा में २० कारणो (बोलो) के अन्तर्गत बतलाया गया है। डा० सागरमल जी का उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हे तत्त्वार्थसूत्र की शैली का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृति के १६ बन्ध कारणों का प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागम के आधार से रचा गया है उसमे स्पष्टतया 'दंसणविसुज्झदाए—इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्र[54] में तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र[55] (३-४०) मे भी १६ की सख्या का निर्देश है। अतः षट्खण्डागम के इन दो सूत्रों के आधार से रचे तत्त्वार्थसूत्र के उल्लिखित (६-२४) सूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँ से सुतरां हो जाती है। सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बातें दिगम्बर परम्परा मे स्वीकृत है या नही, यह अलग प्रश्न है। किन्तु यह सत्य है कि वे तीर्थंकर प्रकृति की अलग बन्धकारण नहीं मानी गयीं। सिद्धभक्ति कर्मध्वंस का कारण है तब वह कर्मबन्ध का कारण कैसे हो सकती है। इसी से उसे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध कारणों मे सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातो मे स्थविर भक्ति और तपस्वि वात्सल्य का आचार्य भक्ति एवं साधु-समाधि मे तथा अपूर्वज्ञान ग्रहण का अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग मे समावेश कर लेने से उन्हें पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नही है। समीक्षक को गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धान के साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-क्षीर न्याय का अनुसरण किया जा सके और एक पक्ष मे प्रवाहित होने से बचा जा सके।

हमने अपने उक्त निबन्ध मे दिगम्बरत्व की समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहों का प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुत के अनुकूल हैं। उसको सचेल श्रुत के आधार से

रचना मानने पर इन दो परीषहों की तरह पुरुष परीषह का भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल श्रुत में स्त्री और पुरुष दोनों को मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरे के मोक्ष में उपद्रवकारी हैं। कोई कारण नहीं कि स्त्री परीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुत के अनुसार उन दोनों में मुक्ति के प्रति कोई वैषम्य नहीं। किन्तु दिगम्बर-श्रुत के अनुसार पुरुष में वज्रवृषभनाराचसंहननत्रय हैं, जो मुक्ति में सहकारी कारण है। परन्तु स्त्री के उनका अभाव होने से उसे मुक्ति सभव नही है और इसी से तत्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन है, पुरुषपरीषह का नहीं। इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधु को नही हो सकती—नग्न—दिगम्बर— पूर्णतया अचेल साधु को ही संभव है।

समीक्षक ने इन दोनों बातों की भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहो का उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्परा का होगा, यह कहना भी उचित नही है। फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एवं ग्रन्थों को दिगम्बर परंपरा का मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहों का उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्यों ने एवं श्वे० आगमों मे किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थ में पुरुषपरीषह का उल्लेख नहीं है।'

समीक्षक का यह आपादन उस समय बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीर की तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था। उसमे न एक, दो आदि वस्त्रो का ग्रहण था और न स्त्रीमोक्ष का समर्थन था। गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनो मे ही उसका वास था। सभी साधु अचेलपरीषह को सहते थे। आ० समन्तभद्र (२ री-३ री शती) के अनुसार उनके काल में भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओं में रहते थे। स्वयम्भूस्तोत्र में २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वत को 'तीर्थ संज्ञा को वहन करने वाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणों से परिव्याप्त कहा है। और उनके काल में भी वह वैसा था।

भद्रबाहु के बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्य के बीज आरम्भ हो गये और वे उत्तरोत्तर बढ़ते गये। इन बीजों में मुख्य वस्त्रग्रहण था। वस्त्र को स्वीकार कर लेने पर उसकी अचेल परीषह के साथ संगति बिठाने के लिए उसके अर्थ में परिवर्तन कर उसे अल्पचेल का बोधक मान लिया गया। तथा सवस्त्र साधु की मुक्ति मान ली गयी। फलतः सवस्त्र स्त्री की मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी। साधुओं के लिए स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने की आवश्यकता [illegible] हेतु संवर के साधनों में स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन तो [illegible]-का-त्यों बरकरार रखा गया। किन्तु स्त्रियों के लिए पुरुषों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने हेतु संवर के साधनों में पुरुषपरीषह का प्रतिपादन सचेल श्रुत में क्यों छोड़ दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है। अचेल श्रुत में ऐसा कोई विकल्प नहीं है। अतः तत्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन होने से वह अचेल श्रुत का अनुसारी है। स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करने से उसमें पुरुषपरीषह के प्रतिपादन का प्रसंग ही नहीं आता। स्त्रीपरीषह और दंशमकपरीषह इन दो परीषहों के उल्लेखमात्र से ही तत्वार्थसूत्र दिगम्बर ग्रन्थ नही है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्य और ग्रन्थ दिगंबर परपरा के हो जाने या मानने का प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें है, जो सचेल श्रुत से विरुद्ध है और अचेल श्रुत के अनुकूल है। ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थों में नहीं है। इन्हीं सब बातो से दो परंपराओ का जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकर से भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूप में चला आया जैन संघ टुकड़ों में बट गया। तीव्र एवं मूल के उच्छेदक विचार-भेद के ऐसे ही परिणाम निकलते हैं।

दंशमशक परीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधु को ही होना सम्भव है, सवस्त्र साधु को नहीं, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे डांस-मच्छर कहां से काटेंगे, तब उस परीषह के सहन करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता। सचेल श्रुत में उसका निर्देश मात्र पूर्वपरंपरा का स्मारक भर है। उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुत में ही संभव है।

अतः ये (नाग्न्यपरीषह, दंशमशकपरीषह और स्त्री-परीषह) तीनों परीषह तत्वार्थ सूत्र में पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधु की दृष्टि से अभिहित हुए है। अतः 'तत्वार्थसूत्र की परंपरा' निबन्ध में जो तथ्य दिये गये है, वे निर्बाध हैं और उसे वे दिगम्बर परंपरा का ग्रन्थ प्रकट करते है। उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियों में से एक भी आपत्ति बाधक नही है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती है।

समीक्षा के अन्त में हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदाय का गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान् से यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेक से बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्य को सत्य के रूप में प्रकट करे। अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थ की समीक्षा के समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा के थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।' 'वाचक उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा में हुए, दिगबर में नही।' ऐसा कहने वालो के सम्बन्ध में भी कुछ लिखते और उनके सत्य की जांच कर दिखाते कि उसमें कहा तक सचाई, नीर-क्षीर विवेक एवं बौद्धिक ईमानदारी है। वास्तव में अनुसन्धान में पूर्वाग्रह की मुक्ति आवश्यक है। हमने उक्त निबन्ध में वे तथ्य प्रस्तुत किये है जो अनुसन्धान करने पर उपलब्ध हुए है। यदि हमारे तथ्य एकपक्षीय हैं तो हमारा अनुरोध है कि अब तक निकले, प्रकाश में आये और जो अभी प्रकाश में आने वाले है उन तमाम उभय पक्ष के निष्कर्षों पर पूर्ण तटस्थ विद्वान् के द्वारा विमर्श एवं अनुसन्धान कराया जाये।

हम डा० सागरमल जी को धन्यवाद देंगे कि उक्त ग्रन्थ की समीक्षा के माध्यम से उन्होंने विचार के लिए कई प्रश्न या मुद्दे प्रस्तुत किये, जिन पर हमें कितना ही नया और गहरा विचार करने का अवसर मिला।

दिनांक १५ जुलाई १९८१,
वाराणसी (उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. जैन सन्देश, वर्ष ४८, अंक ५३, संघ-भवन, चौरासी, मथुरा, नवम्बर १९८० जैनमित्र, वर्ष ८१ अंक ५२, सूरत, १९८०, जैन बोधक, वर्ष ९६ अंक ५१, १९८०, वीरवाणी, वर्ष ३३, अंक ६, जयपुर, दिसम्बर १९८०, तीर्थंकर, वर्ष १०, अंक ६, इन्दौर अक्टूबर १९८० आदि।

२. कोसल, जर्नल आफ दि इंडियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध, वोल्यूम ३, नं० १,२,१२२२ दिल्ली दरवाजा फैजाबाद, १९८१।

३. खण्ड ६, अंक १०, जनवरी १९८१, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)।

४. वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१, पा० विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५।

५. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि० पृ० ५३८, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५ जून १९८०।

६. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मंसमं जाणदि पस्सदि···।—षट् खं० ५.५.६८।

(ख) से भगव अरिहं जिणो केवली सव्वन्नू सव्व-भावदरिसी ··सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणो पासमाणो ·।

—आचारांग सू०-२ अ० ३

७ प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द भारती, फल्टन, १९७०।

८ तीर्थकृत्समयानां च परस्पर विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥३॥
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥
—समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७।

९. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
पार्श्वनाथचरि० १।१७

१०. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः ।
—पाण्डव पु० ।

११. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्तं को न तं कल्पयिष्यति ॥
बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने इन कारिकाओं में प्रथम की दो कारिकाएं अपने तत्वसंग्रह (का० ३१४८-४९) में कुमारिल के नाम से दी है। दूसरी कारिका विद्यानन्द ने अष्टस० पृ० ५ में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदयासु०) १३२ है।

१२. आप्तमी का० ४, ५।

१३. मी० श्लो० चो सू०, का० १३२।

१४. 'तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा।'
—अष्टश० का० ५।

१५. अकलंक के उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने भी कुमारिल के खण्डन का जवाब दिया है। उन्होंने लिखा है—
एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्वादिलक्षणाः ।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥
—तत्वसं० का० ८८५।

१६. आप्तमी० का० ६, ७, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, दि० स० १९७८।

१७. एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना ।
—मीमांसा श्लो० ८७।

१८. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्यप्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥
—न्या० वि० का० ४१२-१३

१९. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२०. दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥
— कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०
अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'
—उमास्वाति (गृद्धपिच्छ), त० सू०, ५-२९, ३०।

२१. घट-मौलि-स्वर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥
— आ० मी० का०, ५९, ६०

२२. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदि ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥
—मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२३. "उक्त स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि—
आगे समन्तभद्र की पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्ट की उपर्युक्त कारिकाओं में से आरम्भ की डेढ़ कारिका उद्धृत है।
—न्या० वि वि० भाग १, पृ० ४३९।

२४. एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥
—प्रमाणवा० १-१८२

२५. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥
—आप्तमी० का० १०४।

२६. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् ख० १।१।७९।

२७. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तियं।
दव्वं खु सत्तभंग आदेसवसेण संभवदि ॥
— पंचास्ति०, गा० १४।

२८. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥
—प्रमाणवि०, १-१८१।

२९. यथाचित्तं सदेवेष्ट कथंचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
—आप्तमी० का० १४, १५ आदि ।

३०. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्र परमपि,
च बहिर्भासि भावप्रवादम्, ।
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि,
सकल नेति तत्वं प्रपेदे ॥
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च,
फलमपरं ज्ञायते नापि किंचित् ।
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति,
जडधीराकुल व्याकुलाप्तः ॥
—न्या० वि० १-१६१ ।

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ?
—न्या० वि० ३-३७३, ३७४

३१. न्यायकु. द्वि० भा० प्रस्ता० पृ० २७, अकलं० ग्रंथत्रय० प्रा० कथ० पृ० ६, न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० १८-२० ।

३२. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १२६ से १३३ ।

३३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥
—रत्न० श्लो० ६ ।

३४. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्वग्राहितयोत्पन्न मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

३५. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।
तस्मात्प्रमेयाद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥
– प्र० वा० ३-६३ ।
प्रत्यक्ष च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात् ।
—न्यायाव, श्लो० १ ।

(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।
—न्या० वि० पृ० ११ ।
अनुमानं तदभ्रान्त प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।
—न्यायाव० श्लो० ५ ।

३६. कुमारिल के प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चित बाधवर्जितम् । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाण लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाण लक्षण में 'बाधवर्जितम्' के रूप में अनुसृत है ।

३७. पात्रस्वामि का 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमे 'अन्यथानुपपन्नत्व हेतोर्लक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पद का प्रयोग कर उनकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है ।

३८. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ ।

३९. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५ ।

४०. तत्वार्थवा० ८ १, पृ २९५ ।

४१. अष्टस० पृ० २३८ ।

४२. अष्टसह० वि० टी० पृ० १ ।

४३. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६ ।

४४. अनेकान्त, वर्ष, ४ कि० १ ।

४५. वही, वर्ष ४, कि० ११-१२ तथा वर्ष ५, कि० १ २ ।

४६. जैन साहित्य का इतिहास, पृ. ५३३, द्वि.सं., १९५६ ।

४७. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३ ।

४८. वही, पृ० ८१ ।

४९. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति । तथा वहीं पृ० ८१ ।

५०. त० सू०, ९-१९ ।

५१. त० सू०, विवेचन सहित, ९-९, पृ० ३४८ ।

५२. जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र प०, पृ० ७९ ८० ।

५३. षट्ख०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९ ।

५४. दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूण पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४१॥

५५ तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामगोदकम्मं बधंति ॥४०॥
इन दोनों सूत्रों में १६ की संख्या का स्पष्ट निर्देश है

भ्रम निवारण

□ डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी से वि० स० २०२२ की विजयादशमी को प्रकाशित ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की सत्यानन्द सरस्वती कृत सत्यानन्दी दीपिका में जैन धर्म के विषय में भ्रान्त सूचनायें दी गई है। उक्त सूचनाओं को पढने पर ऐसा लगता है कि लेखक जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ है। जैन धर्म की सामान्य जानकारी न रखने वाले पाठक उक्त ग्रन्थ को पढ़ कर जैन धर्म के विषय मे भ्रमित न हों, एतदर्थ उक्त भ्रामक सूचनाओं का निराकरण प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है—

सत्यानन्दी दीपिका—जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है—बद्ध, मुक्त और नित्यसिद्ध। 'अस्ति कायत इति अस्तिकाय:' जो अस्ति शब्द से कहा जाय। वह अस्तिकाय है। यह जैन ग्रन्थों में परिभाषिक शब्द पदार्थवाची है। पुद्गलास्तिकाय छ: है—पृथ्वी आदि चार भूत, स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि। 'पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गला:' पूर्ण हों और गल जायें वे पुद्गल है। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अत: वे पुद्गल कहे है। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अत: वे पुद्गल कहे जाते है। सम्यक् प्रवृत्ति से अनुमेय धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह मे स्थिति का हेतु अधर्म है।[1]

निराकरण—जैन धर्म में जीवों को संसारी और मुक्त दो ही भागों मे विभाजित किया गया है, नित्यसिद्ध जैसा कोई विभाजन प्राप्त नही होता है। पुद्गल के अन्तर्गत स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि की गणना नही होती, इनका कलेवर अवश्य पौद्गलिक पर्याय है। जैनधर्म में धर्म और अधर्म नामक दो स्वतन्त्र द्रव्य माने गए हैं। जो जीव और पुद्गल की गति में उदासीन निमित्त हो उसे धर्म तथा जो इन्हे ठहराने में उदासीन निमित्त हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह में स्थिति का हेतु अधर्मद्रव्य न होकर आयुकर्म है।

सत्यानन्दी दीपिका—आवरण का अभाव आकाश है। वह लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है। ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोकों के अन्तर विद्यमान आकाश लोकाकाश और उससे भी ऊर्ध्व मोक्षस्थान अलोकाकाश है, वह केवल मुक्त पुरुषों का आश्रयस्थान है। मिथ्या-प्रवृत्ति आस्रव है और सम्यक् प्रवृत्ति सवर और निर्जरा है। विषयों के अभिमुख इन्द्रियो की प्रवृत्ति आस्रव है।[2]

निराकरण—अवगाह देने वाले द्रव्य का नाम आकाश है। जितने आकाश मे लोक अवस्थित है, उतने आकाश को लोकाकाश तथा शेष सब आकाश को अलोकाकाश कहते है। अलोकाकाश मुक्त पुरुषों का आश्रय स्थान नही है। अपितु मुक्त पुरुष लोक के अन्त मे रहते है। आस्रव शुभ और अशुभ दोनो प्रवृत्तियों से युक्त होता है। आस्रव का निरोध सवर है तथा कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है।

सत्यानन्दी दीपिका—तत्त्वज्ञान से मोक्ष नही होता, यह विपरीत भावना ज्ञानावरणीय है। अर्हत् दर्शन के अभ्यास से मोक्ष नही होता, यह भावना दर्शनावरणीय है। बहुत तीर्थंकरों से परस्पर विरुद्ध प्रदर्शित मार्गों में निश्चयाभाव मोहनीय है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में विघ्नकारक अन्तराय है। ये ज्ञानावरणीय आदि चार कल्याण के घातक होने से घाति—असाधु कर्म कहे जाते है। मुझे यह तत्त्व ज्ञातव्य है, ऐसा अभिमान वेदनीय है, मैं इस नाम का हूं, ऐसा अभिमान नामिक है। मैं पूज्य देशिक अर्हन्त के शिष्य वंश मे प्रविष्ट हूं, यह अभिमान गोत्रिक है और शरीर की स्थिति के लिए कर्म आयुष्क है। तत्वज्ञान के अनुकूल होने से ये वेदनीय आदि चारों कर्म तत्त्वावेदक पुण्यवत् शरीर के साथ सम्बन्धी होने से अघाती कर्म—साधु कर्म कहे जाते

हैं। इस प्रकार ये आठों कर्म जन्म के हेतु होने से आस्रव आदि द्वारा पुरुष को बांधते है, अतः बन्धरूप है। समस्त क्लेश कर्मपाश का नाशकर ज्ञान द्वारा सबके ऊपर अलोकाकाश में सतत सुखपूर्वक स्थिति का नाम मोक्ष है अथवा ऊर्ध्वगमनशील जीव धर्माधर्म से मुक्त होकर सतत ऊर्ध्वगमन करता है, यही उसका मोक्ष है।[३]

निराकरण – जो ज्ञान को आवृत करे, वह ज्ञानावरण कर्म है। जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, वह दर्शनावरण है। जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जो दाता और देय में अन्तर करता है, अर्थात् – दान, लाभ, भोग, और उपभोग और वीर्य मे रुकावट लाता है, वह अन्तराय कर्म है। जो वेदन करता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है, वह वेदनीय कर्म है। जो संसारी आत्मा के निमित्त शरीर-अंगोपांगादि की रचना करता है वह नामकर्म है। जिसके द्वारा उच्च नीच कहा जाता है, वह गोत्र कर्म है, जिसके द्वारा यह जीव नरक आदि भवों मे रुका रहता है, वह आयुकर्म है।[४] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये घातिया कर्म कहे जाते है। क्योंकि ये जीव के परिणामों को सर्वदेश घात करते है, अन्य चार कर्म अघातिया कहे जाते हैं—अंश का घात करते हैं; क्योंकि घाति कर्म के अभाव में ये जीव के परिणामों का पूर्ण घात करने मे वे समर्थ नहीं हैं। मोक्षावस्था मे जीव लोक के अन्त में लोकाकाश मे ही विद्यमान रहता है, क्योंकि अलोकाकाश मे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसमे मुक्तजीव की गति नहीं होती।[५]

सत्यानन्दी दीपिका – सब वस्तुओ मे निरकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण को भी वस्तुत्व के समान होने पर स्यादस्ति स्यान्नास्ति (कथंचित् है और कथंचित् नही है) इस प्रकार विकल्प के प्राप्त होने से अनिर्धारणात्मकत्व होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का पक्ष मे अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसा होने पर प्रमाणभूत होता हुआ भी तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिर्धारित होने पर उपदेश करने मे कैसे समर्थ होगा? अथवा उसके अभिप्राय का अनुसरण करने वाले शिष्य उसके उपदिष्ट अनिर्धारित रूप अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगे? परन्तु अव्यभिचरित फल का निर्धारण होने पर उसके साधनानुष्ठान के लिए सब लोक अनाकुल—निःसन्देह प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए अनिर्धारित अर्थ वाले शास्त्र का प्रणयन करता हुआ मत्त और उन्मत्त के समान अनुपादेय वचन होगा।[६]

निराकरण—उपर्युक्त तर्क संशय के आधार पर किया गया है। जब दोनों धर्मों की अपने दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशय का आकार तो होता है—वस्तु है या नही? परन्तु स्याद्वाद में तो दृढ़निश्चय होता है; वस्तु स्व-स्वरूप से है ही पर रूप मे नही ही है। समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीति को संशय कहते है, उसकी दृढ निश्चय मे सम्भावना नहीं की जा सकती।[७]

सत्यानन्दी दीपिका—पदार्थों मे अवक्तव्य भी संभव नहीं है यदि अवक्तव्य है तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते है और पुनः अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध है।[८]

निराकरण – जैनधर्म पदार्थों को सर्वथा अवक्तव्य नही कहता, उसकी दृष्टि में पदार्थ कथंचित् वक्तव्य भी है। विरोध तो अनुपलम्भ साध्य होता है अर्थात् जो वस्तु जैसी दिखाई न दे, उसे वैसी मानने पर होता है। जब एक वस्तु मे वक्तव्य, अव्यक्तव्यपना पाया जाता है, तब विरोध कैसा?

सत्यानन्दी दीपिका—शरीर परिमाणत्व होने पर आत्मा अकृत्स्न – असर्वगत–परिच्छिन्न होगा, इससे आत्मा को घट आदि के समान अनित्यत्व प्रसक्त होगा। शरीरों का अनिश्चित परिमाण होने से मनुष्य जीव मनुष्य शरीर परिमाण होकर पुनः किसी कर्मविपाक से हस्ति जन्म प्राप्त कर सम्पूर्ण हस्ति शरीर को व्याप्त नहीं करेगा और चींटी का जन्म पाकर पूर्ण रूप से चींटी को शरीर मे नहा समाएगा। एक जन्म मे भी कौमार, यौवन, वार्द्धक्य यह दोष समान है। पूर्वपक्षी—परन्तु जीव अनन्त अवयव वाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीर में संकुचित होंगे और बड़े शरीर में विकसित होंगे। उत्तरपक्ष—यदि ऐसा हो तो पुनः जीव के उन अनन्त अवयवों के एकदेशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं? यह कहना चाहिए।

प्रतिघात होने पर तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगे और अप्रतिघात होने पर भी एक अवयव-देशत्व की आपत्ति होने से सब अवयवों की प्रथिमा—स्थूलता अनुपपन्न होने से जीव को अणुमात्रत्व प्रसङ्ग होगा और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीव अवयवों के आनन्त्य की कल्पना नहीं की जा सकती।[६]

निराकरण—जैन दर्शन में प्रत्येक द्रव्य उत्पादन, व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस दृष्टि से कथंचित् आत्मा अनित्य है। आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से मूर्तिक हो रही है और कार्माण शरीर के कारण वह छोटे बड़े शरीर में रहता है, इसलिए वह प्रदेशों के सकोच और विस्तार स्वभाव वाला है और इसलिए शरीर के अनुसार दीपक के समान उसका लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश प्रदेश में यद्यपि दीपक के प्रकाश के परिमाण का निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, मानसिक तथा आवरण करने वाले दूसरे पदार्थों के आवरण के वश से तत्परिमाण होता है। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।[१०] जैन दर्शन मे जीव को अनन्त अवयव वाला न मान कर असंख्यात प्रदेशी माना गया है। जैसे घट आदि पदार्थ के रूप आदि गुण जिस स्थान मे देखे जाते है, उसी स्थान में उस घटादि पदार्थ की विद्यमानता प्रतीत की जाती है और उस स्थान से भिन्न स्थान मे उन घटादि की विद्यमानता नही जानी जाती है। इसी प्रकार से आत्मा के जो ज्ञान आदि गुण है वे शरीर मे ही देखे जाते है। शरीर के बाहर नहीं देखे जाते है; इस कारण आत्मा शरीर प्रमाण ही है अर्थात् जितना बड़ा उस आत्मा का शरीर है, उतना बड़ा ही वह आत्मा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५५।
२ वही पृ० ४५५।
३. वही पृ० ४५६।
४. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या—८।४।
५. धर्मास्तिकायाभावात्—तत्त्वार्थसूत्र १०/८।
६. ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५७।
७. पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : जैन दर्शन पृ० ५७०।
८. सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५८।
९. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य) सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५६।
१०. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्—तत्त्वार्थसूत्र ५।१६ —(सर्वार्थसिद्धि व्याख्या)

आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं और कहाँ जाएँगे ? उक्त प्रश्नों के उत्तर में लौकिकजन साधारणतया लौकिक जाति-पद ग्राम और गन्तव्य नगर आदि का परिचय देने के अभ्यासी हो रहे हैं—वास्तविकता की ओर उनका तनिक भी लक्ष्य नहीं। यदि एक बार भी अपने स्वरूप का बोध हो जाय तो दुख से मुक्ति में क्षण न लगे। जिन जीवों को स्व-बोध हुआ हो वे स्वभावतः जल में भिन्न कमलवत् जीवन यापन करते हैं और उनके अन्तर में सदा स्वरूप चिन्तन रहता है—ऐसे जीवों की गणना 'घर ही में वैरागी' के रूप में होती है। स्व० पण्डित प्रवर श्री टोडरमल जी के शब्दों में ऐसे जीवों का चिन्तन निम्न भांति होता है—

'मैं हूँ जीव द्रव्य नित्य, चेतन स्वरूप मेरो, लाग्यो है अनादि तें कलंक कर्ममल को।
ताही को निमित्त पाय, रागादिक भाव भए, भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को।।
रागादिक भावनि को पायकें निमित्त पुनि, होत कर्म-बंध ऐसो है बनाव कल को।
ऐसे ही भ्रमत भयो मनुष्य शरीर जोग, बनै तो बनै यहाँ उपाय निज थल को।।

जरा सोचिए !

(१) धर्म प्रभावना कैसे हो ?

वीतराग के आगम में परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्हीं विचारधाराओं को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनों सुरक्षित होते है। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से भी हमें इसकी स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अंगुल अधर चलते है और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते है—अन्तरंग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति मे हमें सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म केलिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नहीं हो गई है ? तीर्थ यात्राओं मे तीर्थ (धर्म) की कमी और सांसारिक मनौतियों की बढ़वारी तो नही है ? मात्र छत्र चढ़ा कर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की माग तो नहीं है ? जिन्हे तीर्थंकरों ने छोडा था उन भौतिक सामग्रियों से लोग चिपके तो नही जा रहे ? कहीं ऐसा तो नही हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौडता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो ? कतिपय जन अपने प्रभाव से जनता को बाह्य आडम्बरों की चकाचौंध मे मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नहीं देने लगे ? जहाँ तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहाँ आज उनका स्थान रागी, राजनीति-पटु और जैन-तत्वज्ञान शून्य-नेता तो नहीं लेने लगे ? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमे स्वयं प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यों हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रों में उपदेश है और समाज के जितने अंग हैं—मुनि, व्रतीश्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समंतभद्र के शब्दों में—

'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥'—१८॥

अर्थात् अज्ञान-तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन की—जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना—प्रभावना है। प्रभावना मे हमें यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमें धर्ममार्ग मलिन तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य-उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सांसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सांसारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म-सेवन नहीं करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामंविनयचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥'

सम्यग्दृष्टि जीव भय-आशा-स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम विनय (आदि) नही करते हैं। आगे ऐसा भी कहा है कि राग द्वेष से मलीन—लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसंग का उपस्थिति मे उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढ़ता और लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन में उपदेश है। यहाँ तो वीतरागता में सहायक साधनों—सु-देव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा-उपासना की आज्ञा है आर्षज्ञाताओं से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण में सावधान रहते हैं तो धर्म-प्रभावना हो धर्म-प्रभावना है। अन्यथा यंत्र-मंत्र-तन्त्र करने और सांसारिकसुखों का

प्रलाभन देने वालों की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमे सोचना है कि हम कौन सा मार्ग अपनाएँ ?

सम्यग्ज्ञान में ये तीनों ही नहीं होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय मे आचार्य कहते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है। अत: श्रावक व मुनि दोनों को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो—मोक्षमार्ग मे सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना करनी चाहिए।

(२) रहस्यपूर्ण चिट्ठी क्या है ?

चिट्ठी हम लिखते हैं, और वे भी लिखते हैं। पर वे दूसरे 'वे' होते है जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते है। आप कहेंगे आज भी ऐसी चिट्ठियों का चलन है जो रहस्यपूर्ण और गोपनीय होती हैं। बहुत-सी रहस्यपूर्ण चिट्ठियाँ अनेकों गुप्तचरों द्वारा पकड़ी जाती है, सेन्सर की जाती है और अनेकों रहस्य खोलती हैं। पर, यदि आगम दृष्टि से देखा जाय तो वे चिट्ठियाँ रहस्यपूर्ण नही होती—धोखे को पकड़ने का धोखा भरा साधन मात्र होती हैं। जो लिखता है वह स्वयं धोखे मे रहकर दूसरे को धोखा देता है और पकड़ने वाला उस धोखे को धोखे में पकड़ता है—फलत: न वह रहस्य होता है और ना ही रहस्य को पकड़ने (का दम्भ भरने) वाला रहस्य को पकड़ पाता है।

'रहस्य' शब्द बड़ा रहस्यमय है। इसे रहस्य के पारखी ही जानते हैं। वे जब लिखते है तब रहस्यमय, समझते हैं तब रहस्यमय और कहते है तब भी रहस्यमय। रहस्य वस्तु-स्वरूप मे तिल मे तेल से भी गहरा—पूर्ण रूप से समाया हुआ है। जैन-दर्शन के अनुसार तो हर वस्तु रहस्यमय है तथा हर वस्तु का रहस्य भी अपना और पृथक् है। अपने रहस्य को बतलाने और समझने वाले ही वास्तविक लेखक और वास्तविक वाचक हैं। यदि आप अपना (आत्मा का) रहस्य अंकित करते है तो आप रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते हैं। पहिले ऐसी चिट्ठियां लिखी जाती रही है और लोग उनका पूर्ण लाभ भी उठाते रहे हैं आगम-मार्ग में रहस्यपूर्ण चिट्ठी वे हैं जो प्रयोजनभूत—आत्मा का रहस्य खोलती हैं। ऐसी चिट्ठियों में हमें एक चिट्ठी पं० प्रवर टोडरमल जी की मिलती है, जो उन्होंने मुल्तान के अध्यात्मिक श्रावकों को लिखी थी। वे लिखते है—

'वर्तमानकाल में आध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य है जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करे है, सो ही कहा है—

'तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित स: भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम् ॥

भाव यह है कि जिस जीव ने प्रसन्नचित्त होकर इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात सुनी है वह निश्चय—भव्य है और निर्वाण का पात्र है।"

पाठक देखें कितना रहस्य है इन चन्द पंक्तियों में ? विचारने पर क्या ये अन्तरंग को झकझोर कर जगाने के लिए पर्याप्त नही हैं ? जो इन्हें पढ़ेगा-विचारेगा अनुभव में लाएगा वह अवश्य ऐसे रहस्य को पाएगा जिसे कोटि-कोटि तपस्वियों ने कोटि-कोटि तपस्याए करके भी कठिनता से पाया हो।

अपनी चिट्ठी में पं० प्रवर ने किन-किन रहस्यों को खोला है ये हम आगे लिखेंगे ये प्रसंग तो रहस्यपूर्ण चिट्ठी की परिभाषा मात्र का था। अस्तु।

(३) सम्यग्ज्ञान क्या है ?

मोक्ष मे प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। श्रावक और मुनि दोनों में इस ज्ञान का होना आवश्यक है, बिना इस ज्ञान के वह मोक्ष का उपाय नही कर सकता और ना ही उसका ज्ञान सार्थक हो सकता है। लोक में भौतिक-सांसारिक विषयों की खोज और उनमें प्रवृत्ति के सूचक जो ज्ञान देखे जाते हैं और जिनके आधार से ज्ञानी की पहिचान की जाती है—वे सभी ज्ञान आत्म-मार्ग में सहायी न होने से मिथ्या ज्ञान की श्रेणी में आते है—लोकव्यवहार में चाहे वे सही भी क्यों न हों ?

ज्ञान के मिथ्या या सम्यक् होने में मूल कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन है और इसीलिए आचार्यों

ने सम्यग्दर्शन को प्रथम रखा है। भाव ऐसा है कि मोक्ष-मार्ग में प्रयोजनभूत जीव-अजीव-आस्रव बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित याथातथ्य- जैसे का तैसा जानना सम्यक् ज्ञान है। पंडित प्रवर टोडरमल जी ने इस विषय को इस भांति स्पष्ट किया है—'बहुरि यहां ससार' मोक्ष के कारणभूत सांचा भूठा जानने का निर्द्धारण करना है, सो जेवरी-सर्पादिक का यथार्थ वा अन्यथा ज्ञान समार, मोक्ष का कारण नाही तातै तिनकी अपेक्षा इहां मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान न कह्या। इहां प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वनि ही का जानने की अपेक्षा मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान कह्या है।' धूप मे चमकती हुई सीप को देख कर ऐसा विकल्प करना कि यह सीप है या चांदी—संशय कहलाता है। चमकती हुई सीप को चांदी रूप जानने का नाम विपर्यय—उल्टा ज्ञान है: और मार्ग मे चलते हुए यदि पैर में कोई तिनका चुभ जाय तो उसमे विकल्प उठा कर कि ये क्या है, उसी क्षण (बिना निर्धारण के) उपेक्षा भाव लाकर आगे बढ़ जाना—कि कुछ होगा, यह अनध्यवसाय है। सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो भी नही होते। और सम्यग्ज्ञान के लक्ष्य, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व होते है।

(४) आप इतने क्रूर तो न थे ?

(भगवान महावीर का अहिंसामयी धर्म पालन करने के लिए हमे अपने दैनिक जीवन मे पर्याप्त परिवर्तन लाना होगा—हिंसाजन्य सौन्दर्य प्रसाधन सामग्रियो का सर्वथा परित्याग करना होगा। विविध सौन्दर्य प्रसाधन किस भांति और किन जीवों की बलि देकर निर्मित किए जाते हैं, इसकी संक्षिप्त झलक 'इनकी जिन्दगी आपका फैशन' से चुन कर यहाँ दी जा रही है—आशा है महावीर के अनुयायी इससे लाभान्वित होंगे) —संपादक

१. बिज्जू का सैण्ट—

बिज्जू नामक जानवर बिल्ली से बहुत छोटा होता है। बहुत कम लोगो ने इसे जंगल मे देखा होगा। चिड़ियाघरों मे भले ही देखा हो। इस छोटे से जानवर को बेतों से पीटा जाता है ताकि यह उद्वेलित हो जाय। उद्विग्न अवस्था मे इसके शरीर से वह तरल पदार्थ निकलने लगता है जिसमें से सुगन्ध निचोड़ा जाता है और उसकी ग्रन्थी को चाकू से खरोंचा जाता है।

सौन्दर्य प्रसाधन—

"स्लेन्डर लोरिस" नामक छोटा सा बन्दर जो भारत में अब बहुत कम संख्या मे रह गया है क्योंकि इसका शिकार अत्यधिक किया जा चुका है। इसकी आंखें बाहर निकाल ली जाती है। इसका दिल बाहर निकाल लिया जाता है। इन दोनो को पीस कर सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाई जाती है।

कोट कपड़े आदि—

चूहे जैसा ही जानवर होता है 'बीवर'। इसके शरीर से निकला तेल सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने में काम आता है। इसकी खाल के कोट बनते है। छोटा-सा यह जानवर रुमाल बराबर है। करीब ६० ऐसे जानवरों की खाल से एक व्यक्ति का कोट बनता है।

सील—

सील मछली के बच्चो के साथ भी क्रूरता कुछ कम नही होती है। कनाडा मे बेसबाल खेलने के बल्ले जैसे डण्डे से इस मछली के बच्चो की लगातार तब तक पिटाई की जाती है जब तक वे मर न जाएं। नारवे में तो लोहे की तीखी सलाख सील के बच्चो के सिर मे घुसा दी जाती है और उसकी खाल तुरन्त उतारने के लिए उसे चीर दिया जाता है। बेचारी मां अपने शिशु के क्रन्दन को सुनती रहती है। जब शिकारी चले जाते हैं तो वह अपने शिशु के अस्थिपंजर के समीप आकर अपने मुंह से उस लहूलुहान के पिण्ड को सूंघती है। कहां गया उसका शिशु ? वह तो सदा के लिए विलुप्त होगया। खाल किसी रईस का कोट बन गई।

मिन्क—

मिंक नामक जानवर पानी मे रहता है और इसके बाहर भी। इसका कसूर सिर्फ इतना है कि मुलायम बाल वाली इसकी खाल अत्यन्त मोहक एवं लुभावनी होती है। अतः मिंक पर कहर ढाया जा रहा है। रईस लोगो के

कोट की खातिर मिंक का व्यापक वध हो रहा है। "चिनचिला" नामक दक्षिणी अमेरिका के जानवर को भी मिंक की भांति अकारण सजा-ए-मौत सहनी पड़ रही है।

कराकुल--

कराकुल भेड़ के बाल बड़े घुंघराले और खाल अत्यन्त नरम होती है। मनचले लोग अपने शौक की पूर्ति के लिए इसी खाल के कपड़े या टोपी पहनना चाहते हैं। लेकिन मेमने के पैदा होते ही इसके बालों का मुलायमपन कम हो जाता है। अतः मादा भेड़ को गर्भावस्था में ही बेंतों से पीटा जाता है। इस कदर बेंतो से उस पर प्रहार किया जाता है कि उसके प्राण पखेरू उड़ जाएं। मरते ही उसके पेट से होने वाले मेमने को निकाला जाता है। क्रूरता की पाशविकता इससे अधिक क्या होगी कि उस मेमने की खाल जिन्दा अवस्था में ही उतार ली जाती है।

पर्स या सूटकेस—

लोग कहते है मगरमच्छ सदा मुंह खोल कर हंसता रहता है लेकिन लोगो की हँसी ज्यादा क्रूर है। मगरमच्छ को पानी से बाहर चालाकी से लाया जाता है और उसे जल विहीन परिस्थिति मे छटपटाने को मजबूर किया जाता है ताकि उसकी मौत करीब, और करीब आती जाए। यकायक उसकी नाक मे एक पैना छुरा घोंप दिया जाता है ताकि उसका जीवन समाप्त हो जाये।

मगरमच्छ की खाल पर बहुत लोग आख लगाए हुए हैं क्योंकि उसका उपयोग चमड़े के रूप मे महिलाओं के "पर्स" या "सूटकेस" आदि बनाने मे किया जाता है।

कुत्ता—

कुत्ता तो अंगरक्षक होता है। लेकिन आदमी उसकी जान का भी भक्षक बनता जा रहा है। बेशकीमती नस्ल के कुत्तों को एक साथ खड़ा करके उनके शरीर मे विद्युत का करन्ट प्रवाहित किया जाता है। कांपते, सिहरते, कपकंपाते हुए कुत्तो का झुण्ड-का-झुण्ड दम तोड़ देता है। इनके नरम कान का उपयोग "पर्स" बनाने मे होता है।

शुतुर्मुर्ग—

हर छठे माह शुतुर्मुर्ग के पंख नोचे जाते हैं क्योंकि लोगों को इस विशालतम पक्षी के पंखो से प्यार है। पंख नोंच लिए जाने के बाद इसकी खाल नोची जाती है। खरोचने और नोंचने का यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि शुतुर्मुर्ग के प्राण पखेरु उड न जाएँ। खाल का थैला बन जाता है और पंख आपके टोप मे खोस लिए जाते है।

रेशम--

रेशम तो देखी है। पहनी भी होगी ही। रेशम का कीड़ा देखा है? रेशम का धागा प्राप्त करने मे इसके कीड़े को जो मरणान्तक पीड़ा का सामना करना पड़ता है उसके बारे मे कभी अन्दाज भी लगाया है? रेशम के एक कुर्ते की खातिर कितने हजार कीड़ो की जीव हत्या होती है? किस पीड़ा से उन्हें मारा जाता है?

देखा आपने, मूक-जीवों को कितनी यातना दी जाती है? लोगो के सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु? फिर भी पशु-पक्षियो की हत्या और उनके साथ अमानवीय व्यवहार जारी है। औसतन एक जानवर को जिन्दा पकड़ने या एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने म ५-७ जानवर मर जाते हैं। हाल ही मे २० लाख जिन्दा मगरमच्छ अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे बेचने के लिए एक देश से दूसरे देश मे लाए गए। परन्तु इनमे से आधे तो रास्ते मे ही मर गए।

अहिंसा प्रेमियों को इस प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनो से सर्वथा बचना चाहिये। —सम्पादक

नीरक्षीरविवेके, हंसालस्यं त्वमेव कुरुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यःकुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

—हे हंस, यदि तुम ही दूध और जल का भेद भाव बताने में प्रमाद करोगे तो बतलाओ इस संसार में और कौन व्यक्ति न्याय-पद्धति को अपनाएगा?

तीन

□ श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ता वाले)

हर कार्य में तीन काम साथ-साथ होते हैं एक शरीर की क्रिया एक विकारी भाव या विकल्प और एक जानने की क्रिया। जानने की क्रिया आत्मा से उठती है। शरीर की क्रिया शरीर की ही है। रही विकारी भावों की बात वह भी पर के समक्ष से होने वाली है। जानने की क्रिया बाकी दो क्रियाओं को जानती है उस रूप नही होती। शरीर को जानते हुए शरीर रूप नही होती—क्रोधादि भावों के होते उस रूप नही होती वह तो अपने रूप ही रहती है।

अगर हम खा रहे है तो वहाँ पर भी तीन कार्य हो रहे है शरीर की क्रिया—खाने का भाव और खाने में रस आना और उसको जानने की क्रिया। जैसे हम दूर बैठ कर किसी दूसरे आदमी की क्रिया देखते है। वह बीमार है तो हम देख रहे हैं परन्तु बीमारी का भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह क्रोध कर रहा है तो उसका कर्ता भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह चलता है तो देखने वाला नही चलता वह तो अलग है अगर दूसरा बोल रहा है तो देखने वाला अबोला है। ठीक यही दशा आत्मा के जानने की है क्रोधादि होते है परन्तु देखने वाला तो देखने का ही काम कर रहा है। इस प्रकार उसके तीन क्रिया सब कामों मे होती है वह एक का मालिक है एक के साथ उसका अपनापना-एकत्वपना, अहम्पना है बाकी दो के साथ उसका अपनापना-एकात्मपना-अहम्पना नही है। पर की दो क्रिया होती है कभी क्रोध कर रहा है कभी क्षमा मांग रहा है। परन्तु जानने वाला तो मात्र जान ही रहा है वह तो न क्रोध करता है और न क्षमा मांगता है परन्तु इनका जानने वाला है। इसलिये यह कहना चाहिए कि वह खाते हुए खाता नही। चलते हुए चलता नही बोलते हुए बोलता नही। इस प्रकार कोई कहता है कि आपने खाना खाया वह कह सकता है खाना खाया गया यह मैंने भी देखा है इस प्रकार वह मात्र ज्ञाता है करता नही, भोक्ता नहीं।

जबकि एक दूसरा व्यक्ति है जो इस ज्ञाता को नहीं पहचानता वहाँ पर वह समझता है कि सब कुछ करने वाला मैं ही हूं वह शरीर की क्रिया का भी और विकारी भावों का भी दोनों का कर्त्ता। दोनों को अपने रूप जानता है और दोनों में अहम् बुद्धि रखे हुए है। वहां तीन नही दो ही हैं। जब ज्ञाता पकड़ मे नहीं आता तो विकार का करता बन जाता है और उसमे और शरीर में अहम् बुद्धि करता है। जिसमे अहम् बुद्धि होगी उसमे आसक्ति भी होगी। लौकिक में भी जिसको हम अपना मानते है उसमे आसक्ति होती ही है। यह आसक्ति तब तक नही छूट सकती जब तक अहम् बुद्धि नहीं छूटती। इसलिये जो लोग पर मे, शरीर से आसक्ति छोड़ना चाहते है उन्हें पहले उसमे से अहम् बुद्धि छोड़नी है तब आसक्ति अपने आप छूट जायेगी और अहम् बुद्धि तब तक नहीं छूटती जब तक ज्ञाता पकड मे नही आता। ज्ञाता पकड़ मे आने पर अहम्पना उसमे आयेगा तो पर में अहम् बुद्धि नही रहेगी और आसक्ति अपने आप छूट जायेगी। छोड़ना पर मे अहम् बुद्धि को है। यह Negative है यह कहना चाहिए कि अपने में अहम् बुद्धि लानी है यह Positive है। अज्ञानता क्या है, संसार क्या है, पर में अहम् बुद्धि। पर को छोड़ने से, उससे दूर भाग जाने से अहम् बुद्धि नहीं छूटेगी। परन्तु अपने को जानने से अहम् बुद्धि छूटेगी। अपने को नही जानना यही अज्ञान है और यही अज्ञान अनंत ससार, अनंत दुख है यही बन्धन है। उसका उपाय अपने को जानना है वह शास्त्र के द्वारा-शब्दों के द्वारा और गुरु के द्वारा भी नहीं होगा। वहाँ से तो आप स्व के बारे मे जानकारी कर सकते है। स्व के बारे में शास्त्र से जान सकते हैं परन्तु स्व को देख नहीं सकते उसे तो अपने

में ही देखना होगा। शास्त्रों मे देख कर पण्डित हो सकते हैं स्व के बारे में कथन कर सकते हैं परन्तु सबके मालिक नहीं हो सकते।

हमने पर को दुख का कारण आसक्ति का कारण समझ कर उसको तो करोड़ों दफे छोड़ा परन्तु पर मे अहम् बुद्धि नही छोड़ी। पहले पर के ग्रहण मे अहम् बुद्धि थी अब पर के त्याग में अहम् बुद्धि हो गयी पहले वाली से दूसरी ज्यादा खतरनाक होती है परन्तु अपने ज्ञाता में अहम् बुद्धि नहीं आई पर के ग्रहण से पर के त्याग मे तो बदल गयी परन्तु अपने में नहीं आई तो बाहर में तो बदला हुआ दिखाई देता है भेष बदला हुआ मालूम देता है परन्तु अन्तर में स्व में कुछ बदला नही है वह तो वैसा-का-वैसा ही है। इसलिये घर बदल गया परन्तु रहने वाला नहीं बदला—जिसको बदलना था।

जब पर में अहम् बुद्धि हट कर स्व में अहम् बुद्धि आ जाय तो आसक्ति तो अपने आप छूट गयी। जो रोकना है वह तो अहम् का ही है मकान के लिये कोई नहीं रोका मेरा चला गया उसके लिये रोता है। मकान कही नहीं जाता मात्र मेरा नही रहता। जहां मेरा है वही रस है जब मेरा नहीं रहा तो रस भी सूख गया। स्त्री नही जाती मात्र मेरी नहीं रहती और मेरा निकलने पर कुछ नही रहता। बच्चों के खेलने मे रस नही आता परन्तु मेरे बच्चे का रस आता है। इसलिये मेरापन ही रस पैदा करता है।

इस प्रकार हम अपने ज्ञाता को पकड़ें। ज्ञाता अपने आपको पर रूप देखता था वह अपने आपको अपने रूप देखे और अपने को अपने रूप जाने और अपने में ही लीन हो जाये यही मार्ग है। पर तो पर था ही वह कभी स्व हो नहीं सकता था उसको अज्ञानता से स्व मान लिया था अब अपना ज्ञान हुआ तो पर को पर रूप जाना पर को पर रूप देखा। अब जितना अपने मे ठहरे उतना पर का रस सूखने लगा पर की महिमा गयी। जितना स्व में ठहराव, लीनता बढ़े उतना विकार दूर हो और जितना विकार दूर हो उतनी बाहर में पर की पकड़ छूटती जाये। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग दिया भीतर से देखने वाला कहता है पकड़ने को कुछ रहा ही नहीं। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग कर चला गया। भीतर से देखने वाला कहता है जान कर चला गया। जान लिया यहां मेरा अपना कुछ नही तो फिर ठहरने को रहा ही नहीं।

इस प्रकार ठहराव बढता जाता है कार्य भीतर में हो रहा है बाहर मे तो उसका Reaction आ रहा है। बाहर से देखने वाला Reaction को धर्म समझता है उसको पुरुषार्थ समझता है और उस बाहरी Reaction की नकल करता है भीतर से देखने वाला जानता है पुरुषार्थ तो भीतर में है। स्व को जानने का पहला पुरुषार्थ और उसमे ठहरते जाना, ठहरते जाना और ठहरते-ठहरते उसमें पूर्ण रूप से लीन हो जाना यह दूसरा पुरुषार्थ है। ऐसा लीन हुआ कि बाहर में आने की जरूरत ही न रहा बस विकार का भी अभाव हो गया शरीर का भी अभाव हो गया मात्र ज्ञाता रह गया इसी का नाम मोक्ष है इसी का नाम परमात्मा होना है।

जैसे-जैसे निज को निज रूप देखता है विचार कम होने लगते है। पहले तीव्र क्रोधादि जाते है तब बाहर में अन्याय रूप आचरण मिट जाता है। बाहर से हटने लगता है फिर मंद क्रोधादि जाने लगते है तो बाहर में पंच महाव्रत रूप आचरण होने लगता है घर से प्रयोजन नही रहता। जब मंद से मंदतर होते है तो बाहर की जरूरत नही रहती अपने में ही ध्यान में लीन हो जाता है। इस प्रकार "भीतर से बाहर का मिलन" है परन्तु "बाहर से भीतर का मिलन नही है।" हमने बाहर को पकड़ लिया भीतर को भूल गये। मूल को छोड़ दिया पत्तो को पकड़ बैठे है।

तत्व यह नही है कि उसने क्या छोड़ा। "तत्व यह है कि क्या उपलब्ध हुआ। त्यागा नही है पाया है।" जब हीरे मिल गये तो पत्थर कंकड़ छूट गये क्योंकि बेमाने हो गये। कंकड़-पत्थर को कुछ कीमत समझ कर पकड़ रखा था जब कंकड़ पत्थर दिखाई दे गये तो बेमाने हो गये। अपने आप छूट गये। महत्व छूट गया इसका नहीं है महत्व मिल गया इसका है। कोई ऐसी चीज मिल गयी कि उसके सामने चक्रवर्ती की विभूति भी कंकड़-पत्थर

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

श्रावक के दैनिक आचार

□ श्रीमती सुधा जैन एम० ए०

निर्माण और निर्वाण ये दोनों शब्द मौलिक हैं। निर्माण बनने बनाने को कहते हैं और निर्वाण मुक्ति या छुटकारा पाने को कहते है। दोनों ही में सुखनिहित है। यदि मानव अपना निर्माण उचित रीति से करले——अपने आचार और विचारों को सही रूप मे करले तो उसे ससारी जीवन मे भी सुख है। और यदि उद्यम द्वारा अपनी कर्म-कालिमा—रागादि कषायों को निर्मूल कर दे तब उसे मोक्ष मे भी सुख है। अब यह निर्णय मानव को स्वयं करना है कि वह इन दोनो मे से किसे पसन्द करता है? हाँ, इतना अवश्य है कि जो स्थिति आज है उसे देखते हुए यह अवश्य कहा जायगा कि आज का मानव-समाज मार्ग से बहुत कुछ भटक गया है।

जैन दृष्टि से यह पत्नमकाल है। इसमें इस क्षेत्र से निर्वाण नही है। यदि निर्वाण पाना हो तो पहिले हमे अपना निर्माण करना पड़ेगा, अपने को बनाना होगा और उसी के आधार से हम विदेह क्षेत्र मे जन्म ले सकेंगे और वहाँ से निर्वाण पा सकेंगे। अतः आइए, पहिले निर्माण की ही चर्चा करलें।

प्रश्न ये होते हैं कि——हमे निर्माण की आवश्यकता क्यों है? और यदि निर्माण करें भी तो क्या और कैसा? क्या वास्तव मे हमारा निर्माण नही हुआ है? हम पैदा नही हुए है क्या? या हम मनुष्य नहो , क्या? आदि।

इसमे सन्देह नही, कि हम मनुष्य है और आकृति की अपेक्षा हमारा मनुष्य रूप में निर्माण भी हो चुका है। हमारे समान अन्य भी करोड़ों मनुष्य——आकृति से मनुष्य हैं। पर, मनुष्य का अर्थ इतना मात्र ही नही है कि आकृति ही मनुष्य रूप हो। इसके साथ कर्तव्य भी जुड़ा हुआ है। यदि हम मनुष्योचित कर्तव्यों को पूरा नही करते तो हम अपने आपको मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं। यदि कर्तव्य को मानवता से पृथक् कर दिया जाय तो मनुष्य-मनुष्य और पशु-मनुष्य मे भेद ही मिट जायगा। क्योंकि मनुष्य भी आहार करता है और पशु भी आहार करता है। निद्रा, भय, मैथुन आदि की अपेक्षा भी पशुओं और मनुष्यों मे कोई भेद नहीं है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि कर्तव्य प्रमुख है। और वह इसलिए कि——मनुष्य को पशु-पक्षी और अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि-विशेष मिली हुई है। अन्य प्राणियों का ज्ञान खाने-पीने और विषय भोगों तक ही सीमित है। बाह्य-जगत में हम देखते है कि मनुष्य नव-निर्माण करता है। आज तो वह चन्द्रलोक तक पर राज्य करने की योजना बना रहा हैं। यह सब बुद्धि और ज्ञान विशेष का ही प्रभाव है——पशु-पक्षियो मे ये बातें कहां?

आस्तिक-जगत—जो आत्मा तथा इस लोक और पर-लोक मे भी विश्वास रखता है, की ऐसी मान्यता है कि आत्मा जैसे भले बुरे कार्य करता है उसे अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इस जन्म मे हम जिन्हे सुखी-दुखी देखते हैं वे उनके किए कर्म फल ही हैं। यज्ञ-आदि क्रियाकाण्डों में विश्वास रखने वाले क्रियाकाण्डी, यज्ञादि क्रियाओं को 'कर्म' कहते है। पौराणिक लोग व्रत-त्याग-नियम आदि को कर्म मानते हैं और जैन-दर्शनकार फल-शक्ति सहित पुद्गल (कार्माण) वर्गणाओं को 'कर्म' मानते हैं। आत्मा जब कषाययुक्त होता है, तब उसमें मन-वचन-काय संबंधी क्रिया होती है और उस क्रिया के अनुसार उसे उसका फल आगामी काल मे भोगना पड़ता है। इस प्रकार फल भोगने की बात सभी को स्वीकार है। और क्रिया के अनुसार ही फल होगा ऐसा भी सभी को स्वीकार है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि यदि हम शुभ-फल——सांसारिक सुख चाहते हैं, तो हमे अच्छी क्रियाओं का आचरण करना चाहिए। बस, इसी शुभ-क्रिया की ओर लगना हमारा निर्माण है। और जब हम अपना निर्माण कर लेते है, तब निर्वाण का मार्ग भी हमें सरल दीख पड़ेगा।

अब सोचना यह है कि जिन क्रियाओं को शुभ नाम से कहा जाता है, वे क्रियाएँ कौन-सी हैं ?

यद्यपि लोक में विविध प्रकार की असंख्यातों क्रियाएँ हैं। सबका लेखा-जोखा करना संभव नहीं। तथापि उनके मूल पर प्रकाश डालने के लिए यहाँ कुछ आवश्यक मुख्य क्रियाओं का वर्णन किया जाता है।

तीर्थंकर-महावीर और उनसे पहिले के तेईस तीर्थंकरों ने धर्म[1] का उपदेश दिया। उन्होंने धर्म-पालकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया। वे चार श्रेणियाँ है—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक (४) श्राविका। धर्म-पालक होने से ये 'तीर्थ'—पवित्रता के स्थान भी कहलाए। इनकी स्थापना करने के कारण चौबीसों महापुरुष तीर्थंकर कहलाए। इन चारों में साधु और साध्वी अन्तिम पदवी हैं और ये पद सांसारिक समरभ-समारंभ-आरंभ से ऊँचे उठे स्थान है। श्रावक और श्राविका प्रारंभिक श्रेणियाँ है। इस प्रकरण मे हमारा लक्ष्य इन्हीं प्रारंभिक दो श्रेणियो पर है। यदि हम इनमे खरे उतरते है तो ऐसा समझना चाहिए कि हमारा प्रारंभिक निर्माण हो रहा है। प्रसंग के अनुसार यहाँ 'श्रावक' का अर्थ भी जान लेना आवश्यक है। फलतः—

श्रावक शब्द का भाव अति महत्व के ऐसे पद से है जो मोक्ष में सहायक हो। जो तीर्थंकरों की वाणी को श्रवण करता है, तदनुरूप आचरण करता है, उसे श्रावक कहते हैं। यदि हम श्रावक शब्द का ग्रामीण रीति से विश्लेषण करना चाहे, तो इस प्रकार कह सकते है कि—श्रावक शब्द में तीन वर्ण हैं—श्रा+व+क। श्रा से श्रद्धा, व से विवेक और क से क्रिया का भाव है, और ये तीनो मोक्ष के साधन हैं। कहा भी है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।'—तत्त्वार्थसूत्र १।१ अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र पूर्ण और समुदित रूप से मोक्ष के मार्ग है। व्यवहार मे भी इन तीनो के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। यथा—

मान लीजिए, एक रोगी पुरुष है। उसे औषधि पर विश्वास है और ज्ञान नही है कि औषधि कहाँ किस प्रकार प्राप्त होगी, तो वह निरोग नही हो सकता और यदि उसे श्रद्धान ज्ञान दोनों हैं और दवाई का प्रयोग नहीं करता—दवाई एक ओर रखी रहती है, तब भी उसके रोग का उपचार नही होता। रोग का उपचार तब ही होगा जब रोगी में श्रद्धा-ज्ञान और आचरण तीनों की पूर्णता हो। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र को जानना चाहिए। जो इन तीनों की ओर प्रवृत्त हो उसे श्रावक कहा जायगा।

जहाँ तक श्रद्धा की बात है, वह बहुत गहरी और भावात्मक क्रिया है। यह जानना बड़ा कठिन है कि किसकी श्रद्धा किस रूप में, कैसी है ? अतः हमे इस प्रसंग में इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोई जीव अपने भावों मे सरलता रख कर मोह को कम कर रहा है, उसके आचार-विचार या क्रिया काण्ड से स्वय या अन्य को बाधा नहीं पहुच रहा है, वह निवृत्ति मार्ग की ओर जा रहा है तो वह श्रद्धालु-ज्ञानी और सदाचारी होने के नाते श्रावक है। यह श्रावक का व्यवहार एव स्थूल रूप है। मोक्ष के प्रसंग मे श्रद्धा ज्ञान चारित्र का विशदरूप है और वह मुनिवृत्ति से बँधा हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में तो बाह्य लोक-व्यवहार को भी साथ लेकर चलने की बात है। अस्तु,

जैनाचार मे श्रावक के लिए कुछ मर्यादाएँ रखी गई हैं जिनसे श्रावक को अपने पद मे स्थिर रहने मे सहायता मिलती है। और वह सन्मार्ग से गिरने या कुमार्ग मे जाने से बच जाता है। इन मर्यादाओं को व्रत-नियम-यम आदि के नामों से सबोधित किया जाता है। वैसे तो समयानुसार हम श्रावकों को दो श्रेणियों मे विभक्त कर सकते है—एक अव्रती श्रावक और दूसरे व्रती श्रावक। जिन्होंने प्रत्यक्षतः कोई व्रत तो न लिए हो, पर श्रद्धा के साथ कुछ स्थूल नियमों का पालन करते हों, जैसे शराब न पीना, माँस न खाना, मधु आदि हिंसा से उत्पन्न होने वाले पदार्थ और नशीली चीजें सेवन न करना, तुच्छ जीवों से पूरित फल-फूल वनस्पति आदि न खाना, पीना छान कर पानी, रात्रि भोजन न करना आदि। जिनके परिणाम सरल और यथाशक्ति श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र के अनुकूल हो, पर शक्ति न मानकर व्रतो को ग्रहण न कर सके हो—नियमों मे न बँध सके हों।

व्रती श्रावक वे हैं जो बारह व्रतों में न्यूनाधिक बँधे रहते हैं और पापों का स्थूलरीति से त्याग किए रहते हैं।

बारह व्रत इस प्रकार हैं—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत। इन व्रतों का वर्णन करने से पूर्व इतना संकेत और कर दें कि इन व्रतों के पालन के साथ-साथ श्रावकों के ६ आवश्यक कर्म (कार्य) प्रतिदिन के और भी बतलाए गए हैं। सभी श्रावकों को धर्म में स्थिर रहने के लिए इनका यथाशक्ति—सुविधानुसार पालन करना अत्युपयोगी है। वे छह आवश्यक कार्य इस प्रकार है—(१) देव पूजा, (२) गुरु-उपासना, (३) स्वाध्याय, (४) संयम (५) तप और (६) दान।

(१) **देव-पूजा**—परम-शुद्ध आत्माओं को देव शब्द से संबोधित किया जाता है। और जैन-दर्शन में इन्हें परमात्मा कहा गया है। ये देव दो प्रकार के हैं—सकल-परमात्मा और निकल परमात्मा जो संसारी आत्मा अपने आत्मोद्यम से कर्मों को पूर्ण रूप से क्षय करके संसार से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते है वे निकल अर्थात् शरीर-रहित—सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। और जो क्षुधा, पिपासा, बुढापा, रोग जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह आदि से रहित होकर भी शरीर मे वास करते हैं, वे सकल अर्थात् शरीर सहित—अरहत परमात्मा कहलाते है। दोनों ही प्रकार के परमात्मा आत्मा के परमोत्कर्ष को प्राप्त होते है और वीतराग तथा सर्वज्ञ होते हैं। अरहत परमात्मा हित पूर्ण उपदेश भी देते हैं। इनको सांसारिक सभी प्रकार की झंझटों से कोई प्रयोजन नही होता।

चूंकि जैन-दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक जीव अनन्त शक्तियां अनन्त रूप मे रखता है और वह प्रतिबंधक कर्मों का अन्त करके उन्हे सदा के लिए प्रकट भी कर सकता है। अत: इस ओर लक्ष्य देने और बार-बार शुद्ध आत्माओं का ध्यान-मनन-आराधन करने से उसका मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए देव-पूजा का शास्त्रों में विधान किया गया है और श्रावक को इसका नियमित आचरण बतलाया है।

(२) **गुरु उपासना**—जो इन्द्रियों संबंधी सांसारिक विषयों के सेवन और उनकी आशा मात्र का भी परित्याग कर देते हैं, किसी प्रकार के भी संसार बढ़ाने वाले कार्यों को नहीं करते, किसी प्रकार का परिग्रह (बहिरंग व अंतरंग) नहीं रखते—पर विकारों से उभयथा यानी अंतरंग-बहिरंग दोनों परिग्रहों से सर्वथा रहित—नग्न परमनग्न होते हैं और ज्ञान, ध्यान तप में लीन रहते हैं—वे गुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरुओं की उपासना करने से वीतराग मुद्रा के प्रति श्रद्धा होती है—वीतरागता का पाठ भी मिलता है। ये मुद्रा मोक्षमार्ग की प्रतीक है। अत. श्रावक को गुरु-उपासना परमोपयोगी है।

(३) **स्वाध्याय**—अर्हन्त सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट और गुरु परंपरा से उपलब्ध-वाणी—जिन वाणी, जिसका किसी के द्वारा खण्डन नही किया जा सकता और जो स्याद्वादमयी होने से पूर्वापर विरोध रहित है, का पठन-पाठन, मनन चिंतवन करना स्वाध्याय कहा गया है। आत्मा आदिक पदार्थों का इससे विस्तार पूर्वक प्रशस्त ज्ञान होता है और वह ज्ञान ही आत्म-साधना में उपयोगी है। श्रावक को इससे लाभ होता है और वह मोक्षमार्ग में लगता है।

(४) **संयम**—अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखना, जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। इन्द्रियों को वश मे किए बिना किसी प्रकार भी उद्धार नहीं हो सकता। अत: इन्द्रियों को वश मे करना और सब जीवों को अपने समान समझकर उनकी रक्षा करना परमोपयोगी है।

(५) **तप**—मनुष्य की इच्छाएँ संसार परिभ्रमण में प्रमुख कारण है जब तक इच्छाओं को कम नहीं किया जायगा—रोका नहीं जायगा तब तक अशान्ति ही रहेगी! इच्छाएं कभी शान्त नहीं होतीं। जैसे अग्नि, घी डालने से बढ़ती ही है. वैसे ही एक इच्छा के पूर्ण होने के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, अतः इच्छाओं को रोकना चाहिए। इन्हे रोकना ही परम तप है—'इच्छा-निरोधस्तपः।'—

(६) **दान**—उपकार के लिए अपनी वस्तु—जिसके द्वारा जीवों की प्रवृत्ति धर्म में होती हो, आत्म-हित की दृष्टि से उन्हें शान्ति मिलती हो—या उनका भौतिक दु.खों से निस्तार होता हो—पर-हेतु देना **'दान'** कहलाता है। दान में दाता और पात्र दोनों का हित-निहित है। दान लोकोपयोगी और धर्म को बढ़ाने वाला हो, ऐसा ध्यान रहना आवश्यक है।

—स्टेट बैंक आफ इंडिया, श्रीगंगानगर

शंका शल्य

□ श्री रत्नत्रयधारी जैन

ज्ञान के भेद अनन्त हैं। सामान्य दृष्टि से समझा जा सके अतः श्रमण महावीर ने ज्ञान के मुख्य पांच भेद कहे है। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मनः पर्यय और पंचम केवल ज्ञान (सम्पूर्ण स्वरूप) है।

वस्तु के स्वरूप को जानने का नाम ज्ञान है। वस्तुएं अनन्त हैं। अनन्त वस्तुएं अनन्त अंगो की अपेक्षा से है। मुख्य वस्तुत्व स्वरूप से जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव हैं।

काल भेद से इस समय मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान है। शेष तीन ज्ञानों का अभाव है। फिर भी जब श्रद्धा भाव से नव-तत्व ज्ञान के विचारों का मन्थन किया जाता है तो हमें आत्म-प्रकाश, आनन्द, समर्थज्ञान की स्फुरण का नवनीत प्राप्त होता है। पुनः पुनः मनन करने से चंचलमन सद्धर्म मे स्थिर हो जाता है।

ज्ञान क्या है। जो आत्मा है वह जानता है जो जानता है वह आत्मा है। ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञान आत्मा में अवस्थित है। आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा (जीव) कभी भी अनात्मा (अजीव) नही बनता है। और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता है। स्वाध्याय तप है। इससे सत्यासत्य का विवेक प्राप्त होता है दोषमुक्ति व कर्ममुक्ति के लिये एकाग्रता होती है जो व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है। मन का केन्द्रीकरण स्वभावोन्मुख है।

ज्ञान की क्या आवश्यकता है। आत्मा की सकर्म-स्थिति से अनादिकाल से इस लोक में चतुर्गति में भ्रमण है। इस पर्यटन का कारण अनंत दुखद ज्ञानावरणीयादि कर्म हैं। आत्मा स्वरूप को पा नहीं रही है। विषयादिक मोह बंधन को स्वरूप मान रही है। इस संसार में निमेष मात्र भी सुख नहीं है। क्या हम निरन्तर इसका अनुभव नहीं करते हैं। असह्य दुखों को अनंत वार सहन किया है। स्वयं अनुभव करते है तथा असहाय रूप होकर दूसरी आत्माओ को इस दुखद स्थिति मे, दुखद तथा रौद्र रूप से अनंत वार सहन करते हुये, अवलोकन करते हैं। दुख अज्ञान से पैदा होता है और अज्ञानादिक कर्म के सहन करने से उसका अन्त नही दिखाई देता है। इसको दूर करने के लिये ज्ञान की परिपूर्ण आवश्यकता है।

अगर ज्ञान की आवश्यकता है तो उसे प्राप्त करने के साधनों के विषय पर विचार करना पड़ेगा। सभी मनुष्य या अधिकतर लोग आत्मज्ञान को प्राप्त नही कर पाते है। आत्मज्ञान पूर्ण ज्ञानी (केवली) के वचनामृत की श्रुति तथा श्रद्धा से ही हो सकता है। श्रुति के बिना संस्कार नहीं। यदि सस्कार नहीं होवे तो श्रद्धा कहां से हो? जिज्ञासु भव्य होना परम आवश्यक है।

धर्म ध्यान से परिणामों की विशुद्धि होगी। शुद्ध परिणामों से भवांत हो जायेगा। धर्मध्यान के चार लक्षण हैं। आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और उपदेशरुचि है। धर्मध्यान के चार आलंबन है। वाचना, प्रच्छना, परावर्त्तना और धर्मकथा।

इस लेख का विषय पृच्छना है। शंका शल्य के निवारण के लिए—गुरु अथवा अपने से अधिक ज्ञानी से प्रश्न पूछने को पृच्छनालम्बन कहते है।

संत-समागम में भी यह मार्ग शंका समाधान का निहित है।

इन्द्रभूति ब्राह्मण (गौतम गणधर) की शंका का निवारण सन्मति भगवान के दर्शन मात्र से हो गया था। दिव्य-ध्वनि का खिरना तथा गणधर का प्रश्नकर्ता को उपदेश देना और उससे जिज्ञासु की शका का समाधान हो जाता था। आचार्यों की सभा में प्रश्न उत्तर की परम्परा थी।

(शेष पृष्ठ ४० पर)

जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य

☐ कु० राका जैन

ग्रन्थ परिचय—गद्य-पद्य से भिन्न किन्तु दोनो से समन्वित काव्य चम्पू काव्य कहलाता है। जीवन्धर-चम्पू काव्य-प्रणेता महाकवि हरिचन्द्र ने स्वयं चम्पूकाव्य-वरीयता को उद्घाटित किया—

गद्यावली पद्यपरम्परा च,
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षं प्रकर्षं तनुते मिलित्वा,
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।९

अर्थात् गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनों पृथक्-पृथक् भी आनन्द उत्पन्न करती है फिर जहाँ दोनों मिल जाती हैं वहाँ की तो बात ही निराली है, वहाँ वे दोनो शैशव और तारुण्य के बीच विचरने वाली कान्ता के समान अत्यानन्द देती है।

महाकवि हरिचन्द्र के समान ही विविध चम्पू-काव्य सृजेताओं ने चम्पू के गद्य-पद्य-मिश्रण को वाद्य समन्वित सगीत माध्वीक और मृद्वीक अथवा सुधा और माध्वीक के सम्यक् योग से प्राप्त आनन्द एव इसके सौन्दर्य को पद्म-रागमणि संयुत मुक्तामाला अथवा कोमल-किसलय कलित तुलसीसृक् सदृश मनोरम माना है।

इस प्रकार चमत्कार प्रधान, गद्य-पद्य-गुम्फित एव मानव-मानस-मञ्जुलचम्पूकाव्य महावीरस्वामी के समकालीन क्षत्रचूडामणि जीवन्धरस्वामी का जिसमे जीवन-चरित निरूपित है—'जीवन्धर चम्पू' नाम से विश्वविख्यात हुआ। सम्पूर्णकथा अलौकिक घटनाओं से भरी है रञ्जकता को देखते हुए आलोचकों की मन्त्रणा रही है कि काश! इसका चित्रपट बन जाता तो अनायास ही यह आदर्श लोगों के मध्य उपस्थित हो जाता। विषय-वस्तु ११ लम्भों में व्यवहृत है जिसकी रोचकता अकथनीय है।

जीवन्धरचम्पू में आकिञ्चन्य—यद्यपि जीवन्धर चम्पू शृंगार-प्रधान काव्य है तथापि उसमें यत्र-तत्र अकिंचन का भाव परिलक्षित होता है। अकिंचन का अर्थ है—किञ्चित् मात्र भी न रहना अथवा मोह जनित विचारों को त्यागना अर्थात्-अपरिग्रहवाद। अपरिग्रह (आकिंचन्य) रूपी साधन का सहारा लेकर जैन साधक साध्य (मुक्ति-पद) को पा सके। अत: जैन धर्म के उत्कृष्ट लक्ष्य की उपलब्धि हेतु अकिंचन का आश्रय लेना परमावश्यक है। जीवन्धर स्वामी जिनका सम्पूर्ण जीवन राजवैभव एवं कामिनी वैभव के मध्य व्यतीत हुआ उन्होंने भी अन्ततोगत्वा आकिंचन्य धर्म का सहारा लेकर निर्वाण पद को पाया। जीवन्धर स्वामी के सदृश ही जीवन्धर चम्पू मे चित्रित चरित्रों के मध्य भी अकिंचन-तत्व दर्शित होता है। ग्रन्थ के प्रथम लम्भ मे ही राजा सत्यन्धर अकिंचन-धारक के रूप में उपस्थित होते है। जीवन्धर चम्पू में व्यवहृत आकिञ्चन्य-निरूपण निम्न पात्रों के माध्यम से पाठको के मध्य उपस्थित हो सकता है—

नृपराज सत्यन्धर का आकिञ्चन्य—जीवन्धर-जनक सत्यंधर नृपराज सुखपूर्वक जीवन-यापन करने के लिए राज्यभार को मन्त्री काष्ठाङ्गार पर सौंप देते हैं और राज्य की तरफ से चिन्तारहित होकर विजयारानी के साथ जीवन घड़ी को चलाते है कि यकायक वही काष्ठाङ्गार अधिपति बनने की इच्छा से राजा के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर देता है। प्रतिकार रूप में नृप रानी विजया के मना करने पर भी एकाकी ही रणभूमि में पहुंच जाते है। स्व-बाहुबल से अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को मौत के घाट उतार देते है। दोनों ओर से घोर युद्ध होता है कि यकायक नृपराज के मनोभाव होते है कि—"जिस राज्य के लिए हम युद्ध कर रहे हैं, न जाने कितने ही जीवों की मेरे द्वारा हिंसा हो रही है, न जाने कितने घृणित कार्य मेरे द्वारा हो रहे हैं, क्या यह मेरे साथ

जायेगा ? राज्य ही क्या, कोई भी मेरा नहीं, मुझे इसमे रंचमात्र भी ममत्व नहीं।"

इस प्रकार मानव में अकिंचनपूर्ण भावों के आगमन के साथ ही उन्होंने युद्धस्थल में ही मुनि दीक्षा ले ली। एवंविध राजा सत्यंधर हमारे सम्मुख अकिंचन-पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। वस्तुत: प्रधानता है उन मनोभावों की, जो राजसी भोग में लिप्त था वही कुछ क्षण बाद आकिञ्चन्य-धर्मी के रूप में प्रस्थित हुआ।

नायक जीवन्धर स्वामी का आकिञ्चन्य – जीवन्धर चम्पू के अन्तर्गत जीवन्धर स्वामी की आकिंचन्य-प्ररूपणा उल्लेखनीय है क्योंकि राजैश्वर्य के साथ साथ गन्धर्वदत्ता प्रभृत् अष्ट रानियों के सुख के मध्य आकिंचन्य धर्म का अवलम्बन लेकर मुक्ति पदवी को पाना यथार्थत: आश्चर्य का विषय है। उन्होंने जीवन में पद-पद पर अणुव्रत रूप में अकिंचन-धर्म का आश्रय लिया और अन्त में उसी अणु रूप को महाव्रत के रूप में परिवर्तित किया और इस संसार-पाश से मुक्ति पाई।

क्षेमश्री के परिणयोपरान्त क्षेमपुरी से निकल कर, अपने मणिमयी आभूषणों को देने की इच्छा होने पर जीवन्धर स्वामी को एक कृषक दिखलाई दिया उन्होंने उसे पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का सम्यक् उपदेश दिया। जिनमें पंचाणुव्रत के अन्तर्गत परिग्रहपरिमाणाणुव्रत आकिञ्चन-भाव से ओत-प्रोत है। उन्होंने उस किसान से कहा कि जिस प्रकार बैल द्वारा धारण करने योग्य भार उसका बछड़ा धारण नहीं कर सकता उसी प्रकार मुनि द्वारा धारण करने योग्य व्रत को गृहस्थ धारण नहीं कर सकते। गृहस्थ के लिए अणुव्रत ही परमोपयोगी है। — (क्रमश:)

(पृष्ठ ३८ का शेषांश)

वैदिक साहित्य में भी धर्म चर्चा और संत समागम की प्रणाली रही है। पुराणों और उपनिषदों में प्रश्न और उत्तर के रूप मे धर्म चर्चा की गई है। गीता मे नर (अर्जुन) को नारायण (श्रीकृष्ण) द्वारा आत्मोपदेश इसी प्रकार से दिया गया है।

यूनान में सुकरात प्लूटो, अरस्तू दार्शनिको ने इसी मार्ग को अपनाया था। चर्चा करने तथा उत्तर देने वाले के अपने ज्ञान का संवर्धन होता है तथा सुनने वाले को एकाग्रता प्राप्त होती है।

जैन समाज में संध्या व रात्रि की शास्त्र सभाओं का यही प्रयोजन था। निश्छल मन से चर्चा से, सुनाने वाला तथा सुनने वाला दोनों आत्मविभोर हो जाते है। वीतराग के एक सैद्धान्तिक शब्द से ज्ञानावरणीय का बहु क्षयोपशम होता है।

शंका समाधान की चर्चा से कितना बड़ा उपकार हो सकता है उसका ज्वलन्त उदाहरण पं० प्रवर पं० टोडर मल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। पं० जी ने अपने पत्र में कहा कि "तुम्हारे चिदानन्द घन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए। सो भाई जी ऐसे प्रश्न तुम सारिखे ही लिखें अवार वर्तमान काल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करै हैं, सो ही कहा है—

तत्प्रति प्रीत चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित स: भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्॥

पद्मनन्दि पंच विंशतिका (एकत्वशीति: २३)

अर्थ—जिहि जीव प्रसन्नचित करि इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात ही सुनी है, सो निश्चय कर भव्य है। अल्पकाल विषै 'मोक्ष का पात्र है।'

सो भाई जी तुम प्रश्न लिखे तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार कुछ लिखिए है सो जानना और अध्यात्म आगम की चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र शीघ्र दिवो करो, मिलाप कभी होगा तब होगा। अर निरन्तर स्वरूपानुभव मे रहना श्रीरस्तु:" (पूरी चिट्ठी आगामी अंक मे)

इस पत्र तथा अन्य पत्रों और समाधानों का इतना प्रभाव हुआ कि जो विस्मयमयी है। मुलतान समाज के जैन बन्धु ओसवाल थे तथा श्वेताम्बर (स्थानकवासी) आम्नाय के मानने वाले थे। परन्तु बाद में दिगम्बर आम्नाय में आकर निर्ग्रंथ धर्म को पालना प्रारम्भ कर दिया। ओसवाल बन्धु सारे भारतवर्ष मे श्वेताम्बर (स्थानक के वासी व मन्दिर मार्गी) हैं, परन्तु मुलतान के ओसवाल बन्धु इसके अपवाद हैं।

८, अल्का, जनपथ, नई दिल्ली

साहित्य-समीक्षा

१. **श्री समयसार कलश (टीका)**—अनुवादक : श्री महेन्द्रसेन जैनी। प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२। प्रथमावृत्ति, १९८१, छपाई आदि उत्तम : पृ० सं० २७६ मूल्य ७ रु०। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र जी की आध्यात्मिक कृति समयसार कलश पर पं० श्री राजमल जी की ढूंढारी भाषा का हिन्दी रूपान्तर है। इसमे विषय को सरल रूप में ग्राह्य बनाया गया है, साधारण से साधारण रसिक भी अल्प प्रयास से वस्तु तत्व के अन्तस्तल का स्पर्श कर सकता है। प्रारंभ में श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ते वाले) द्वारा लिखी २८ पृष्ठों की मौलिक प्रस्तावना है। ग्रन्थ आध्यात्मिक-रसिकों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा और यदि उपयोग लगावें तो इसके सहारे वे समयसार—आत्मा के शुद्ध रूप तक पहुंच सकेंगे ऐसा हमे विश्वास है। ग्रन्थ सग्रहणीय है।

२. **अन्तर्बोध**—लेखक : डा० नरेन्द्रकुमार सेठी : प्रकाशक : हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर, पृ० सं० ७६। मूल्य ३ रुपया।

पुस्तक में लेखक ने सोलह निबन्धो के माध्यम से मन-स्थितियो पर प्रकाश डालने का उत्तम प्रयास किया है। पुस्तक पढ़ने से मन की स्थितियों के साथ लेखक की आध्यात्मिक रुचि का भी सहज बोध होता है—पुस्तक के प्रारम्भ मे मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वचन मे सभी निहित है—कुछ लिखना शेष नही रहता। पुस्तक उपयोगी है। साधुवाद।

३. **जय गुंजार**—(स्वाध्याय प्रेमी स्मृति अंक) स्थानकवासी साधु श्री चादमल जी म० सा० की बारहवी पुण्य स्मृति के अवसर पर प्रकाशित, 'जय गुंजार' वर्ष ४ का ८९ अंक १६६+३०=१९६ पृष्ठो में सजाया गया उत्तम अंक है। जो सपादक डा० पी० सी० जैन तथा डा० तेजसिंह गौड की जागरूकता का सहज परिचय देता है। अंक में साधु जी के विविध प्रसगो पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए उन्हे श्रद्धांजलियां भेंट की गई है। मुख्य बात विविध आयामों से स्वाध्याय विषय पर प्रकाश की है, जिससे पाठको को मार्ग दर्शन की सामग्री उपलब्ध होती है। स्वाध्याय संबंधी लेख मननीय है। संकलन के लिए साधुवाद :

४. **मूलचंद किशनदास कापडिया अभिनंदन ग्रंथ**—प्रकाशक : डाह्याभाई कापडिया सूरत। पृष्ठ २३२ मूल्य बीस रुपए।

कापडियाजी के विषय में जो लिखा जाय अल्प होगा। वे जैन समाज के अग्रदूतो में से थे और ऐसे अग्रदूत जो आंधी मेह की परवाह किए बिना पथ पर सदा ही बढ़ते रहे! जैनमित्र और अन्य प्रकाशनो के माध्यम से तो आपने समाज के उत्थान मे योग दिया ही : वे यत्र-तत्र भ्रमण करके भी यथावसर जनता को लाभ देते रहे। धार्मिक और सामाजिक चेतना जाग्रत करने में सेठ माणिकचद जी व पू० ब्र० शीतलप्रसाद जी के कार्य में भी परम सहयोगी रहे।

उक्त प्रकाशन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मात्र है। प्रयत्न सराहनीय है। —सम्पादक

(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

हो गयी। उसके मिलने का महत्व है उसकी महिमा है। छोड़ा तो कंकड़ पत्थर है उसकी क्या महिमा है कि कितना छोड़ा है।

यहाँ पर एक बात ज्यादा गौर करने की है कि किसी व्यक्ति को वास्तव में तो स्व की प्राप्ति अथवा ज्ञाता की उपलब्धि हुई नहीं "परन्तु शास्त्र के शब्दों को पकड़ कर बोलने की कला सीख कर अपने को भ्रम से मान बैठा कि सत्य मिल गया" वह व्यक्ति अपने को ज्ञाता मान लेगा और बाहर में यद्वातद्वा गलत प्रवृति करेगा उसको वास्तव में सत्य उपलब्ध नहीं हुआ। पुस्तक में शब्द रूप सत्य के बारे में पढ़ कर यह समझ लिया है कि सत्य मिल गया वह खतरनाक व्यक्ति सिद्ध होता है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591 62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३ ००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ मे प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। ७-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० १

जनवरी-मार्च १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त
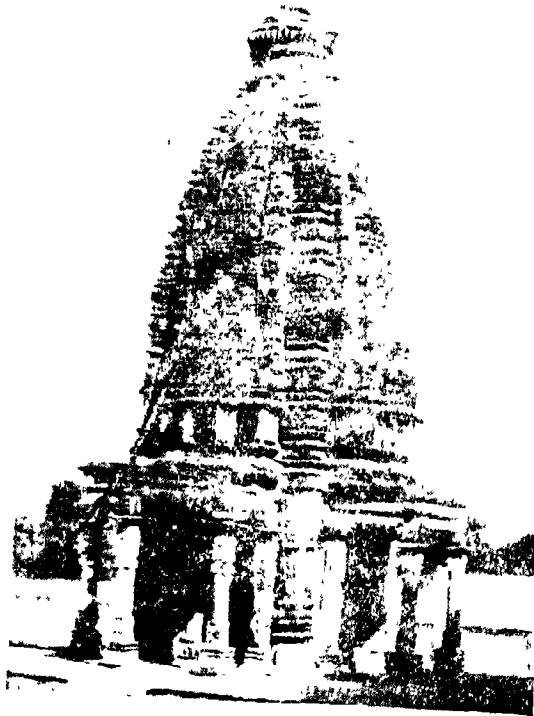
बानपुर का प्रसिद्ध ऐतिहासिक सहस्रकूट जिनालय

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

क्रम	विषय		पृ०

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२

मै रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्
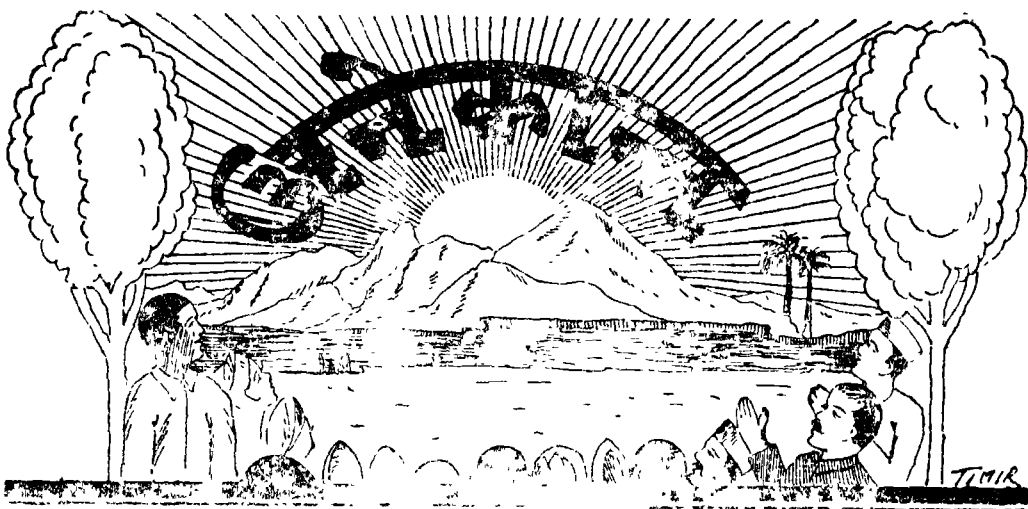
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३५ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०८, वि० स० २०३८ | जनवरी-मार्च १९८२

मन को सीख

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन विषय को धावै है ।
इनही के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है ।।
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है ।। रे मन० ।।
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है ।
रसना इन्द्रीवश भष जल में, कंटक कण्ठ छिदावै है ।। रे मन० ।।
गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में अलि निज प्रान खपावै है ।
नयन-विषयवश दीपशिखा में, अंग पतंग जरावै है ।। रे मन० ।।
करन-विषयवश हिरन अरन में, खल कर प्रान लुभावै है ।
'दौलत' तज इनको, जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है ।। रे मन० ।।

—कविवर दौलतराम जी

भावार्थ—हे मन, तेरी यह बुरी आदत है कि तू इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है । तू इन इन्द्रियों के वश के कारण अनादि से निज स्वरूप को नही पहिचान पा रहा है और पराधीन होकर क्षण-क्षण क्षीण होकर व्याकुल हो रहा है और विपत्ति सह रहा है । स्पर्शन इन्द्रिय के कारण हाथी गढ़े में गिर कर, रसना के कारण मछली काँटे में अपना गला छिदा कर, घ्राण के विषय-गंध का लोभी भौंरा कमल में प्राण गँवा कर, चक्षु वश पतंगा दीप-शिखा में जल कर और कर्ण के विषयवश हिरण वन में शिकारी द्वारा अपने प्राण गँवाता है । अतः तू इन विषयों को छोड़ कर जिन-भगवान का भजन कर, तुझे ऐसी गुरु की सीख है ।

धर्मस्थल में भ० बाहुबली

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन 'विद्यावारिधि

प्राय: समस्त प्राचीन भारतीय धर्मो का उदय उत्तर भारत मे हुआ, किन्तु उनके पोषण, विकास एव प्रचार-प्रसार का प्रधान श्रेय दक्षिण भारत को रहा है। वैदिक मत्रों की रचना सरस्वती-यमुना-गगा तटवर्ती ऋषियो ने की तो वेदो के प्रमुख भाष्यकार सायणाचार्य मेघातिथि आदि दक्षिण मे हुए। वेदान्त के सर्वोपरि प्रस्तोता तथा ब्राह्मण धर्मदर्शन मे नवप्राण सचार करने वाले शकराचार्य और उनके सुयोग्य शिष्य मडन-मिश्र ही नही प्राय अन्य समस्त प्रमुख वेदाचार्य तथा वैष्णवाचार्य दक्षिण भारतीय थे। नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर प्रभृति उद्भट बौद्धाचार्य भी दक्षिण मे ही हुए, और प्राय समस्त दिग्गज जैनाचार्य भी, विशेषकर दिगम्बर परम्परा के, दक्षिणी ही थे। इस प्रकार भारतीय सस्कृति, साहित्य एव कला के भारतीय धर्मो एव दर्शनो के संरक्षण, पोषण एव विकास मे दक्षिण भारत का योग-दान उत्तर भारत की अपेक्षा कुछ अधिक ही रहा है, इस कथन में कदाचित कोई अत्युक्ति नही है।

जैनधर्म का प्रसार दक्षिण भारत मे स्वय आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव के समय से ही रहता आया है, यह पुराण प्रसिद्ध तथ्य है। ऐतिहासिक काल मे तो प्राय प्रारम्भ से ही उस भूभाग मे जैनधर्म के अस्तित्व के लक्ष्य उपलब्ध है। पार्श्व, महावीर युगीन करकडु, जीवधर आदि परमधार्मिक जैन नरेश दक्षिणात्य थे। चौथी शती ईसापूर्व के मध्य के लगभग अतिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु द्वादशवर्षीय महादुष्काल का पूर्वाभास पाकर जब अपने १२००० निर्ग्रन्थ मुनि-शिष्यों सहित उत्तर भारत से विहार करके कर्णाटक देशस्थ कटवप्र पर्वत पर पधारे थे, जो उस समय भी एक पवित्र जैनतीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध था, तो यह तभी सभव था जबकि इन प्रदेशो मे जिनधर्म पहले से ही विद्यमान था और उसके अनुयायियो का यहाँ पर्याप्त सख्या मे निवास था। चौबीस तीर्थकरो मे से अधिकाश की, और विशेष रूप से ऋषभदेव, अजितनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की विभिन्न कालो की अनगिनत खडित-अखडित मूर्तियो की यत्र-तत्र विद्यमानता दक्षिण भारत मे उक्त तीर्थकरो की उपासना चिरकाल से चले आने की द्योतक है। किसी भी तीर्थकर के गर्भ-जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाण कल्याणको मे से एक भी दक्षिण भारत के किसी स्थान मे नही हुआ, अत वहाँ कोई भी कल्याणक क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र नही है, तथापि जैन श्रमणो की तपोभूमियाँ, साधना स्थल, समाधिमरण-स्मारक, गुहामदिर, कलापूर्ण शिलालेख, जिनमदिर-नगर, मानस्तम्भ, अतिशय क्षेत्र, कलाधाम और सास्कृतिक केन्द्र कर्णाटक राज्य मे तो पग-पग पर प्राप्त होते ही है आन्ध्र, महाराष्ट्र, तमिल, केरल आदि राज्यो मे भी अनेक है।

कदम्ब, गग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, होयसल, विजयनगर, मैसूर आदि प्राचीन एव मध्यकालीन राज्यो का हृदयस्थल सुरम्य कर्णाटक देश अपने सास्कृतिक वैभव के कारण महादेश भारत के अतीत तथा वर्तमान मे भी गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इसी कर्णाटक राज मे श्री धर्मस्थल जैसा अद्भुत धार्मिक केन्द्र है, जिसके प्रधान आराध्यदेव तो मजुनाथेश्वर महादेव (शिव) है, किन्तु उनके पुरोहित-पुजारी वैष्णव ब्राह्मण होते है, और सर्वोपरि व्यवस्थापक एव प्रबन्धक 'धर्माधिकारी' उपाधिधारी हेग्गडे है जो जैनधर्मावलम्बी है।

मूलत. इस स्थान का नाम 'कुडुमा' था। लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व श्री बर्मण्ण हेग्गडे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती अम्मू बल्लालती सहित इस स्थान पर आकर रहने लगे। पति-पत्नी दोनो ही धार्मिक मनोवृत्ति के दानशील जैन सद्गृहस्थ थे। अपने आवास के निकट ही उन्होंने अपने इष्टदेव तीर्थकर चन्द्रनाथ स्वामी का छोटा-सा सुन्दर जिनालय बना दिया। शैवाचार्य अण्णप्पा स्वामी की प्रेरणा

एव प्रयास से स्थान के मुख्य आराध्य के रूप मे मजुनाथ शिव की स्थापना हुई, तथा शनै शनै अन्य देवी-देवताओ के आयतन स्थापित हुए, और १६वीं शती मे उडुपि के सोदेमठाधीश्वर वादिराज स्वामी ने इस क्षेत्र का नामकरण 'धर्मस्थल' कर दिया। श्री बर्मण्ण हेग्गडे के वशज सन्ततिक्रम से इस पुण्यक्षेत्र के धर्माधिकारी होते रहे, जिनकी ... इक्कीसवी पीढी चल रही है।

प्राय सभी जातियो, धर्मो एव सम्प्रदायो के भक्तजन बडी संख्या मे इस क्षेत्र की यात्रा करते है जिसके कारण उसकी आय भी प्रभूत है। राज्य का सरक्षण एव प्रश्रय भी सदैव प्राप्त रहा। हेग्गडे धर्माधिकारियो ने इस क्षेत्र के साथ स्वय को आत्मसात किए रखा है, और उसकी समस्त व्यवस्था, विविध धर्मोत्सवो के आयोजन तथा सार्वजनिक हित एव जनकल्याणकारी अनेक प्रवृत्तियो को कार्यान्वित किया है। उनकी समर्पित एकनिष्ठ साधना एव लगन के फलस्वरूप स्वय उनका तो गौरवपूर्ण एव प्रतिष्ठित स्थान बना ही, क्षेत्र की भी सर्वतोमुखी उन्नति होती आई है। 'वसन्त महल' नामक अतिभव्य सभागार की अनेक उत्तम कलाकृतियाँ स्व० गजमलय हेग्गडे द्वारा निमित एवं निर्मापित है। वर्तमान शती के प्रारम्भिक दशको मे राजा चन्दैया हेग्गडे सन्तानक्रम मे १८वे या १६वे धर्माधिकारी थे। वह बडे प्रतिष्ठित एव राज्यमान सज्जन थे उनके उत्तराधिकारी श्री रत्नवर्म हेग्गडे को धर्मस्थल के नवनिर्माण का प्रमुख श्रेय है। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती रत्नाम्मा जी की प्रेरणा से उन्होने धर्मस्थल मे भगवान बाहुबली के विशाल विग्रह की स्थापना का सकल्प किया और उसके कार्यान्वयन मे वह मनोयोग से जुट गए। सन् १९६७ ई० मे कार्कल के शिल्पी श्रेष्ठ रेंजाल गोपाल शेणै की देखरेख मे लगभग एक सौ कारीगरो ने ३९ फुट उत्तुग प्रस्तर प्रतिमा का निर्माणारम्भ किया जो १९७३ में पूर्ण हुआ। तदनन्तर उसे कार्कल से धर्मस्थल स्थानांतरित किया गया जो एक अति दुस्तर एव व्ययसाध्य कार्य था। दुर्योग से रत्नवर्म जी हेग्गडे का स्वर्गवास हो गया, किन्तु उनके सुयोग्य पुत्र एव उत्तराधिकारी, धर्मस्थल के वर्तमान धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेग्गडे ने पिता के अधूरे छोड़े कार्य को भरपूर लगन के साथ पूरा किया। गत ४ फरवरी १९८२ को विशाल पैमाने पर धर्मस्थल के उक्त भ० बाहुबली का प्रतिष्ठापना एव प्रथम महामस्तकाभिषेक महोत्सव सम्पन्न हुआ है।

वर्तमान कर्मभूमि के आदियुगीन महामानव भ० बाहुबली के विशालकाय उत्तुग विग्रह प्रतिष्ठापित करने की जिस परम्परा का एक सहस्र वर्ष पूर्व मत्रीश्वर चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल मे ॐ नम. किया था, उसकी सहस्राब्दि का समुपयुक्त समापन धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेग्गडे ने इस उत्तुग प्रतिमा की धर्मस्थल के बाहुबली विहार मे प्रतिष्ठापना द्वारा किया है, जिसके लिए वह साधुवाद के पात्र है। भ० बाहुबली की विशालकाय मूर्तियो मे धर्मस्थल की इस प्रतिमा का छठा स्थान है, किन्तु आकार की दृष्टि मे तीसरा है—केवल श्रवणबेलगोल (५७) फुट और कार्कल (४२) फुट की मूर्तियाँ ही धर्मस्थल की इस मूर्ति से अधिक विशाल हे, शेष समस्त दक्षिण एव उत्तर भारतीय बाहुबली मूर्तियाँ आकार मे उससे छोटी है।

एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के आशीर्वाद एव सानिध्य, श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी की अध्यक्षता और साहू श्रेयास प्रसाद जी तथा सेठ लालचन्द्र हीराचद दोषी आदि के सक्रिय सहयोग से धर्मस्थल के इस महोत्सव ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। ——ज्योति निकुज, चार बाग, लखनऊ

अभिनन्दन

दिनांक ६ फरवरी १९८२ को लखनऊ में इतिहास मनीषी डा० ज्योतिप्रसाद जैन विद्यावारिधि की सप्तति-पूर्ति के उपलक्ष्य में अनेक मान्य विद्वान् तथा इष्टमित्रों ने डा० सा० का अभिनन्दन किया तथा डा० सा० के कार्यों को सराहा। उपयोगी विचारगोष्ठी हुई तथा 'ज्योतिनिकुंज' में 'पुरातत्त्व के माध्यम से इतिहास शिक्षा' प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। डा० सा० की धर्म और समाज के प्रति अनगिनत सेवाएँ हैं। 'अनेकान्त पत्रिका' के माध्यम से भी डा० सा० समाज को काफी देते रहते है। इस पुनीत अभिनन्दन के लिए वीर सेवा मन्दिर की ओर से डा० सा० के शत-शत अभिनंदन !

ब्रह्म जिनदास सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य

☐ श्री अगरचन्द नाहटा

दिगम्बर, संप्रदाय के मरुगुर्जर और हिन्दी भाषा के जैन कवियो मे १६वी शताब्दी के ब्रह्मजिनदास रास-शिरोमणि एव महाकवि माने जाते है। उनके सम्बन्ध मे डा० प्रेमचन्द रावका ने डॉ नरेन्द्र भानावत के निर्देशन मे शोध प्रबन्ध लिखा है जो अभी-अभी श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर से डा० कस्तूरचद जी कासलीवाल के प्रयत्न से प्रकाशित हुआ है। डा० प्रेमचन्द रावका ने अपनी ओर से काफी श्रम करके इस शोध प्रबन्ध को तैयार किया है। एव श्री महावीर अकादमी ने जो २० भागों मे १६वी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक के कवियों सम्बन्धी जानकारी उनके रचनाओं के प्रकाशन की योजना बनायी है, उसके अन्तर्गत 'महाकवि ब्रह्म जिनदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के नाम से डा० प्रेमचन्द रावका का प्रस्तुत शोध प्रबन्ध प्रकाशित किया है। उसमे २८० पृष्ठ तो उनके शोध प्रबन्ध के है। उसके बाद पृष्ठ २८१ से ४१० (१३० पृष्ठों में) ब्रह्म जिनदास की कई रचनाएँ मूलरूप मे तथा कई आंशिक रूप में प्रकाशित की गई है। आधारभूत ग्रन्थो की सूची मे ११४ ग्रन्थों एव पत्रिकाओ की नामावलि दी गई है। उसके बाद नामानुक्रमणिका एव शुद्धिपत्र है। प्रारम्भ में प्राथमिक वक्तृव्य, डा० नरेन्द्र भानावत का प्राक्कथन और डा० रावका की प्रस्तावना और विषयानुक्रम है। प्रस्तुत ग्रन्थ की १ प्रति मुझे सम्मत्यर्थ डा० कासलीवाल ने भिजवायी है। अत. सक्षिप्त मे अपने विचार, सुझाव एव संशोधन इस लेख में प्रकाशित कर रहा हू। आशा है इससे कुछ नयी जानकारी भी प्रकाश मे आयगी।

'ब्रह्म जिनदास' का जन्म सकलकीर्ति रास के अनुसार पाटण मे हुआ था। क्योंकि भट्टारक सकलकीर्त्ति के ये छोटे भाई और गुरु थे। सकलकीर्त्ति भी अच्छे साहित्यकार हुए है उन्ही की तरह ब्रह्म जिनदास ने, संस्कृत और लोक-भाषा मे बहुत-सी रचनाए की है। राजस्थान और गुजरात के मिलेजुले बागड प्रदेश मे उनका विचरण हुआ है। अत ५० जी राजस्थानी-गुजराती दोनो भाषाओ के कवि माने जा सकते है। पर मेरी राय में ये हिन्दी के कवि नही है, क्योकि हिन्दी भाषा से राजस्थानी एव गुजराती अलग व स्वतत्र भाषाए है। ब्रह्म जिनदास को महाकवि कहा गया है, क्योकि इनकी ३ रचनाए—(१) आदिनाथ रास (२) रामरास (३) हरिवंश पुराण रास, इन तीनो का ग्रन्थ परिमाण काफी बडा है पर ये तीनो रचनाएँ महाकाव्य की कोटि मे नही आती। ये कथा या चरित्र-काव्य है पर काव्य शास्त्र मे जो महाकाव्य के लक्षण बतलाये है, वैसी इन तीनों रचनाओं का विषय बहुत व्यापक एव बडा है। मूल पुराण या चरित्र ग्रन्थ जिनके आधार से इनकी रचना हुयी है, वे बड़े परिमाण वाले है इसी से इनका परिमाण बढ जाना स्वाभाविक ही है।

ब्रह्म जिनदास को 'रास शिरोमणि इसलिए कहा गया है कि इन्होने रास सज्ञक रचनाए अधिक सख्या मे रची है। पर वास्तव मे ये कथा ग्रन्थ ही है। ७० रचनाओं मे से ४० रचनाएँ ही 'रास' सज्ञक हैं और ७० रचनाओ मे से ३३ रचनाएँ तो बहुत छोटी-छोटी है जिनका परिमाण १०० पद्यों मे भी नीचे का है। कुछ रचनाएँ तो ५-७-१५-२० गाथाओ की ही है। ऐसी रचनाओ का तो केवल सख्या को बढाने की दृष्टि से ही भले ही महत्व हो, पर काव्य की दृष्टि से खास महत्व नही है। समग्र ग्रन्थ परिमाण भी ३० हजार ग्रन्थाग्रन्थ ८३२ अक्षरी अनुपम क्षेत्र का है जो इतनी लम्बी आयु को देखते हुए अधिक नही कहा जा सकता।

ब्रह्म जिनदास और उनके गुरु भट्टारक सकल[1] कीर्त्ति

---

१. सकलकीर्ति एव उपलकीर्ति का भी यथा ज्ञातविवरण देना चाहिये था। सकलकीर्ति का जब जन्म सं० १४४३ दिया हुआ है तो सं० १४३७ या २३ मान्य नही हो सकता।

और भुवनकीर्त्ति विशेष रूप से जहाँ रहे और उनकी भट्टारक गद्दी जिस स्थान पर थी, उसका पता लगाना बहुत ही जरूरी था। क्योकि वहीं उनकी रचनाओं की प्राचीनतम प्रतियाँ व सर्वाधिक रचनाएँ मिलनी सभव है। पर वहाँ पर अभी तक खोजही नही की गई, अन्यथा बहुत-सी और महत्व की रचनाएँ और ब्रह्म जिनदास के जीवन सम्बन्धी विशेष जानकारी मिलनी सभव थी। ब्रह्म जिनदास की छोटी रचनाएँ तो और भी बहुत-सी मिलनी चाहिये क्योकि कवि ने लम्बी आयु पायी। और उनका मुख्य काम साहित्य-निर्माण का ही प्रधान रूप से रहा है। भट्टारको के साथ ब्रह्मचारी रहते और विचरते रहे है, उनकी अलग अलग से कोई जिम्मेवारी प्राय नही रहती। आने-जाने वाले लोगो से मिलना और उपदेश देना, धार्मिक प्रवृत्तियो के लिए प्रेरणा करना ये सभी काम भट्टारक स्वय करते है। तथा उनके साथ रहने वाले ब्रह्मचारियो को साहित्य रचना आदि के लिए काफी समय मिल जाता है। मै जयपुर गया तब मुझे जो ब्रह्म जिन दास की रचनाओ का सग्रह-गुटका दिखलाया गया था, मेरे ख्याल से उस एक गुटके मे ही कवि की छोटी-मोटी ३०-४० रचनाएँ होगी। इस दृष्टि से रावका जी ने यदि अधिक भण्डारो का अवलोकन किया होता तो बहुत-सी और भी रचनाए मिलनी सभव थी। मुझे ताजुब होता है कि नागौर के भट्टारकीय भण्डार का भी उन्होने उपयोग नही किया, जबकि वह दिगम्बर शास्त्र भण्डारो मे सबसे बडा है और नागोर कोई दूर भी नही है। इसी तरह ब्यावर के सरस्वती भवन के ग्रन्थ सग्रह का भी उपयोग किया नही लगता। इसलिए उनकी खोज मे तो अधूरी ही मानता हू, खैर! जो भी, मेरे जितना भी कर सके, अच्छा ही है मैने थोडी-सी खोज की तो मुझे ऐसी रचनाओ की जानकारी मिल गई, जिनका उल्लेख रावका जी ने अपने शोध प्रबन्ध मे नही किया है। साधारणतया 'ब्रह्म जिनदास' की रचनाएँ श्वेताम्बर भण्डारो मे अधिक नही मिलती, विशेषतः बीकानेर जैसलमेर आदि पश्चिमी राजस्थान के श्वेताम्बर भण्डारों में। पर कवि की रचनाओ की भाषा गुजराती प्रधान होने से गुजरात के श्वेताम्बर भण्डारो मे तो मिलती ही हैं। और उन रचनाओ की प्रतियों का उल्लेख स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन गुर्जर कवियो' के भाग १ खण्ड ३ में वर्षों पूर्व किया है। आश्चर्य है डा० प्रेमचन्द रावका ने ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का भी उपयोग नही किया। ब्रह्म जिनदास की ४ रचनाओ का उल्लेख जैन गुर्जर कवियों भाग १ पृष्ठ ५३ मे और ५ ऐसी रचनाओ का उल्लेख जो भाग १ के बाद ज्ञात व प्राप्त हुयी उनका विवरण जैन गुर्जर कवियो भाग ३ के पृष्ठ ४७६ मे किया गया है। पहले भाग में केवल हरिवश रास एव श्रेणिकरास आदिअत छपा था यशोधर रास, आदिनाथ रास का आदिअन्त विवरण भाग ३ में छपा है। तीसरे भाग मे हनुमन्तरास, समकित रास और सामरवासो रास की प्रतियाँ तो डा० रावका को अन्य भण्डारो मे मिल गई, पर करकण्डु रास एव धर्म पच्चीसी की जानकारी उनको नही मिल सकी। अत इन दोनो रचनाओ का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

करकडु रास (पूजा फल पर)

आदि—वीर जिणेसर प्रणमीने, सरसती स्वामिणि देवि,
श्रीसकलकीरति गुरु वादिसु, वली भुवकीरति मुनि देव।१
तह्म परसादे निरमलो, रास करु अति चग।
पूजा फलह वेवरणवु, मनि धरि भाव उनंग ॥२
अत—अचल ठाम देउ निरमलो, मजने स्वामी देव,
हू दास छड तम्ह तणो, जनमि जनमि करु सेव ॥१
श्री सकलकीरति गुरु प्रणमीने, मुनि भुवनकीरती भवतार।
रासकीयो मे रुवडो, ब्रह्म जिनदास कहे सार ॥२
पठइ गुणई जे साभले, मन धरि अविचल भाउ।
मन वाछित फल तेलहे, पामे सिवपुरि ठाउ ॥३
धनद नाम गोवलीयो, एक कमल करि चग।
पूज्या जिणवर मुनिरली, फल पाम्या उत्तग ॥४
ये कथा रस साभलि, भवियण सयल सुजाण।
पूजो जिणवर मनिरली, असट पगारि गुण भान ॥५
एक कमल फलविस्तर्यो, सरग मुगति लगि चग।
अनुदिन जे जिन पूजीसे, तेहने फल उत्तंग ॥६
साचो धरम सुहावणो, थोडो कीजे महन्त।
वड बीज जिमि रुवडो, फल दीसे अनन्त ॥७
इति करकंड महामुनीश्वरनीकथा पूजाफलम ममाप्त।म.भ.

(शेष पृष्ठ ६ पर)

राम का वन गमन : स्वयंभू श्रौर तुलसी

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

राम के वन गमन की भूमिका तब शुरू होती है, जब बुढ़ापे के कारण दशरथ के मन मे राजपाट राम को सौपने का विचार आता है। स्वयभू के पउमचरिउ मे दशरथ को बुढ़ापे की अनुमति उस समय होती है जब प्रतिहार अपने बुढ़ापे का वर्णन करता हुआ, गधोदक समय पर न पहुचाने की अपनी लाचारी का उल्लेख करता है। --

हे देव मेरे दिन चले गए, यौवन ढल चुका है। जरा, पहले की आयु को सफेद करती हुई चली आ रही है, और अमनी की तरह मेरे सिर से आ लगी है। गति नष्ट हो चुकी है। हड्डियो के जोड बिखर गए है कान सुनते नही आंखें देखती नही। सिर कापता है। मुह से वाणी लड़खड़ाती है। दात जा चुके है। देह की कांति फीकी पड गई है। रक्त गल गया है। केवल चमडी बची है, मै ऐसा ही हूं जैसे मेरा दूसरा जन्म हो। अब मेरे पैरो मे पहले जैसा पहाडी नदी का वेग नही है। मै कैसे गधोदक सब दूर पहुंचाता।

"गय दियहा जोव्वणु ल्हसि उ देव,
पढमाउसु जट धवलंति आय।
पुणु अमइ इव सीस वलग्ग जाय ॥
गइ तुट्टिय विहडिय सधिबध।
ण सुणंति कण्ण लोयण विरध ॥
सिरु कंपइ मुहे पक्खलइ वाय।
गय दंत सरीर हो णट्ठ छाय।
परिगलिउ रुहिरु थिउ णवर चम्मु ॥
महु एत्थु जे हुउ ण णवर जम्म।
गिरिणइ-पवाह ण वहति पाय,
गधोवउ पावउ केम राय ॥" २२/२

सुन कर दशरथ को लगता है कि एक दिन ऐसी हालत मेरी भी होगी। मैं राम को राजपाट देकर अपना तप साधूगा। अप्पुणु तउ करमि। राम को राज्य मिलने पर कैकेयी जल उठती है वह सीधे अपनी अलकृत वेषभूषा में दरबार मे जाकर राजा से कहती है—यह वह समय है कि जब आप मेरे बेटे को राज्य का अनुपालक बनाएँ। दशरथ ने राम और लक्ष्मण को बुलाकर कहा—तुम यदि मेरे बेटे हो तो छत्र सिहासन और धरती भरत को दे दो, हालाकि मै जानता हूँ कि भरत भव्य और त्यागी है। 'चरिउ' के अनुसार भरत इस समय अयोध्या मे ही थे। उन्हे यह बताया जाता है कि उन्हे राज्य का प्रमुख बनाया गया है तो वे आपे से बाहर हो उठते है। वह कैकेयी और दशरथ को भला बुरा कहते है। बूढे पिता दशरथ ने उन्हें यह आदेश दिया कि दुनिया के इतिहास मे तीन बाते लिखी जाएँ—भरत को राज्य, राम को वनवास और मुझे प्रव्रज्या। राम भी भरत से यही अनुरोध करते है! आखिर दोनो के आगे भरत को झुकना पडा। राम तब उस राजपट्ट को बाँध कर लक्ष्मण और सीता देवी के साथ वन के लिए कूच कर गए। दशरथ शोक मे मग्न है कि मैने राम को वनवास क्यो दिया ? क्या मैने ऐसा कर प्राकृतिक सत्य का ही पालन किया है। यह प्रकृति अपने प्राकृत सत्य पर टिकी हुई है। क्योकि—'सच्चु महतउ सव्वहो पासिउ।' सबकी तुलना मे सत्य महान् है। राम पैदल माँ कौशल्या के पास जाते है। उन्हे इस तरह आते देख वह हैरान है, हताश वह कारण पूछती है, उत्तर मिलता है—मैने भरत को सारा राज्य समर्पित कर दिया ? वह यह नही बताते—क्यो और कैसे ? जो सौप दिया उसके कारणो को गिनाने मे लाभ भी क्या था ? कौशल्या फूट-फूट कर रोती हुई कहती है—

"हा हा काइं वुनु पइ हल हर,
दस रह वस दीव जग सुंदर।
पइ विणु को चप्रेराइ,
पइ विणु को किंदुएण रमेराइ ॥"

हा राम हा राम (हलधर) तुमने यह क्या किया ? दशरथ कुल दीपक और विश्वसुंदर तुम्हारे बिना कौन हय गज पर बैठेगा, तुम्हारे बिना कौन गेंद से खेलेगा ?

राम माता को समझाते है—

धीरिय होहि माए कि रोवहि,
तुहि लोयण अप्पाणु म सोयहि।

जिह रविकिरणेंहिं ससि ण पहावइ,
तिह मइ होंते भरहु ण भावइ।
तें कज्जे वणवासे बसखउ॥"
"तायहो तणउ सच्चु पालेवउ।
दाहिणदेसे करेविणु थत्ति,
तुम्हहं पासे एइ सोमित्त॥' २३/८

हे मा धीरज धारण करो, क्यों रोती हो? आंखे पोछो, अपने को शोक मे मत डालो। जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सामने चन्द्रमा नही चमकता, उसी तरह मेरे रहते हुए प्रजा को भरत अच्छा नही लगता। इस कारण मै वनवास करना चाहता हू। मै पिता के सत्य का पालन करूँगा, दक्षिण देश मे निवास कर! लक्ष्मण तुम्हारे पास आएगा।

यह कह कर राम समस्त परिजनो से पूछ कर चल दिए। उसके जाते ही सीता देवी राजभवन से निकली। कवि स्वयभू की कल्पनाए है—

"ण हिमवन्तहो गग महाणइ।
ण छदहो णिग्गय गायत्ती॥
ण सद्दहो णीसरिय विहत्ती।
णाइ कित्ति सप्पुरुप-विमुक्की।
णाइ रभ णियथाणहो चुक्की।" २३/६

अपने भवन से जानकी इस तरह निकली, जैसे हिमालय से गगा निकली हो, जैसे छद से गायत्री निकली हो, मानो शब्द से विभक्ति निकली हो, जैसे सज्जन से मुक्त उसकी कीर्ति हो जैसे अप्सरा रभा अपने स्थान से चूक गई हो!

सीता माताओ से पूछ कर राम के साथ हो ली। राम के वन गमन की बात सुन कर लक्ष्मण विद्रोह कर देता है। वह राम से कहता है कि मै अभी भरत को पकडता हूँ और आपको असामान्य राज्य देता हू।" राम उसे समझाते है—ऐसा राज्य करने से क्या लाभ जिसमे पिता के सत्य का नाश होता हो, मै सोलह वर्ष वनवास के लिए जाऊंगा।

दोनो के सवाद के बीच सूर्य डूबता है, और साझ आती है; कवि उसके दृश्य पट पर मानवी अनुभूतियों की भयावहता के चित्र अकित करता है—

णाइ सझ आरत्त पदोसिय।
ण गयघड-सिन्दूर-विहूसिय॥
सूर मस-रुहिरा लि चच्चिय।
णिसियरिव्व आणंदु पणच्चिय॥
गहिय राज पुणु रयणि पराइय।
जगु गिलेइ ण सुत्त महाइय॥ २३/६'

सध्या हो गई वह लाल दिखाई दी मानो सिंदूर से लाल, गजघटा हो, मानो सूर्य के मास और रक्तधारा से अलकृत हो। वह निशाचरी की तरह आनद से नाच उठी, सध्या चली गई, फिर रात्रि आ पहुची जैसे वह सोते हुए विश्व को निगल जाना चाहती है।

राम अयोध्या से चल कर पास के एक जिन-मन्दिर मे ठहरते है। रात्रि मे मिथुन द्वन्द्व देखते हुए- —राम आगे बढते है। दूसरे दिन सबेरे जब लोगो को मालूम होता है कि राम वनवास के लिए चले गए है, तो सैन्य और व पीछे लगते है। तब तक राम गभीर नदी के किनारे पहुच जाते है। सेना को वापस करते हुए वे—सीता देवी को हाथ पर बैठा कर नदी पार कर जाते है।

राम लक्ष्मण और सीता से सूनी अयोध्या नर-नारियो को अच्छी नही लगती। अयोध्या के राज-परिवार मे सबसे अधिक दुखी व्यक्ति है—भरत (पउमचरिउ के अनुसार भरत राम के वन गमन के समय अयोध्या मे ही थे) वनवास की बात सुन कर वह मूर्छित हो जाते है? होश मे आने पर, वह सबसे पहले कौशल्या के पास जाते है, और कहते है कि मा तुम व्यर्थ क्यो रोती हो, मै राम को ढूढ कर लाता हू। भरत अयोध्या से निकलता है कई दिनो तक भटकने के बाद, एक लतागृह मे भरत राम के दर्शन करते है। भरत उनसे लौटने का अनुरोध करता है इसी बीच कैकेयी वहाँ आ जाती है। भरत राम से प्रस्ताव करता है कि तुम वैसे ही अयोध्या का राज करो जैसे इन्द्र सुरलोक मे करता है।

कैकेयी के सामने राम पूरी दृढता से अपना कथन दुहराते है—

ण दिण्णु सच्चु ताए तिबार,
त मइ वि दिण्णु तुम्ह समवार।
एउ वयणु भणेप्पिणु सुह समिद्ध,
सइ हत्थे भरह पट्टु बद्धता॥

पिता ने जो सत्य तुम्हे तीन बार दिया है, वह मैंने सौ बार दिया—यह कह कर राम ने कल्याणमय राजपट्ट भरत के बाँध दिया। (हालांकि इसके पहले वे अयोध्या में यह कर चुके थे। राम वहाँ से चल देते है, भरत और शत्रुघ्न धवल मुनि के पास जाकर यह प्रतिज्ञा करते है कि राम के वनवास से लौटने पर, वे उन्हे राज्य वापस देकर सन्यास ग्रहण कर लेगे। इसके बाद राम की वन यात्रा शुरू होती है!

मानस मे दशरथ को बुढापे की अनुभूति, दर्पण मे कनपटी के ऊपर सफेद बाल दिखने से होती है। उन्हें लगता है कि सफेदी के बहाने बुढ़ापा कह रहा है—

"नृप अब्र राज राम कहुं देहू।
जीवन जनम लाभ किन लेहू ॥ अयो०/२

वसिष्ठ के प्रस्ताव पर पचो की सहमति से जब राम के राज्याभिषेक की घोषणा होती है तो देवताओं मे हडकप मच जाता है, वे सरस्वती के माध्यम से मथरा की बुद्धि भ्रष्ट करते है। उत्सव के प्रसग से उसका हृदय जल उठता है—

राम तिलक सुन उर भा दाहू। अयो०/१२

मथरा भरत की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए, आखिरकार कैकेयी को वर मागने के लिए राजी कर लेती है। कोपभवन मे पहुच दशरथ जब, कैकेयी से क्रोध का कारण पूछते है तो वह कहती है—

१. देहु एक वर भरतहि टीका।
× × ×
२. तापस वेषि विसेष उदासी।
चौदह बरस राम वनवासी॥

यह सुन कर दशरथ मूछित है, राजा के रात भर तडपने की उस पर कोई प्रतिक्रिया नही होती। सुमंत्र किसी तरह रहस्य का पता लगा कर राम को जब वरो के बारे मे बताते है तो वे अपने को बडभागी मानते है कि पिता की आज्ञा मानने का अवसर मिला। जाने पर दशरथ, राम को बार-बार गले लगाते है। सबसे पूछ कर जब राम वन गमन करते है, तो दशरथ और कौशल्या को सीता की चिन्ता सबसे अधिक है। कुल मिला कर अयोध्या में प्रतिक्रिया यह है—

राम चलत अति भयउ विषादू।
सुनि न जाइ पुर आरत नादु॥

सुमंत्र उन्हे छोडने जाता है, राम का अन्तिम पडाव शृंगवेरपुर मे है, वहां उनकी भेंट निषादराज से होती है जो उनका स्वागत करता है। वह सारे कांड के लिए कैकेयी को दोषी मानता है। रात भर राम के गुणों का गान करते हुए सवेरा हो जाता है।

कहत राम गुन भा भिनुसारा।
जागे जगमंगल सुखदारा॥ अयो० ६४

शृंगवेरपुर मे जनता की वापसी के साथ, राम नाव से गगा पार करते है। चित्रकूट मे कोल किरात राम का स्वागत करते है। तुलसी के अनुसार राम वनगमन का वास्तविक प्रारभ चित्रकूट से समझना चाहिए।

कहेउ राम बन गवनु सुहावा।
सुनहु सुमत्र अवध जिमि आवा॥२॥

निषादराज जब अपने ठिकाने आता है तो उसे अकेला देख कर सुमत्र पछाड खाकर धरती पर गिर पड़ता है। निषादराज के समझाने पर सुमंत्र जब अयोध्या लौटता है तो उसे लगता है कि जैसे मा बाप की हत्या करके आ रहा है। ग्लानि की तीव्रता से उसके मुंह का रग उड चुका है। वह व्याकुल दशरथ को वन यात्रा का वृत्तान्त सुनाता है। सुनाते-सुनाते उसका वचन रुक जाता है—

अस कहि सचिव, वचन रहि गयऊ।
हानि ग्लानि सोच बस भयऊ॥ अयो० १५३

यह देख कर राजा के प्राण पखेरू उड़ जाते है।

भरत को ननिहाल से बुलाया जाता है। आशकाओं और अपशकुनो के बीच, भरत अयोध्या मे प्रवेश करते हैं वह जो कुछ सुनते है उसकी प्रतिक्रिया है आक्रोश, घृणा आत्मग्लानि और पश्चात्ताप। कौशल्या उन्हें वनगमन की सारी पृष्ठभूमि बताती है। राजसभा की मत्रणा और परामर्श के बावजूद भरत चित्रकूट जाकर राम से मिलते है। चित्रकूट की सभा के विवरण का विश्लेषण स्वतत्र विषय है। उसका निष्कर्ष यह है—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।
साकत भरत सीस धरि लीन्ही॥

इस प्रकार चरिउ और मानस में यह तथ्य समान है कि सारा बखेडा उस समय खड़ा हुआ जब बुढापे के कारण दशरथ ने राम को युवराज बनाने की घोषणा की। चरिउ में कैकेयी सीधे दरबार मे जाकर वर मागती है जब कि 'मानस' मे मथरा के उकसाने पर वह ऐसा करती है चरिउ मे राम को युवराज बनाए जाने की घोषणा के समय भरत अयोध्या मे थे, जबकि 'मानस' के अनुसार ननिहाल मे। दोनों कवि स्वीकार करते है कि 'प्राकृतिक सत्य' की रक्षा के लिए, राम ने महर्ष वन जाना स्वीकार किया। प्राकृतिक सत्य से यहाँ अभिप्राय वचन सत्य या मर्यादा सत्य से है। "चरिउ' मे दशरथ, राम वन गमन के बाद जैन-दीक्षा ग्रहण करते है जबकि 'मानस' मे सुमत्र के लौटने के बाद दशरथ की मृत्यु हो जाती है। दोनो कवि स्वीकार करते है कि भरत, जहाँ वर मागने के लिए कैकेयी को भला-बुरा कहते है, वही कौशल्या के प्रति सद्भाव व्यक्त करते है। तथा राम को वापस लाने के लिए जाते है। 'चरिउ' मे राम अयोध्या से पैदल जाते है, 'मानस' मे रथ मे बैठ कर, बाद में वे उसका परित्याग करते है। स्वयभू कैकेयी के प्रस्ताव से उत्पन्न विषाद और आक्रोश की छाया एव सध्या की प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर अकित करते है। जबकि तुलसी मानवी भावनाओं के उतार-चढाव मे भरत की आजीवन अनासक्त वृत्ति, त्याग और उदात्तता को लेकर। दोनो कवि एकमत है, भले ही उसके मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक कारण अलग-अलग हो।

शाति निवास, ११४ उषानगर,
इन्दौर-४५२००६

□□

(पृष्ठ ५ का शेषाश)

(२) धर्म पच्चीसी कडी २७

दोहा—भवि-कमल-रवि सिद्ध जिन, धर्म धुरधर धीर।
नमत सनिद ! जगतमहरण नमो त्रिविध गुरुवीर ॥१
चोपाई—मिथ्या विषय मे रत जीव, तातै जग में भवै सदीव,
विविध प्रकार गहै परजाय, श्री जिन धर्मनी नेक सुहाय।२
दोहा—बुध कुमुद शशि सुखकरण, भव दुख सागर जान।
कहै ब्रह्म जिनदास यह, ग्रन्थ धर्म की खान।
धाग ! तजै वाचै सुनै, मन मे करै उछाह,
ते पावे सुख सासते, मनवाछित फल लाहि।

छपनितकृत तत्वसार भाषा साथेनी प्रत (पक्ष) पक्ति ११ न० ३५-३ आत्मानन्द सभा, भावनगर।

(जैन गुर्जर कवियो भाग ३ के पृष्ठ ४७६)

ब्रह्म जिनदास के २ रास अब से ५३ वर्ष पहले छप भी चुके हैं। पर उनकी जानकारी डा० रावका को नही मिली लगती। मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत ने दिगम्बर जैन गुजराती साहित्योद्धारक फण्ड के ग्रन्थ न २-३ में ब्रह्म जिनदास रचित (१) श्रीपाल महामुनिरास और (२) कर्म विपाक रास, वीर सवत २४५३ मे गुजराती लिपि मे ५०० प्रतिया प्रकाशित की गई ओर लागत मूल्य १ रुपये चार आना रखा गया था—ब्रह्म जिनदास का जन्म सवत आदि कुछ भी विवरण नही मिलता। उनके बडे भ्राता और गुरु सकलकीर्ति ने सवत १४८१ मे मूलाचार प्रदीप की रचना भाई के अनुग्रह से की। केवल इसी आधार से डा० रावका ने ब्रह्म जिनदास का जन्म सवत १४५० के लगभग का माना है। पर मेरी राय में १४६० के करीब होना चाहिये। ब्रह्म जिनदास की दो ही रचनाओं मे सवत मिलता है। स० १५०८ और १५२०। उसे देखते हुए रावका ने हरिवश पुराण के रचना के समय उनकी आयु ७० वर्ष की मानी है, पर मेरी राय मे उस समय ६० वर्ष मे अधिक की आयु नही होनी चाहिये। रावका जी ने ब्रह्म जिनदास की प्राकृत सस्कृत रचनाओ के केवल नाम ही दे दिये हैं, यह मैं शोध प्रबन्ध की बडी कमी मानता हूं। उन रचनाओ का विवरण भी देना चाहिए था तभी कवि का व्यक्तित्व एव कृतित्व का लिखा जाना पूरा माना जायगा। कृतित्व में उनका समावेश है ही।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर

जैन भूगोल : कुछ विशेषतायें

□ डॉ० रमेशचन्द जैन

जैनो के अनुसार विश्व नित्य है, इसका कोई उत्पत्ति आदि और अन्त नही है। यह विश्व दो भागो मे विभाजित है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में सभी द्रव्य है। आलोकाकाश मे केवल आकाश है। जैनो ने गति और स्थिति के नियामक धर्म और अधर्म दो द्रव्य अलग से माने है। जिन्हे अन्य किसी दर्शन ने नही माना है। आलोकाकाश पूरी तरह किसी वस्तु के द्वारा अप्रवेश्य है, चाहे वस्तु आत्मा हो या पुद्‌गल (Matter)। पृथ्वी मण्डल मध्य के अधोभाग मे है। नीचे नरक है। ऊपर स्वर्ग है। सारा ससार घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय नामक वायु की मोती पर्त के सहारे स्थित है। जैन विचारकों ने विश्व के विस्तार का माप भी दिया है। यह श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार २३९ राजू घनाकार तथा दिगम्बरों के अनुसार ३४७ राजू घनाकार है। पृथ्वी अतिगोल (गेंदाकार) है। सूर्यप्रज्ञप्ति में कहा गया है कि जब दिन का समय १८ मुहूर्त होता है तो पृथ्वी के प्रकाशित होने का क्षेत्र ७२ हजार योजन होता है। जब दिन का समय १२ मुहूर्त होता है तो प्रकाशित पृथ्वी का क्षेत्र ४८ हजार योजन होता है। अनेक जैन कृतियो मे इस तथ्य का निर्देश किया गया है कि हमारी दुनिया मे दो चन्द्रमा तथा दो सूर्य है। सूर्य-प्रज्ञप्ति में ग्रहण के दो सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस कृति का लेखक चन्द्रमा और सूर्य की परछाई दिखलाई पडने के सही सिद्धान्त से परिचित था और मनुष्यो का एक वर्ग ऐसा था, जिसने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

आर्य साम अथवा श्याम (२५० B. C.) भूमि प्रदेश का विभाजन ४० रूपो मे करते है—(१) कँकरीली भूमि छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़ों से भरपूर भूमि) २. रेतीली ३. उपल (चट्टानो और कच्ची धातुओं के अनेक प्रकार ४. चट्टाने ५, नमक अथवा नमकीली चट्टान ६. बजर भूमि ७—१३ लौह तथा कच्ची धातुएँ १४. हीरा १५, १६, १७. दूसरी चट्टानी निर्मितियाँ १८. सुरमा १९. मूंगे के समान २०. अभ्रक २१-२२ अभ्रक की रेत २३ गोमेदक (कीमती पत्थर का एक प्रकार) २४ रुचक (एक कीमती पत्थर) २५ अक २६ बिल्लौर के समान स्वच्छ चट्टाने २७ लाल तहदार चट्टान की परत २९-४० रत्न, ग्रेनाइट तथा परिवर्तनीय चट्टाने एव तलछट सम्बन्धी खनिज द्रव्य।

जीवाजीवाभिगमोपाङ्ग मे मिट्टी के विज्ञान सम्बन्धी कुछ सूचना है। इसमे मिट्टियो के ६ भेद बतलाए गए है—१. अच्छी उपजाऊ मिट्टी २. शुद्ध मिट्टी जो पर्वतीय प्रदेशों मे पाई जाती है। ३. मन.शिल (कुछ चट्टानी मिट्टी) ४. रेतीली ५. ककरीली ६. गोल पत्थर अथवा पत्थरो की प्रचुरता से युक्त। मलयगिरि टीका मे उपर्युक्त मिट्टियो मे से प्रत्येक की आयु बतलाई गई है। प्रथम मिट्टी एक हजार वर्ष तक रहती है, दूसरी मिट्टी १२ हजार वर्ष, तीसरी १४ हजार वर्ष, चौथी १६ हजार वर्ष, पाँचवी १८ हजार वर्ष, छठी २२ हजार वर्ष।

सूर्यप्रज्ञप्ति (४०० ई० पू०) मे सूर्य की किरणो के सामने किसी वस्तु के रखने की क्रिया (Incolation), किरण फेकना (Radiation) सूर्य के प्रकाश का प्रतिबिम्बन (Riflection), ऊर्जा (Energy) तथा पृथ्वी एव विभिन्न धरातलो का गर्भ होना इत्यादि विषयो पर विस्तार से विवेचन है। यह वर्णन यथार्थ में प्रशसा योग्य है, क्योंकि इस पुस्तक मे इतने विस्तार से और स्पष्ट रूप से विषयों का सही विवेचन इतने प्रारम्भिक समय मे किया गया है, जो कि आधुनिक युग के अध्ययन का विषय है। चौथे प्राभृत सूत्र २५ में किसी वस्तु को शुद्ध करने के लिए सूर्य

१. आधारग्रन्थ—Development of Geographic knowledge in India (प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी)

की किरणों को सामने रखने की शृंखला प्रस्तुत है। सूर्य के तापक्षेत्र का भी इसमें विवेचन है और इस सन्दर्भ मे अनेक आँकडे दिए गए हैं। प्राभृत ५ सूत्र २६ का नाम लेश्या प्रतिहित है। इसमें सूर्य के प्रकाश के फैलने का वर्णन है। विशेष रूप से सूर्य की किरणों के सामने किसी वस्तु के रखने की क्रिया, किरण फेकना तथा प्रतिबिम्बन के विषय का विस्तृत वर्णन है। इसमे सूर्य की रोशनी के प्रतिबिम्बन के २० वादो का जिक्र है। प्राभृत ६ सूत्र २७ में गर्मी की दशा या सूर्य के प्रकाश का अन्वेषण है। सबसे पहले इसमें इसके विषय मे २५ सिद्धान्त दिए है। पहले सिद्धान्त मे वर्णन है कि प्रत्येक क्षण सूर्य की रोशनी प्राप्त की जा रही है और दूसरे क्षण यह अवश्य हो रही है। सौर वर्ष की समाप्ति के समय जब कि सूर्य सबसे लम्बे दिन आन्तरिक घेरे मे रहता है, इसकी अधिकाधिक ऊर्जा २० की अवधि के लिए आती है। इसके बाद सूर्य परिवर्तन प्रारम्भ करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी धरातल पर पुद्गल सूर्य की किरणो के पडने से ऊर्जा पाता है। अनन्तर दूसरे पुद्गल उनके सवाहन द्वारा गर्म होते हैं। तृतीय सिद्धान्त के अनुसार कुछ वस्तुये सूर्य की किरणो के पडने से गर्म होती है और कुछ नही होती।

प्रज्ञापना तथा आवश्यक चूर्णि में अनेक प्रकार की हवाओ का महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। हवाओ के वर्गीकरण सम्बन्ध मे जैन पूरे भारतीय भूगोल विज्ञान मे अद्वितीय है। प्रज्ञापना मे १६ प्रकार की हवाओ का वर्णन है— १-४. चारो दिशाओं की हवायें ५-६ उतरती और चढती गर्म हवायें ७. क्षितिज के समानान्तर हवाये ८. जो विभिन्न दिशाओ से बहती है। ६. वातोद्भ्रम (अनियमित हवाये) १०. सागर के अनुरूप हवाये ११. वातमण्डली १२. उत्कलिकावात (मिश्रित हवायें) १३ मण्डलीकावात (तेजी से चक्कर खाने वाली हवायें) १४. गुञ्जावात (भरभराहट का शब्द करने वाली हवाये १५. झझावात हिंसक हवायें जो कि वर्फ गिरने में सहायक होती है। १६. संवर्तक वात (किसी विशेष क्षेत्र की हवा जो कि सूखे वनस्पतियो मे भर जाती है १७. घनवात (बलदायक हवा) १८. तनुवात १६. शुद्धवात (Gentil Wind) आवश्यक चूर्णि मे १६ प्रकार की हवाओं की सूची है—१. प्राचीन वात (पूर्वी हवा) २. उदीचीन (उत्तरी) ३. दक्षिणवात ४. उत्तर पौरस्त्य (सामने से उत्तर की ओर चलने वाली हवा) ५. सवात्सुक ६. दक्षिणपूर्वतुंगर (Southerly Strong Wind) ७. अपरदक्षिणबीजाप (दक्षिण पश्चिम से चलने वाली) ८. अपरबीजाप (Westerlies) ६. अपरोत्तरगर्जभ (उत्तरपश्चिमी चक्रवात) १०. उत्तमसवात्सुक (अज्ञात) ११. दक्षिण सवात्सुक १२. पूर्वतुगर १३-१४. दक्षिण तथा पश्चिमी बीजाप १५. पश्चिम गर्जभ (पश्चिमी आंधी) १६. उत्तरी गर्जभ (उत्तरी आँधी)। अनन्तर यही चक्रवातों का निर्देश कालिकावात के रूप मे है। इस शब्दावली ने अरब भौगोलिकों को और नाविको को प्रभावित किया और उन्होंने तत्परता से इन अनेक भारतीय पारिभाषिक शब्दो को अपनी भाषा मे ग्रहण कर लिया। जीव विचार? उद्भ्रामक वात (सूखे पेड़ो से बहने वाली हवायें) २. उत्कलिका वात ३. भूमण्डलीकावात ४. मुखावात ५. शुद्ध वात तथा ६. गुञ्जवात का नाम निर्देश है।

प्रज्ञापना मे हिमपात तथा शिलावृष्टि सहित आँधी का निर्देश है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में बादलों के दो वर्गीकरण है। प्रथम सात प्रकार के बादलो के नाम दिए गए हैं— १. अरसमेघ २. विरसमेघ ३. क्षारमेघ ४. खात्रमेघ ५. अग्निमेघ ६. विद्युन्मेघ ७. विषमेघ (अशनिमेघ)। दूसरी बार १. सक्षीरमेघ २. घृतमेघ ३. सघृतमेघ ४. अमृतमेघ ५. रसमेघ ६. पुष्करमेघ तथा ७. सवर्तक मेघ के नाम है।

त्रिलोकसार मे कहा गया है कि कालमेघ सात प्रकार के होते है। इनमे से प्रत्येक सात दिन वर्षा लाता है। सफेद मेघ १२ प्रकार के होते है, इन्हें द्रोण कहते है। इनमे से प्रत्येक सात दिन के लिए वर्षा लाता है। इस प्रकार वर्षा का काल १३३ दिन का होता है। जीवाजीवभिगम की टीका मे तुषार, बर्फ तथा शिलावृष्टि सहित आँधी और कुहरे का कथन है।

इस बात का निर्णय करने का बहुत सुनिश्चित आधार है कि जैनो के मनुष्य शरीर रचनाशास्त्र तथा चरित्र शास्त्र विषयक विचार बड़े बुद्धिमत्तापूर्ण थे और इन शाखाओ विषयक उनकी जानकारी किसी से कम नहीं थी। प्रज्ञापना केमनुष्यप्रज्ञा सूत्र ३६ अध्याय १ में मनुष्य,

स्त्री तथा म्लेच्छों के विषय में विभिन्न मनुष्य शरीर रचना शास्त्र विषयक सूचनायें हैं। इसमें म्लेच्छों का ५ प्रकार का वर्गीकरण है—(१) शक (२) यवन (३) चिलात (४) शबर तथा (५) बर्बर। जीवाजीवाभिगम के सूत्र १०५ से १०६ में मनुष्यो के विभाजन का प्रयत्न किया गया है। यह नही कहा जा सकता है कि यह कितना वैज्ञानिक है। इसमें दो मुख्य वर्गों की जानकारी है। ये दो वर्ग अनेक उपवर्गों मे विभाजित है। वे है—अ—(१) सम्मूर्च्छिम मनुष्य (२) गर्भव्युत्क्रान्तिक। व—(१) कर्मभूमक और अन्तर्द्वीपक। अन्तर्द्वीपक के २८ भेद है। जैसे—एकोरक, गूढदन्त तथा शुद्धदन्त इत्यादि।

तत्त्वार्थसूत्र की अकलङ्कदेवकृत टीका मे अनेक प्रकार के मनुष्यो और उनके व्यवसाय का वर्णन है।

अगविज्जा (चौथी शताब्दी ई०) मे मनुष्य शरीर रचना शास्त्र विषयक कुछ तथ्य निहित है। इसके २४वे अध्याय में मनुष्यो का आर्य और म्लेच्छो के रूप मे विभाजन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो का रग इसमें सफेद, लाल, पीला तथा काला वर्णित है। जीव विचार मे अनेक प्रकार की जातियाँ वर्णित है। जैसे—असुर, नाग, पिशाच, राक्षस तथा किन्नर। नाप का सबसे पहले निर्देश सम्भवत तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मे पाया जाता है। इसमे सूत्र विशेष की टीका मे अकलङ्कदेव कहते है—आठ मध्य का एक उत्सेधाङ्गुल होता है। ५०० उत्सेधाङ्गुल का एक प्रमाणाङ्गुल होता है। यह अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् का आत्माङ्गुल है। उस समय ग्राम, कसबे इत्यादि इसी परिमाण से मापे जाते थे। दूसरे कालो मे भिन्न-भिन्न आत्माङ्गुलों का प्रयोग किया गया। प्रमाणाङ्गुल महाद्वीप, द्वीप, समुद्र, वेदिकायें, पर्वत विमान, तथा नरकपटलो की माप के लिए प्रयुक्त किया गया। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जैन प्रत्येक प्रकार की भौगोलिक वस्तु की माप से परिचित थे। यहाँ तक समुद्रो का भी परिमाण बतलाया गया है। समुद्र के किनारे के प्रदेश तथा जलप्राय प्रदेशो का भी माप होता था। तिलोयपण्णत्ति (५०० ई०) मे माप की वही विकसित दशा है जो कि तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की है। द्वीप, समुद्र, वेदी, नदी, झीलें, तालाब, विश्व तथा भरत क्षेत्र प्रमाणाङ्गुल के माप से नापे गए हैं। तिलोयपण्णत्ति के काल में भारत देश की पैमाइश सुनिश्चित रूप में की गई थी।

विश्व अथवा भारत के नकशे को बनाने की कला का प्रमाण भद्रबाहु के वृहत् कल्पसूत्र (४०० ई० पू०) मे है। इसमे कहा गया है—

> तरुगिरिनदी समुद्दो भवणावल्लीलयाविणाय।
> निद्दीसचित्तकम्मं पुन्न कलस सोत्थियाई य॥

तत्त्वार्थसूत्र मे जम्बूद्वीप का नकशा बतलाया गया है। सूत्र की टीका से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल के मनुष्य 'स्केल' के विचार से परिचित थे और एक छोटे मे 'स्केल के आधार लम्बे परिणाम की वस्तु की रचना कर सकते थे—

"सख्येयप्रमाणावगमार्थ जम्बूद्वीपतुल्याय विष्कम्मा योजनसहस्रावगाह बुध्याकुशूलाश्चत्वार कर्त्तव्या.–शलाका प्रतिशलाका महाशलाकाख्यास्त्रयो व्यवस्थिता चतुर्थोऽनव स्थित.।"

वृहत्क्षेत्र समास के वर्णन मे यह प्रकट है कि यह ग्रन्थ अनेक प्रकार के विश्व के चित्रो मे परिचित है। तिलोयपण्णत्ति मे आकाश का एक Digrama ic नक्शा दिया गया है। माधवचन्द्र त्रैविद्य (१२२५ ई०) ने एक शब्द संदृष्टि का प्रयोग किया जिसका शायद अर्थ 'भौगोलिक डाइग्राम' या उदाहरण था।

प्रज्ञापना की टीका मे हरिभद्रसूरि (७०५-७६७ ई०) ने १२ प्रकार की वनस्पति का वर्णन किया है—१. वृक्ष २ गुच्छ ३. गुल्म ४. लता ५. वल्ली ६. पर्वग (गन्ने जैसी) ७. तृण ८. वलय ९. हरित १०. औषधि ११. जलरुह १२. कुहणा (भूमि के अन्दर उगने वाली।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और तिलोयपण्णत्ति मे विभिन्न प्रकार के व्यवस्थित नगरों का वर्णन है। जेसे—नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, स्वस्तिक, खेट, कर्वट, पट्टन इत्यादि। अगविज्जा के २६वें अध्याय मे ६४ प्रकार के नगरों का वर्णन है—राजधानी, शाखानगर, पर्वतनगर, आरामबहुल, पविट्टनगर, विस्तीर्णनगर। जैनो मे जनपद परीक्षा की परम्परा थी। जिसने Field Work (फील्डवर्क) तथा क्षेत्रीय भूगोल के विकास मे अधिक कार्य किया है।

सातवी शताब्दी की एक कृति वृहत्-क्षेत्र समास से यह प्रकट है कि समुद्र विद्या पर लिखने मे जैनों का

(शेष पृष्ठ १५ पर)

जैन परम्परा में निक्षेप पद्धति

□ अशोक कुमार जैन एम० ए० शास्त्री (शोध छात्र)

प्राचीनकाल में ही जैन परम्परा में पदार्थ के वर्णन की एक विशेष पद्धति रही है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है उस अनन्त धर्मात्मक पदार्थ को व्यवहार मे लाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो मे निक्षेप का भी स्थान है। जगत मे व्यवहार तीन प्रकार से चलते है कुछ व्यवहार ज्ञानाश्रयी अर्थात् ज्ञान पर आश्रित होते है कुछ शब्दाश्रयी अर्थात् शब्दो के ऊपर आश्रित होते है और कुछ अर्थाश्रयी होते है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को सव्यवहार के लिए उक्त तीनो प्रकार के व्यवहारो मे बाटना निक्षेप है। निक्षेप के बारे मे अनेक दार्शनिको ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किये है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जीवादि पदार्थो का न्यास करना चाहिए।[1] सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय मे अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय मे क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते है[2] अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते है। अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को प्ररूपण करने वाला निक्षेप होता है।[3] अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का प्ररूपण करने वाला निक्षेप है।[4] श्रुत प्रमाण और उसके भेद नयो के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायो का सङ्कर व्यतिकर रहित कथन करने को निक्षेप कहते है।[5] प्रमाण और नय के विषय मे यथायोग्य नामादि रूप से पदार्थ निक्षेपण करना निक्षेप है।[6] युक्ति के द्वारा सयुक्त मार्ग मे कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे पदार्थ की स्थापना को आगम मे निक्षेप कहा है।[7] नय तो गौण और मुख्य की अपेक्षा रखता है इसीलिए वह विवक्षा सहित है। नय सदा अपने (विवक्षित) पक्ष का स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नय की भी अपेक्षा रखता है, निक्षेप में यह बात नहीं, यहा पर तो गौण पदार्थ मे मुख्य का आक्षेप किया जाता है इसलिए निक्षेप केवल उपचरित है नय तो ज्ञान विकल्प रूप है और निक्षेप उसका विषय भूत पदार्थ है।[8] अमृतचन्द सूरि ने निक्षेप के ४ भेद बतलाये है कि सातों तत्वार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप के द्वारा व्यवहार मे आते हैं इसीलिए प्रत्येक तत्वार्थ चार प्रकार का होता है जैसे नाम-जीव, स्थापना-जीव, द्रव्य-जीव, भाव-जीव।[9] द्रव्य अनेक स्वभाव वाला होता है उनमे से जिस स्वभाव के द्वारा वह ध्येय या ज्ञेय, ध्यान या ज्ञान का विषय होता है उसके लिए एक भी द्रव्य के ४ भेद किये जाते है निक्षेप के ४ भेद हैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[10] मूलाचार मे[11] सामायिक के तथा त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे मङ्गल के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह निक्षेप किये है।[12] आवश्यक निर्युक्ति में इन छह निक्षेपो मे वचन को और जोड़कर सात प्रकार के निक्षेप बताये है।[13] यद्यपि निक्षेपों के सभाव्य भेद अनेक हो सकते है और कुछ ग्रन्थकारो ने किये भी है परन्तु कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों को मानने में सर्वसम्मति है। अकलङ्कदेव ने निक्षेपो का विवेचन करते हुए लिखा है कि निक्षेप पदार्थो के विश्लेषण के उपायभूत है उन्हे नयो द्वारा ठीक-ठीक समझकर अर्थात्मक ज्ञानात्मक और शब्दात्मक भेदो की रचना करनी चाहिए।[14]

नाम क्षेत्र निक्षेप—जीव-अजीव और उभयरूप कारणो की अपेक्षा से रहित होकर अपने आप में प्रवृत हुआ क्षेत्र यह शब्द नाम क्षेत्र निक्षेप है। वह नाम निक्षेप वचन और वाच्य के नित्य अध्यवसाय अर्थात् वाच्य-वाचक संबंध के सार्वकालिक निश्चय के बिना नही होता है इसलिए अथवा तद्भवसामान्य निबन्धनक ओर सादृश्य सामान्य निमितक होता है इसलिए अथवा वाच्य-वाचक रूप दो शक्तियों वाला एक शब्द पर्यायार्थिक नय में असंभव है इसलिए द्रव्यार्थिक नय का विषय है।[15] किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर किसी द्रव्य की जो संज्ञा रखी जाती है वह नामनिक्षेप है।[16] संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम

कहते हैं।[17] इसी बात को पञ्चाध्यायीकार ने लिखा है।[18] मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का घात करने से अरिहन्त नाम है इन गुणों के बिना किसी का अरिहन्त या अर्हन्त नाम रखना नाम निक्षेप का उदाहरण है।[19] पुस्तक, पत्र, चित्र आदि मे लिखा गया लिप्यात्मक नाम भी नाम निक्षेप है।[20]

स्थापना क्षेत्र निक्षेप—बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र के साथ एकत्व को प्राप्त हुए अर्थात् जिनमें बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र की स्थापना की गई है ऐसे सद्भाव और असद्भाव स्वरूप काष्ठ, दन्त और शिला आदि स्थापना क्षेत्र निक्षेप है।[21] अमृतचन्द सूरि ने लिखा है कि परमा तथा काष्ठ आदि के सम्बन्ध मे (यह वह है) इस प्रकार अन्य वस्तु में जो किसी अन्य वस्तु की व्यवस्था की जाती है वह स्थापना निक्षेप कहलाता है।[22] स्थापना के दो भेद हैं साकार और निराकार। कृत्रिम या अकृत्रिम बिम्बो मे अर्हन्त परमेष्ठी की स्थापना साकार स्थापना है और क्षायिक गुणों मे अर्हन्त की स्थापना को निराकार स्थापना कहते है।[23]

द्रव्य क्षेत्र निक्षेप—जो गुणो के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणो को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं।[24] किसी द्रव्य को आगे होने वाली पर्याय की अपेक्षा वर्तमान मे ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।[25] पञ्चाध्यायीकार ने कहा है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा नही रखने वाला किन्तु भाविनैगम आदि नयो की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यनिक्षेप है।[26] आगमद्रव्यक्षेत्र और नोआगमद्रव्यक्षेत्र के भेद से द्रव्य क्षेत्र दो प्रकार का है उसमे से क्षेत्र विषयक शास्त्र का ज्ञाता किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्यक्षेत्र निक्षेप है।[27] नो आगम द्रव्य तीन प्रकार का है ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जो ज्ञाता का शरीर है वह ज्ञायक शरीर कहलाता है वह त्रिकाल गोचर ग्रहण किया जाता है अर्थात् उसके भूत-भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद है। तद् व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य के दो भेद हैं एक कर्म और दूसरा नोकर्म। आगम द्रव्य मे आत्मा का ग्रहण किया गया है, नो आगमद्रव्य मे उसके परिकर, शरीर, कर्मवर्गणा आदि का गृहण है।[28]

भाव क्षेत्र निक्षेप—तत्कालवर्ती पर्याय के अनुसार ही वस्तु को सम्बोधित करना या मानना भाव निक्षेप है इसके भी दो भेद है आगम भाव निक्षेप और नो आगमभावनिक्षेप। जैसे अर्हत् शास्त्र का ज्ञायक जिस समय उस ज्ञान मे अपना उपयोग लगा रहा है उसी समय अर्हत है यह आगमभावनिक्षेप है जिस समय उसमे अर्हत के समस्त गुण प्रकट हो गये है उस समय उस उसे अर्हत कहना तथा उन गुणो से युक्त होकर ध्यान करने वाले को केवल ज्ञानी कहना नो आगमभावनिक्षेप है।[29] क्षेत्र विषयक प्राभृत के ज्ञाता और वर्तमानकाल मे उपयुक्त जीव को आगमभाव क्षेत्रनिक्षेप कहते है जो आगम में अर्थात् क्षेत्रविषयक शास्त्र के उपयोग के बिना अन्य पदार्थ मे उपयुक्त हो उस जीव को अथवा औदयिक आदि पाच प्रकार के भावो को नो आगमभावक्षेत्रनिक्षेप कहते हैं।[30]

जो निक्षेप नय और प्रमाण को जानकर तत्व की भावना करते हैं वे वास्तविक तत्व के मार्ग में सलग्न होकर वास्तविक तत्व को प्राप्त करते हैं।[31]

संदर्भ सूची

१. तत्वार्थ सूत्र १-५।

२. संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थित तेम्योऽप्रसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।
—षट्खण्डागम खण्ड १ भाग ३, ४, ५ पुस्तक ४ सं० हीरालाल जैन पृष्ठ २।

३. अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थ व्याकरणाच्च निक्षेप. फलवान्॥ लघीयस्त्रय स्वो० वि० पृ० २६।

४. स किमर्थः अप्रकृत निराकरणाय च। सर्वार्थ सिद्धि १-५

५. न्यायकुमुदचन्द्र का० ७३-७६ विवृति पृ० ७६६।

६. प्रमाणनययोर्निक्षेपण आरोपण निक्षेपः॥ आलाप पद्धति-देवसेनाचार्य अनु: न. रतनचन्द्र मुख्तार पृ. १८२

७. जुत्तीसुजुत्तमग्गे ज चउभेएण होइ खलुणवणं।
—कज्जेसदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समए॥ द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा २७०।

८. पञ्चाध्यायी १-७४०।

९. तत्वार्थसार अमृतचन्द्र सूरि-सं०पं० पन्नालाल साहित्या-

चार्य श्लोक ६ पृ० ४।
१०. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र-माइल्लधवल गाथा २७१-२७२ पृ० १३६, स० प० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
११. षडावश्यकाधिकार गाथा १७।
१२. गाथा १/१८। १३. गाथा १२६।
१४. नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने। विरचय्यार्थवाक्-प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितम्। लघीयस्त्रम, स्व वृ० श्लोक ७४।
१५. षट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड १ भाग ३, ४, ५ स० हीरालाल जैन पृ० ३।
१६. निमित्तान्तरानपेक्षं सज्ञाकर्म नाम ॥ त० रा० वा०।, स० प्रो० महेन्द्रकुमार १/५ पृष्ठ २८।
१७. अतद्गुणे वस्तुनिसव्यवहारार्थ पुरुषाकारान्नियुज्यमान सज्ञाकर्म नाम-सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद स० प० फूलचद सि० शा० पृ० १७।
१८. पञ्चाध्यायी—१-७४२।
१९. मोहरज अतराए हणणगुणादो य णाम अरिहंतो। अरिहो पूजाए वा सेसा णामं हवे अण्ण ॥ द्र० स्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा २७३।
२०. जैनतर्क भाषा पृ० २५।
२१. षट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड १ भाग ३, ४, ५ स० पृ० ३।
२२. सोऽयमित्यक्षकाण्णादे. सम्बन्धेनान्यवस्तुनि। यदयव स्थापनामात्रं स्थापना सामिधीयेनो तत्वार्थसार श्लोक ११ पृ० ४।
२३. सायार इयरठवणा कित्तिम इयरा हु बिंबजा पढमा। इयरा खाइय भणिया ठवणा अरिहोय णायव्वो ॥ उ० स्वभावप्र० ाशकनयचक्र स० प० कैलाशचन्द शास्त्री पृ० १३७।
२४. गुणैर्गुणान्वा द्रुत गत गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोठयतीति वा द्रव्यम् ॥सर्वार्थसिद्धि १-५ ॥
२५. तत्वार्थसार श्लोक १२। २६ पञ्चाध्यायी १-७४३।
२७ पट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड १ पृष्ठ ५।
२८ तत्वार्थवार्तिकालकार-अनु प० गजाधरलाल जी तथा प० मक्खनलालजी पृ० १२६-१२७।
२९ समणसुत्त गाथा ७४३-७४४ पृ० २३८।
३०. पट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड व भाग ३, ४, ५।
३१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशकनयचक्र सपादक प० कैलाशचन्द शास्त्री गाथा २८२।

—जैन हैपी स्कूल नई दिल्ली

(पृष्ठ १२ क शेषाश)

दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। यह बात उपर्युक्त ग्रन्थ के लवणाब्ध्यधिकार तथा कालोदध्यधिकार से प्रकट है। पहले अधिकार मे लवण समुद्र का माप, इसकी गहराइयाँ, ज्वारभाटीय क्रियाये, विभिन्न द्वीपो की गहराई तथा जलस्तर का वर्णन है। दूसरे मे कालोदधि का माप, इसके जल की प्रकृति तथा दूसरे पहलुओ का वर्णन है।

तत्त्वार्थवार्तिक मे अकलङ्कदेव ने आठ महत्त्वपूर्ण समुद्रों के नाम दिए है—१. लवणोद २. कालोद ३. पुष्करोद ४. वरुणोद ५. क्षीरोद् ६. घृतोद् ७. इक्षुद ८. नन्दीश्वरोद। बृहत् क्षेत्र समास की टीका मे ९. अरुणावरोद।

तत्त्वार्थाधिगम की टीका में भारतीय समुद्रों की गहराई का वर्णन है। सूत्र ३२ की टीका से ज्ञात होता है कि आन्तरिक और बाह्य समुद्री किनारे तथा समुद्री क्षेत्र के लिए भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग होता था। ये शब्द थे—(१) अन्तरवेला (२) बाह्य वेला (३) अग्रोदक जैनों का कहना है कि समुद्र वायु द्वारा प्रवृत्त होता है और दिशाओ मे बढता हुआ ४००० धनुष ऊँचाई तक बढता है।

जीवाजीवाभिगम मे कहा गया है कि ज्वारभाटे का कारण महापटल की मजबूत हवाये (उदारवात) होती है। आवश्यक सूत्र से ज्ञात होता है कि भारतीय नौविद्या तथा वाणिज्य मे बहुत बडे थे। उनका यह काल ६०० ई० पू० था। यहाँ समुद्री कप्तान के लिए 'णिज्जामक' शब्द का प्रयोग किया गया है। समराइच्च कहा मे भारतीयो की उत्साह और साहसपूर्ण समुद्री यात्रा की कहानिया है। एक सन्दर्भ से यह बात प्रकट है कि भारतीय लोग चीन, स्वर्ण भूमि और रत्नद्वीप बड़े-बड़े जहाजों में जाया करते थे।

इस प्रकार जैन भूगोल अपने अन्तर्गत बहुत सारी भौगोलिक विशेषताओ को अपने गर्भ मे छिपाए हुए है, इसका विस्तृत अध्ययन एव अन्वेषण अपेक्षित है।

—जैन मन्दिर के पास बिजनौर, उ० प्र०

विश्व धर्म बनाम जैन धर्म

☐ विद्यावारिधि डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया पी-एच० डी०-डी० लिट्०

विश्व धर्म एक यौगिक शब्द है। विश्व और धर्म इन दो शब्दों के समवाय से इस शब्द का गठन-सगठन हुआ है। प्राणी के चरने-विचरने सम्बन्धी क्षेत्र विशेष का बोधक शब्द वस्तुत विश्व कहलाता है और धर्म शब्द उस क्षेत्र से विद्यमान नाना तत्वो और उनमे व्याप्त गुणो, स्वभावो का परिचायक होता है। इस प्रकार विश्व—तत्वो का स्वभाव कहलाया वस्तुत. विश्व-धर्म।

जैन धर्म भी यौगिक शब्द है, जिसका गठन जैन और धर्म नामक इन दो शब्दों पर आधृत है। जैन शब्द मूलत. 'जिन' से बना है। 'जिन' शब्द का अभिप्राय है जीतने वाला। जिसने अपने समग्र कर्म-कषायों को जीत लिया वह कहलाया जिन और जिन के अनुयायी वस्तुत कहे गए जैन। जैनागम मे धर्म की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है—वत्थु सहावो धम्मो अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार वस्तु-स्वभाव का सम्यक् विवेचन जैन धर्म कहलाता है।

अब यहा विश्व धर्म बनाम जैन धर्म विषयक विशद किन्तु सक्षिप्त अध्ययन और अनुशीलन प्रस्तुत करना वस्तुतः हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

जनसमुदाय और समाज मे विश्व बोधक जिन शब्दो का प्राय. प्रचलन है उनमे लोक और ससार महत्वपूर्ण है। यद्यपि विश्व, लोक और ससार शब्दो का सामान्य अभिप्राय उस क्षेत्र विशेष से रहा है जहा प्राणी नाना-योनियो से आवागमन के चक्रमण मे लगा रहता है, तथापि ये सभी शब्द अपना-अपना पृथक अर्थ-अभिप्राय रखते है।

विश्व शब्द का मन्तव्य सामान्यत. सप्त महाद्वीपो के समवेत क्षेत्र—कुल से रहा है, इसी को दुनिया भी कहा गया है। विश्व की अपेक्षा लोक शब्द व्यापक है। स्वर्ग-पृथ्वी और पाताल के समीकरण को वस्तुत. लोक शब्द से कहा जाता है। चौदह संख्या में लोक शब्द विभक्त है।—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, और पाताल ये सप्त अधोलोक कहलाते है और सात ही भूलोक माने गए है—भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, महलोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक। इन सभी को मिलाकर लोक शब्द का अर्थ स्थिर होता है।

विश्व और लोक से भी व्यापक अर्थकारी शब्द है—ससार। ससरण ससार: अर्थात् ससरण करने को ससार कहा जाता है। कर्म-विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना वस्तुत ससार कहलाता है। ससार मे विश्व और लोक जैसे अनेक क्षेत्रमुखी शब्दो का समवेत विद्यमान रहता है। इसीलिए ससार शब्द महत्तर महिमा मडित है।

विश्व मे अनेक धर्म प्रचलित है जिनमे वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि अधिक उल्लेखनीय है। इन सभी धर्मो मे व्यक्ति विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ईश्वर, बुद्ध, ईशु तथा अल्लाह आदि किसी भी सज्ञा मे उसे व्यक्त किया जा सकता है। ससार के निर्माण और सचालन मे उसकी भूमिका सर्वोपरि मानी गई है। विश्व की सभी जीवात्माए उस शक्ति के वस्तुत अधीन है, परन्तु जैन धर्म इस मान्यता को स्वीकार नही करता है। उल्लेखनीय बात यह है कि जैन धर्म किसी व्यक्ति-शक्ति की देन नही है और ना ही ससारी जीवात्माए उसके अधीन है। जैन धर्म वस्तुत स्वाधीनता प्रधान धर्म है।

जैन धर्म मे गुणो की उपासना की गई है। गुणों को ही यहां स्पष्टत इष्ट माना गया है। पांच प्रकार के इष्ट यहां प्रचलित है—अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। प्रत्येक इष्ट विशिष्ट गुणो का समवाय समीकरण होता है। पचपरमेष्ठि इसीलिए वदनीय है। जिनमे पच परमेष्ठियो की बंदना की गई है। इस आद्य मत्र को णमोकार मंत्र कहा गया है। यथा—

णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण
णमो उवज्झायाण णमो लाए सव्व साहूण ।

सबसे बड़ी बात यह है कि जैन धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा मे ये सभी गुण सदा विद्यमान रहते है। कर्म-कुल से प्रच्छन्न इन गुणो को उजागर करने का यहा विधान है। नाना कर्मो को क्षय करके जीव अपने मे प्रतिष्ठित इन गुणो को प्रकट कर सकता है। स्वय इष्ट और परम इष्ट बन सकता है। प्राणी स्वय प्रभु बन सकता है, इस प्रकार की व्यवस्था कदाचित जैन धर्म मे ही उपलब्ध है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने ह्रास और विकास का स्वय कर्त्ता और भोक्ता है।

कर्म सिद्धान्त को मान्यता अन्य धर्मो मे भी दी है। वहाँ जीवात्मा प्रत्येक कर्म प्रभु की कृपा से सम्पन्न करता है और किए हुए कर्म-फल भी उसी की कृपा से भोगता है परन्तु जैन धर्म में जीव स्वय करता है, कर्मानुसार निमित्त स्वत जुटा करते है और कर्म-फल का भोग भी वह स्वय भोगा करता है। किसी की कृपा का यहा कोई विधान नही है।

कर्म शब्द का लौकिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव, मन वचन और काय के द्वारा कुछ न कुछ किया करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म की सज्ञा प्राप्त करता है। मन, वचन और काय कर्म के ये तीन द्वार होते है। ससारी-आत्मा के इन तीन द्वारो की क्रियाओ से प्रतिक्षण सभी आत्म-प्रदेशो मे कर्म होते रहत है अनादि काल से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इनका पारस्परिक अस्तित्व वस्तुत. सिद्ध है।

मूलत. कर्म के दो भेद किए गए है—द्रव्यकर्म और भावकर्म।

पुद्गल के कर्म-कुल द्रव्यकर्म कहलाते है। द्रव्यकर्म के निमित्त से जो आत्मा के राग-द्वेष अज्ञान आदि भाव होते है वे वस्तुतः भाव कर्म कहलाते है। द्रव्य और भाव भेद स जो आत्मा को परतत्र करता है, दु.ख देता है तथा ससार चक्र मे चक्रमण कराता है, वह समवेत रूप मे कर्म कहलाता है।

कर्मो का एक कुल होता है। कर्म अनन्तकाल से अनन्त है। अनन्तकर्मो को स्थूलरूप से दो भागों मे विभाजित किया गया है—घातिया और अघातिया। जो जीव के गुणो का घात करते है वे वस्तुत कहलाए घातिया कर्म। यथा—

१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. मोहनीय ४. अन्तराय

जो पूर्ण गुण को घात न कर पाए वे अघातिया कर्म कहलाते है—यथा—

१ वेदनीय, २ आयु, ३ नाम, ४. गोत्र।

घातिया और अघातिया कर्म मिलकर आठ कर्म-भेद प्रचलित है। ससार के अनन्त कर्म इन्ही आठ कर्मों में परिगणित किए जा सकते है। इन कर्मो की परिचयात्मक सक्षिप्त रेखा निम्न रूपेण प्रस्तुत की जा सकती है।

१ **घातिता कर्म**—अ—ज्ञानावरण कर्म—जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढकता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है।
(ब) दर्शनावरण कर्म—जो आत्मा के दर्शन गुण को ढकता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते है।
(स) मोहनीय कर्म—जिसके उदय मे जीव अपने स्वरूप को भुलाकर अन्य को अपना समझने लगता है, उसे मोहनीय कर्म कहा गया है।
(द) अन्तराय कर्म—जो दान-लाभ आदि में विघ्न डालता है उसे अन्तराय कर्म कहते है।

२ **अघातिया कर्म**—(अ) वेदनीय कर्म—जो आत्मा को सुख-दुःख देता है, उसे वेदनीय कर्म कहते है।
(ब) आयु कर्म—जो जीव को नर्क, तिर्यच, मनुष्य और देव मे से किसी एक के शरीर मे रोक रखता है, उसे आयु कर्म कहा गया है।
(स) नाम कर्म—जिससे शरीर और अंगोपाग आदि की रचना होती है उसे नाम कर्म कहते है।
(द) गोत्र कर्म—जिससे जीव का उच्च अथवा नीच कुल मे पैदा होना होता है उसे गोत्र कर्म कहते है।

आत्मिक गुणो में कर्म का कोई स्थान नही है। अज्ञानता से कर्म आत्मगुणो को प्रच्छन्न करता है। आत्म-गुणो को प्रभावित करने के लिए कर्मकुल जिस मार्ग को अपनाता है उसे आस्रव मार्ग कहा जाता है। आस्रव भी एक पारिभाषिक शब्द है जिसके अर्थ होते है कर्मो के आने का द्वार। इस प्रकार कर्म-सचार आस्रव कहलाता है।

आस्रव द्वार बहुमुखी होता है। कर्म कुल के अनुसार आस्रव मार्ग को बड़े सावधानी के साथ समझने-समझाने की आवश्यकता है। पाप और पुण्य की दृष्टि से आस्रव दो प्रकार का होता है। इसे ही शुभ और अशुभ कहा गया है। शुभ कर्मास्रव से प्राणी सुखी और अशुभ कर्म से प्राय दुःखी हुआ करता है। विचार कर देखे तो प्रत्येक प्रकार का कर्म बंधन का कारण है और बधन कभी सुखद नही हो सकता। इस प्रकार दुःख दूर करना और सुखी होना ही प्राणी का उत्कृष्ट प्रयोजन कहा जा सकता है।

लोक अनन्त तत्वों से भरा पड़ा है। जैन धर्म मे उन्हे सात भागो मे विभाजित किया गया है। जीवाजीवास्रवबंध-सवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात ही तत्व होते है। तत्व एक पारिभाषिक अर्थ रखता है। इसका अर्थ है वस्तु का सच्चा स्वरूप। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका जो भाव है दरअसल वही तत्व है। इन सात तत्वों को सही-सही रूप मे मानना वस्तुत सम्यक् दर्शन कहलाता है। इन तत्वो को जानकर स्व-पर भेद बुद्धि को जानना वस्तुत. सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। दर्शन अर्थात् सप्त तत्वो के प्रति श्रद्धान और भेद विज्ञान पूर्वक उन्हे अपने मे लय करना ही वस्तुत. सम्यक् चारित्र कहलाता है। यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी ही वस्तुत सच्चे सुख मार्ग का प्रवर्तन करती है। यथा--

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्ष मार्ग।

आज के मानवी-समुदाय की मुख्य समस्या है आग्रह-वादिता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ मे श्रेष्ठता अनुभव करता है। बिना सोचे-समझे जब वह अपनी धारणा को दूसरों पर थोपने का दुराग्रह करता है तभी विरोध-तज्जन्य सघर्ष का जन्म होता है। सघर्ष का बृहत् सस्करण ही युद्ध का रूप ग्रहण है। जैन धर्म मे इस विश्व व्यापी समस्या के समाधान हेतु एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार पद्धति प्रदान की है। उसके अनुसार युद्ध शान्ति का उपाय सामने नही आता अपितु युद्ध के उत्पन्न होने मे मूल कारण और आधार का उद्घाटन भी हो जाता है। युद्ध का मूलाधार है आग्रहवादिता। अनेकान्त और स्याद्वाद इस दिशा मे उल्लेखनीय समाधान है।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेक + अंत + आत्मक के योग से इस शब्द का सगठन हुआ है। यहा पर अन्त शब्द से धर्म नामक अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अने-कान्त शब्द का अर्थ हुआ अनेक धर्म वाला अथवा अनेक गुण वाला। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण विद्यमान है। मनुष्य के लिए यह बडा कठिन है कि उस वस्तु के समस्त गुणो एव अवस्थाओ का विभिन्न दृष्टियो से एक साथ वर्णन करे। इसके अतिरिक्त केवल उसी गुण का या अवस्था का वर्णन उस दृष्टि से किया जाता है जिस दृष्टि से जिस गुण के कथन करने की आवश्यकता उस समय की परिस्थिति के अनुसार प्रतीत होती है। उस समय वस्तु के अन्य गुणो के वर्णन करने की प्राय उपेक्षा की जाती है।

अनेकांत मूलत सिद्धात है और इस सिद्धात की शैली का नाम है स्याद्वाद। स्यात् वाद शब्दो के योग से स्याद्वाद शब्द का गठन हुआ है। स्याद् शब्द का अर्थ है कथचित अर्थात् किसी एक दृष्टि से और वाद का अभिप्राय है विचार। इस प्रकार स्यादवाद के कथन से यह बोध होता है कि विविक्षित वस्तु का वर्णन उसके किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से है, उसका वर्णन अन्य गुण या अन्य दृष्टि की अपेक्षा अन्य प्रकार होता है। लोक में सामान्यतः स्याद्वाद का अर्थ अन्यथा भी लगा कर मिथ्या धारणा का प्रयत्न किया गया। ऐसी मान्यता धारियो की दृष्टि मे स्यात् का अर्थ है शायद। फलस्वरूप स्याद्वाद का अर्थ शायद ऐसा हो, इस प्रकार माना गया है। उनकी दृष्टि में स्याद्वाद सदेहबोधक शब्द है। जैन धर्म मे इस शब्द का अर्थ इस प्रकार स्वीकार नही किया गया है। यहा तो स्यात् शब्द से कथंचित का अर्थ लेते है अर्थात् विवक्षित वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन है। उस गुण का उस दृष्टि से वर्णन पूर्णत. निश्चयात्मक है, इसमे किसी प्रकार का सदेह नही है।

विश्व मे वैचारिक विविधता आरम्भ से ही रही है। विचार वैविध्य को जब आग्रह के साथ ग्रहण किया जाता है तभी सघर्ष को जन्म मिला करता है। आज के विश्व-व्यापी मानवी समुदाय मे वैचारिक विसंगति व्याप्त है फलस्वरूप प्रत्येक क्षण युद्ध-संघर्ष की सम्भावना बनी रहती

है। इस विश्व व्यापी समस्या का समाधान अनेकात और स्याद्वाद को जानने और मानने मे सहज मे हल हो जाता है। फलस्वरूप अनेकमुखी सघर्षात्मक परिस्थितियो मे समता और सौहार्द का वातावरण स्थिर कर आदर्श की स्थापना होती है।

प्राणी मात्र के विकास और ह्रास हेतु जैन धर्म का एक और सिद्धान्त है—अहिंसा। अहिंसा मूलत आत्मा का स्वभाव है। वह वस्तुत किसी नकारात्मक स्थिति की परिणति नही है अर्थात् जो हिंसा नही है वह अहिंसा है प्राय. ऐसा नही है। जो वस्तु बाहर से प्राप्त होती है उसका अपना विभाव और प्रभाव हुआ करता है। प्रभाव और विभाव-व्यापार क्षण-क्षण मे बदलते रहते है। मै मानता हू कि जो प्राप्त है वह आज नही तो कल अवश्य समाप्त है अस्तु हमे प्राप्त और समाप्त मे सर्वथा पृथक होकर जो व्याप्त है उसे जानना चाहिए।

अहिंसा को विश्व की प्रत्येक धार्मिक मान्यता स्वीकार करती है। चाहे महात्मा ईशु हो, चाहे अल्लाह हो, अथवा ईश्वर हो अथवा भगवान बुद्ध, सभी के द्वारा अहिंसा को स्वीकारा गया है परन्तु जैन धर्म मे अहिंसा को जिस रूप में माना गया है उसकी सूक्ष्मता और विशदता वस्तुत अद्वितीय है। यहा अहिंसा के इसी महत्व-महिमा पर संक्षेप मे विश्लेषण करना आवश्यक है।

अहिंसा जैन धर्म का प्राणभूत तत्व है। उसकी विशद व्याप्ति मे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सब व्रत समा जाते है। व्रती अहिंसक होता है और जो व्यक्ति सच्चा अहिंसक है उसके द्वारा किसी प्रकार का पाप कर्म होना सम्भव नही होता। मन, वाणी और शरीर के द्वारा किसी प्रकार की असावधानी अहिंसक प्राय. नही करेगा जिससे किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचे। इसके विपरीत की जाने वाली असावधानी वस्तुत हिंसाजन्य होती है।

हिंसा के मूलतः दो भेद किए गए हैं—यथा—

१. भाव हिंसा, २. द्रव्य हिंसा।

अपने मन मे स्वयं तथा किसी दूसरे प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देने का विचार आना वस्तुत. भाव हिंसा कहलाती है। वाणी तथा शरीर से अपने तथा दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली असावधानी को द्रव्य हिंसा कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्य हिंसा स्थूल है और भाव हिंसा सूक्ष्म। जिस प्रकार किसी चोरी करने वाले चोर की स्वय भी चोरी होती जाती है अर्थात् उसकी अचौर्य वृत्ति की चोरी हुआ करती है उसी प्रकार हिंसक की अहिंसक वृत्ति किसी प्रकार की हिंसात्मक मनोवृत्ति उत्पन्न होने पर प्राय: प्रच्छन्न हो जाती है।

जैन धर्म मे द्रव्य हिंसा को चार कोटियों प्राय विभक्त किया गया है। यथा—१. सकल्पी हिंसा, २. विरोधी हिंसा ३. आरम्भी हिंसा, ४. उद्योगी हिंसा।

हिंसा का वह रूप जो जान-बूझकर अर्थात् संकल्प पूर्वक की जाती है, वस्तुत सकल्पी हिंसा कहलाती है। मन से वचन से तथा शरीर से स्वय करके, दूसरो के द्वारा कराकर तथा किसी अन्य व्यक्ति के किए जा रहे कार्य की अनुमोदना करके जो कार्य किया जाता है, वह सकल्पी हिंसा की कोटि में आ जाता है। किसी आक्रमणकारी से अपनी, अपने परिवार की, और धन धर्म और समाज-राष्ट्र की रक्षा हेतु जो हिंसा हो जाती है वह वस्तुत. विरोधी हिंसा कहलाती है। विचार कर देखे तो लगता है कि संकल्पी हिंसा की जाती है जबकि विरोधी हिंसा हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति को गृह कार्य मे अनेक विधि ऐसे कार्य करने होते है जिनमे हिंसा हो जाती है। घर की व्यवस्था, भोजनार्थ खाद्य सामग्री का व्यवस्था करना, कपडे बनवाना तथा धुलवाना आदि मे जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहा जाता है। अहिंसक इस प्रकार के कार्य करते समय अत्यन्त सावधानी रखता है ताकि कम से कम हिंसा होने पाए। इसी प्रकार उद्योगी हिंसा मे प्रत्येक गृहस्थ अथवा व्यक्ति को अपने और अपने आश्रित प्राणियों के लिए जीवकोपार्जन करने मे जो हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहा जाता है। माँस-मदिरा का व्यापार, भट्टा आदि का लगवाना तथा अन्य अनेक इसी प्रकार के काम-काज करने से जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा के अन्तर्गत आती है। अहिंसक धर्मो को इस दिशा में पूरी सावधानी रखनी चाहिए और जीवकोपार्जन के लिए ऐसा कार्य करना

चाहिए जिसमें कम से कम हिंसा होने की सम्भावना रहती हो।

उपरोक्त चारों प्रकार की द्रव्य हिंसा वस्तुतः गृहस्थ समूह के द्वारा की जाती है इस प्रकार की होनी वाली हिंसात्मक व्यापारों के प्रति सावधानी रखने वाला प्राणी अणुव्रत साधना के अन्तर्गत आता है। इसके अतिरिक्त इस दिशा में जो सूक्ष्म स्वरूप पर आचरण करता है वह प्राय. संत साधक समाजी कहा जाता है। उसे सामान्यत. महाव्रत के साधना समुदाय का अग कहा जा सकता है।

हिंसा पर विजय पाने के लिए जितना कष्ट सहना पड़े वह सब सहा जाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर तपस्या का विकास हुआ है। इन्द्रिय और मन को जीते बिना कोई अहिंसा जीवन मे नही आ सकती। इनकी विजय के लिए वाह्य वस्तुओ, विषयो का त्याग आवश्यक है।

जैन धर्म मे इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए अपरिग्रह वाद का प्रवर्तन किया गया है। परिग्रह के साधारणत अर्थ है संग्रह करना। जैन धर्म समता पर बल देता है ममता पर नही। पर-पदार्थ के प्रति जो ममत्व भाव उत्पन्न होता है उससे ही सग्रह की भावना उत्पन्न होती है। ममता का मूलाधार अज्ञानता है। अज्ञानी स्व-पर भेद से किसी वस्तु का सही-सही मूल्यांकन नही करता। अहिंसक कभी अज्ञानी नही हो सकता। इसीलिए अहिंसक पेट भरने की बात कहता है, पेटी भरने की नही। पेटी भरना ही तो परिग्रहवादिता है।

मत परिग्रह कर यहां कुछ थिर नही है,
व्यर्थ है सग्रह, जरूरत चिर नही है।
हो सकी अपनी न दौलत रूप सी भी,
मौत से पहिले निजी तन, फिर नही है॥

अहिंसक सदा अपरिग्रही होता है। आवश्यकता से अधिक पदार्थ संग्रह में उसे आसक्ति नही रहती आसक्ति वस्तुतः अबोध का परिणाम है। आसक्ति बुराई है। बोध होने पर बुराई दुहराई नहीं जाती।

आत्मानुशासन में कहा है कि धर्म पवित्र आत्मा मे ठहरता है। अहिंसा एक धर्म है। व्यवहार की भाषा में वह पवित्र आत्मा मे उद्भूत होती है और निश्चय की भाषा मे आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही पवित्रता है और वही अहिंसा है। आज अपेक्षा है जहां हिंसा की रौरवी पिशाचनी मुह बाए मानवता को निगलना चाहती है, अहिंसा के निरूपण, उस पर चर्चन, विमर्षण और बौद्धिक विश्लेषण के क्रम से आगे बढाया जाए ताकि लोक श्रद्धा जो हिंसा में गहरी पैठती जा रही है, अहिंसा पर टिकने को समग्रित हो।

महात्मा ईशु, अहिंसा पालन करने का निदेश देते हैं। वैदिक विश्व मे और इस्लामी दुनिया मे भी अहिंसात्मक प्रवृत्ति की अनुशसा की गई है। इन सभी मान्यताओं मे मनुष्य गति की श्रेष्ठता सर्वोपरि है। यह धारणा है भी ठीक। इसीलिए यहां मनुष्य हित को सर्वोपरि समझा जाता है। मनुष्य हित में यदि तिर्यंचादिक गतियों के जीवों का घात होना है तो यहा प्राय. उसे करने की स्वीकृति दी जाती है। इसके विपरीत जैन धर्म मे स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य गति अन्य सभी गतियो की तुलना मे नि:सन्देह श्रेष्ठ है तथापि मनुष्य की सुख-सुविधा हेतु यहा अन्य जीव धारियो का घात करने की अनुमति और स्वीकृति कदापि नही दी गई है। विचार कर देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि जीव चाहे किसी भी श्रेणी का हो, मलीन हो, दीन हो अथवा कुलीन और प्रवीण हो, कष्ट कोई भी भोगना नहीं चाहता। सभी गतियों के जीव सुख की आकांक्षा रखते है। जीव घात किए बिना मनुष्य गति को सुख-सुविधा, प्रदान करने का प्रयत्न जैन धर्म मे प्रारम्भ से ही रहा है। यहां स्पष्ट धारणा रही है कि हम स्वय जिएं और दूसरों को जीने दें।

विश्व की अन्य अनेक धार्मिक मान्यताओं द्वारा व्यक्ति उदय और वर्गोदय की व्यवस्था संजोयी गई है जबकि जैन धर्म में व्यक्ति ही नही, कोई वर्ग विशेष ही नही अपितु प्राणी मात्र के उन्नयन हेतु सन्मार्ग प्रशस्त किया गया है। विचार कर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कितनी व्यापक और उदात्त भावना है। इसी विराट् भावना के बल बूते पर जैन धर्म को विश्व धर्म के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

—पीली कोठी आगरा रोड, अलीगढ़, पिन २०२००१

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

☐ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, साहित्याचार्य, उज्जैन

परिचय और उपाधि—

विक्रम की ११वी शताब्दी में एक अत्यन्त प्रतिभाशाली जैनाचार्य हुए जिनका नाम नेमिचद्र है। ये, दिगम्बर जैनागम 'षट् खण्डागम' और उसकी 'धवला' और जय धवला' टीकाओं के पारगामी विद्वान् थे। इसी कारण उन्हे 'सिद्धांत चक्रवती' की महनीय उपाधि प्राप्त हुई थी। उन्होने धवल-सिद्धान्त का मथन करके 'गोम्मटसार' तथा जय धवल-सिद्धान्त का मथन करके 'लब्धिसार' नामक ग्रन्थों की रचना की।

गोम्मटसार ग्रन्थ के कर्मकाण्ड मे, उन्होंने लिखा है कि "जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न से भारत वर्ष के छह खण्डो को निर्विघ्न स्वाधीन कर लेता है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-रूपी चक्र से षट्खण्डागम सिद्धान्त को सम्यक् रीति से साधा।"

"जह चक्केण य चक्की छक्खण्ड साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खण्ड साहिय सम्म ॥३९७॥"

संभवत. विद्वानों को, आचार्य नेमिचन्द्र के लिए इस उपाधिदान की प्रेरणा, जय धवला प्रशस्ति के उस श्लोक से प्राप्त हुई होगी जिसमे वीरसेन स्वामी के लिए कहा गया है कि "भरत चक्रवर्ती की आज्ञा की तरह जिनकी भारती षट्खण्डागम मे स्खलित नही हुई।"[1]

"भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत्।"
(जय धवला प्रशस्ति-२०)

आचार्य नेमिचन्द्र के गुरु—

आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गुरओं के नामो का उल्लेख, स्पष्ट रूप से, अपने ग्रन्थों मे किया है। तदनुसार, आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, उनके गुरु है। कर्मकाण्ड में एक स्थान पर कहा गया है कि "जिनके चरणो के प्रसाद से वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि का वत्स्य (शिष्य), अनन्त संसार रूपी समुद्र से पार हो गया उस अभयनन्दि गुरु को मै नमस्कार करता हूं।"

"जस्स य पायपसाएणणंतससारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि त अभयणंदिगुरुं ॥"
(कर्मकाण्ड—४३६)

इसी प्रकार कर्मकाण्ड में अन्यत्र (गाथा नं० ७८५) तथा लब्धिसार (गाथा न० ६४८) मे भी उन्होने अपने तीनो गुरुओ को प्रणाम किया है।

चामुण्डराय और उनके गुरु आचार्य नेमिचन्द्र—

चामुण्डराय, गगवशी राजा रायमल्ल (राचमल्ल) के प्रधानमत्री एव सेनापति थे। उन्होने अनेक युद्ध जीते और उसके उपलक्ष्य मे वीरमार्तण्ड, रणरंगमल्ल आदि अनेक उपाधिया प्राप्त की।

इसे एक आश्चर्य ही समझना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने यौवन के प्रभातमे प्रबल शक्तिशाली राजाओं से युद्ध कर विजय प्राप्त करता रहा, वही अपने जीवन की संध्या में आचार्य नेमिचन्द्र सदृश गुरुओं के पारस का स्पर्श पाकर कैसे एक अध्यात्मिक भक्त, सन्त, निर्माता और साहित्यकार बन गया?

नि सन्देह, चामुण्डराय अत्यन्त गुणी पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवन मे चार महान् कार्य किए! प्रथम—श्रवण-बेलगोला स्थान पर, चन्द्रगिरि पर्वत पर चामुण्डराय वसति नामक जिनालय का निर्माण और उसमें इन्द्रनीलमणि की एक हाथ ऊँची भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा की स्थापना, जो अब अनुपलब्ध है। द्वितीय—शक सवत् ९०० (वि०सं० १०३५) मे चामुण्डराय पुराण की रचना। तृतीय—गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार ग्रन्थ पर 'वीर मार्तण्डी' नामक देशी भाषा (कनडी) मे टीका और चतुर्थ—श्रवणबेलगोला में विन्ध्यगिरि पर, संसार का अद्भुत शिल्प वैभव एव महान् आश्चर्य बाहुबली स्वामी की सत्तावन

फीट ऊँची, विशाल, भव्य एवं अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा की निर्मिति।

चामुण्डराय का घर का नाम 'गोम्मट' था यह बात डॉ० आ० ने० उपाध्याये ने अपने एक लेख में सप्रमाण सिद्ध की है। उनके इस नाम के कारण उनके द्वारा स्थापित बाहुबली की मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' के नाम से ख्यात हुई। डॉ० उपाध्ये ने 'गोम्मटेश्वर का अर्थ किया है— गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय का ईश्वर अर्थात् देवता। इसी कारण से विन्ध्यगिरि की, जिम पर गोम्मटेश्वर की मूर्ति स्थापित है, 'गोम्मट' कहा गया है। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डराय के लिए नेमिचन्द्राचार्य ने अपने गोम्मटसार नामक समग्र ग्रन्थ की रचना की। इसी कारण ग्रन्थ को 'गोम्मटसार' सज्ञा प्राप्त हुई।[१]

मेरे मित्र डा० देवेन्द्रकुमार जैन ने गोम्मटेश्वर का एक दूसरा अर्थ किया है। वे लिखते है[१] कि—"उन्हे गोम्मटेश्वर इसलिए कहा जाता है कि वह गोमट् यानी प्रकाश से युक्त थे, प्रकाशवानों के ईश्वर गोम्मटेश्वर। दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि साधनाकाल मे लता-गुल्मो के चढ़ने से वह 'गुल्ममत्' हो गए 'गोम्मट' उमी का प्राकृत शब्द है।

जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका (पृ० ३) की उत्थानिका में शब्द लिखे हैं उनसे उनके अप्रतिम व्यक्तित्व का सहज बोध हो जाता है—"श्रीमद्प्रतिहतप्रभावस्याद्वाद शासन गुहाभ्यंतर निवासि···तद्गोम्मटसार प्रथमावयवभूतं जीवकाण्डं विरचयन्।"

अर्थात्—"गगवंश के ललामभूत श्रीमद् राजमल्लदेव के महामात्य पद पर विराजमान, रणरगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्नभूषण, सम्यक्त्वरत्ननिलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के अर्थ का संग्रह करने के लिए गोम्मटसार नाम वाले पंचसग्रह शास्त्र का प्रारभ करते हुए, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मगल पूर्वक गाथा सूत्र कहते है।"

चामुण्डराय के लिए यह कितने सौभाग्य की बात है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जैसे मनीषी गुरु ने, न केवल गोम्मटसार अपितु त्रिलोकमार की भी रचना उनके प्रतिबोधनार्थ की। त्रिलोकसार के संस्कृत टीकाकार माधवचन्द्र त्रैविद्य ने त्रिलोकसार की प्रथम गाथा की उत्थानिका में लिखा है—"भगवन्नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेनाशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थ त्रिलोकसारनामान ग्रन्थमारचयन्।"

जीवकाण्ड के अन्त की गाथा (नं० ७३५) में ग्रन्थकार ने कहा है—'आर्य आर्यसेन के गुण समूह को धारण करने वाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु है वह राजा गोम्मट जयवन्त हो।' इसी प्रकार कर्मकाण्ड के अन्त की कुछ गाथाओ (अत की कुछ गाथाओं (नं० ९६६ से ९७२) के के द्वारा, आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मट राजा चामुण्डराय का जयकार किया है और उनके द्वारा किए गए कार्यों की भी प्रशंशा की है—

"गणधरदेव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियों के गुण जिसमे निवास करते है. ऐसे अजितसेननाथ जिसके गुरु है, वह राजा जयवन्त हो ॥९६६॥ सिद्धान्तरूपी उदयांचल के तट से उदय को प्राप्त निर्मल नेमिचन्द्र रूपी चन्द्रमा की किरणों से वृद्धिगत, गुणरत्नभूषण, चामुण्डराय रूपी समुद्र की बुद्धि रूपी वेला भुवनतल को पूरित करे ॥९६७॥ गोम्मट सग्रहसूत्र (गोम्मटसार), गोम्मट शिखर पर स्थित गोम्मटजिन और गोम्मटराज के द्वारा निर्मित कुक्कुटजिन जयवन्त हो ॥९६८॥ जिसके द्वारा निर्मित प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवो द्वारा तथा सर्बाधिज्ञान के धारक योगियो के द्वारा देखा गया है, वह गोम्मट जयबन्त हो ॥९६९॥ स्वर्णकलशयुक्त जिनमन्दिर मे, त्रिभुवनपति भगवान् की माणिक्यमयी प्रतिमा की स्थापना करने वाला राजा जयवन्त हो ॥९७०॥ जिसके द्वारा खड़े किए गए स्तम्भ के ऊपर स्थित यक्ष के मुकुट के किरणरूपी जल से सिद्धों के शुद्ध पाँव धोए गए, वह राजा गोम्मट जयवन्त हो ॥९७१॥ गोम्मटसूत्र के लिखते समय जिस गोम्मट राजा ने देशी भाषा मे जो टीका लिखी, जिसका नाम वीरमार्तण्डी है, वह राजा चिरकाल तक जयवन्त हो ॥९७२॥"

विन्ध्यगिरि पर बाहुबली की प्रतिमा—

चामुण्डराय ने श्रवणवेलगोला की विन्ध्यगिरि की पहाडी पर सत्तावन फुट ऊँची जिस अतिशययुक्त मनोहारी

प्रतिमा का निर्माण कराया, वह उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

सम्राट् भरत ने अपने अनुज, बाहुबली की कठोर तपस्या की स्मृति मे उत्तर भारत मे एक मनोज्ञ प्रतिमा की स्थापना की थी। कुक्कुट सर्पो से व्याप्त हो जाने के कारण वह 'कुक्कुट जिन' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उत्तर भारत की मूर्ति से भिन्नता बतलाने के लिए चामुण्डराय द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिण कुक्कुट जिन' कहलाई। कर्मकाण्ड गाथा ६६६ में इस प्रतिमा की ऊँचाई को लक्ष्य मे रख कर ही नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि "उस प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवों ने देखा है।"—

"जेण विणिम्मिय पडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठ सो गोम्मटो जयउ॥"
—कर्मकाण्ड-गाथा न० ६६६)

प्रतिमा स्थापना का समय—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गाथा न ९६८ तथा ९६९) मे चामुण्डराय के द्वारा 'गोम्मट जिन' की प्रमिा की स्थापना का निर्देश है। अत: यह निश्चित है कि गोम्मटसार की समाप्ति गोम्मट-प्रतिमा की स्थापना के पश्चात् हुई। किन्तु मूर्ति के स्थापनाकाल को लेकर इतिहासज्ञो मे बडा मतभेद है। बाहुबलि चरित्र में "कल्पयब्दे षट्शताख्ये···"इत्यादि श्लोक मे चामुण्डराज द्वारा वेल्गुल नगर मे 'गोमटेश' की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सवत् ६००, विभव सवत्सर, चैत्र शुक्ल पंचमी, रविवार, कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्र, बताया है।

किन्तु उक्त तिथि कब पड़ती है इस सबध मे अनेक मत है। प्रो० एस० सी० घोषाल ने ज्योतिष् शास्त्र द्वारा परीक्षण के आधार पर उक्त तिथि को २ अप्रैल ९८० माना है।[४]

ज्योतिषाचार्य डॉ० नेमिचन्द्र जी,[५] भारतीय ज्योतिष् के अनुसार उक्त तिथि, नक्षत्र, लग्न, सवत्सर आदि को १३ मार्च सन् ९८१ मे घटित मानते है।

प्रो० हीरालाल जी के अनुसार २३ मार्च १०२८ सन् में उक्त तिथि वगैरह ठीक घटित होती है।[६] किन्तु शाम शास्त्री ने उक्त तिथि को ३ मार्च १०२८ सन् बताया है।

एस० श्रीकण्ठ शास्त्री 'कल्कयब्दे' के स्थान पर 'कल्यब्दे पाठ ठीक मानकर उक्त तिथि के वर्ण को ९०७-८ ई० निर्धारित करते है।[७] सिद्धान्त शास्त्री पं० कैलाशचन्द्र जी अपनी साहित्यिक छान-बीन के आधार पर, मूर्ति-स्थापना का समय ९८१ ई० (विक्रम सं० १०३८) उपयुक्त मानते हैं।[८]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानो के मतानुसार बाहुबली की प्रतिमा का स्थापना काल ई० ९०७ से लेकर ई० १०२८ तक, लगभग १२१ वर्ष के मध्य झूल रहा है। मुझे तो ज्योतिष शास्त्र के अनुसार परीक्षण किए गए डॉ० घोषाल और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के ९८०-९८१ ई० वाले मत उपयुक्त जान पडते है। इस मत मे प० कैलाशचन्द्र जी की भी सहमति है।

आचार्य नेमिचन्द्र की रचनाएँ—

आचार्य नेमिचन्द्र की प्राकृत गाथाओं मे रचित पाँच रचनाएँ प्रसिद्ध है। इनमें केवल द्रव्य सग्रह को छोड कर शेष चार रचनाओ—गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रैलोक्यसार (त्रिलोकसार) की रचना का उल्लेख है—

"श्रीमद्गोमटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रोमुनि.॥"

इसी प्रकार द्रव्य-सग्रह की अन्तिम गाथा मे मुनि नेमिचन्द्र द्वारा उसकी रचना किए जाने का उल्लेख है—
"दव्वसगहमिण मुणिणाहा···णेमिचन्द्र मुणिणा भणिय ज"
—(द्रव्यसग्रह ५८)

गोम्मटसार—

नाम—इस ग्रन्थ के चार नाम पाए जाते है—गोम्मट सगहसुत्त, गोम्मटसुत्त, गोम्मटसार और पंचसग्रह।

गोम्मटसंगहसुत्त एवं गोम्मटसुत्त नामों का प्रयोग स्वय ग्रन्थकार ने कर्मकाण्ड की ९६८वी तथा ९७२वी गाथाओं मे किया है। गोम्मटसार नाम का प्रयोग अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है। इसी टीका मे ग्रन्थ का नाम पंचसंग्रह भी उपलब्ध होता है।

पंचसग्रह, नाम का कारण बताते हुए प्रो० घोषाल[९] ने लिखा है कि इसमे, बन्ध, बन्ध्यमान, बन्धस्वामी, बन्ध-हेतु और बन्धभेद इन पाँच बातो का संग्रह होने के कारण ही इसका नाम पचसग्रह है। सिद्धान्त शास्त्री

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने पंचसग्रह नाम का कारण बता ते हुए लिखा है कि "सभवतया टीकाकारों ने अमितगति के पंचसंग्रह को देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमे देख कर इसे यह नाम दिया है।"[९]

गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय के प्रतिबोधन के निमित्त लिखे जाने के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' पड़ा। विद्वान् इसका रचना काल वि० सं० १०४० के लगभग मानते हैं।

विषयवस्तु-जीवकाण्ड—

गोम्मटसार के दो भाग है—प्रथम जीवकाण्ड और द्वितीय कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड की गाथा संख्या के विषय मे मतभेद है। कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जीवकाण्ड की गाथाओ की सख्या ७३४ लिखी है है, जबकि डॉ० घोषाल[११] और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[१२] ने इसकी गाथाओ की सख्या ७३३ लिखी है। वस्तुत. गाथा सख्या ७३४ ही है। भूल का कारण यह है कि जीवकाण्ड के गाधी नाथारग जी, बबई वाले संस्करण तथा रायचन्द्र शास्त्रमाला, बबई वाले सस्करणों इन दोनो संस्करणो मे गाथा सख्या ७३४ के स्थान पर ७३३ लिखी गई है। क्योंकि प्रथम संस्करण में दो गाथाओं पर २४७ न० पड गया है तथा द्वितीय सस्करण म प्रमादवश १४४ नं० की गाथा छूट गई है।

जैसा कि नाम से व्यक्त है इसमे जीव का कथन है। ग्रन्थकार ने जीवकाण्ड की प्रथम गाथा मे "जीवस्स परूपण वोच्छ" कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है कि इसमे जीव का प्ररूपण है। जीवकाण्ड की द्वितीय गाथा मे उन बीस प्ररूपणाओं (अधिकारो) को गिनाया है जिनके द्वारा जीव का कथन इस ग्रन्थ में किया गया है। ये बीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग।

यहाँ यह बात जानने योग्य है कि गोम्मटसार एक सग्रह ग्रन्थ है। कर्मकाण्ड की गाथा नं० ९६५ मे आए 'गोम्मटसंग्रह सुत्त' नाम से भी यह स्पष्ट है। जीवकाण्ड का संकलन मुख्य रूप से पंचसंग्रह के जीवसमास अधिकार, तथा षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड, जीवट्ठाण के सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारो की धवला टीका के आधार पर किया गया है।

जीवकाण्ड का संकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसी से दिगम्बर साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

कर्मकाण्ड—

गोम्मटसार के दूसरे भाग का नाम कर्मकाण्ड है। इसकी गाथा संख्या ९७२ है। इसमें नौ अधिकार है—१. प्रकृति-समुत्कीर्तन, २. बन्धोदयसत्त्व, ३. सत्त्वस्थानभङ्ग, ४. त्रिचूलिका, ५. स्थानसमुत्कीर्तन, ६. प्रत्यय, ७. भाव-चूलिका, ८. त्रिकरणचूलिका और ९. कर्मस्थिति रचना। इन नौ अधिकारो मे कर्म की विभिन्न अवस्थाओ का निरूपण किया गया है।

सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने एक महत्त्वपूर्ण बात कर्मकाण्ड के विषय मे कही है। इसके गाथा न० २२ से ३३ तक की गाथाओ मे कुछ असम्बद्धता या अपूर्णता प्रतीत होती है। मूडबिद्री से प्राप्त ताडपत्रीय कर्मकाण्ड की प्रतियो मे इन गाथाओ के बीच मे कुछ सूत्र, गद्य मे पाए जाते है। मूडबिद्री की प्रति मे पाए जाने वाले इन सूत्रो को यथास्थान रख देने से कर्मकाण्ड की गाथा नं० २२ से ३३ तक की गाथाओ मे जो असम्बद्धता और अपूर्णता प्रतीत होती है, वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसगत प्रतीत होती है।

प० कैलाशचन्द्र जी का एक महत्त्वपूर्ण सुझाव है कि मूडबिद्री की प्रति में वर्तमान गद्य-सूत्र अवश्य ही कर्मकाण्ड के अग है और वे नेमिचन्द्राचार्य की कृति है। कर्मकाण्ड की मुद्रित सस्कृत-टीका मे उन सूत्रो का सस्कृत रूपान्तर अक्षरश. पाया जाना भी इस बात की पुष्टि करता है। उन सूत्रो को यथास्थान रखने से कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति हो जाती है।[१]

टीकाएँ—

गोम्मटसार पर संस्कृत मे दो टीकाएँ लिखी गई हैं—प्रथम—नेमिचन्द्र द्वारा 'वीर मार्तण्डी टीका' और द्वितीय—'केशव वर्णीकृत 'केशववर्णीया वृति'

'वीरमार्तण्ड' चामुण्डराय की उपाधि थी, अत: 'वीरमार्तण्डी' का अर्थ हुआ चामुण्डराय द्वारा निर्मित टीका। यह टीका आजकल उपलब्ध नही है, किन्तु इसका उल्लेख दो स्थानो पर प्राप्त होता है—प्रथम, कर्मकाण्ड

की गाथा न० ९७२ मे तथा द्वितीय केशववर्णी या वृत्ति की प्रारम्भिक गाथा मे। कर्मकाण्ड की गाथा न० ९७२ इस प्रकार है—

"गोम्मट सुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्तण्डी॥"

केशववर्णीया वृत्ति की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

"नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्री ज्ञान भूषणम्।
वृत्ति गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तित॥"

यहा 'कर्णाटवृत्तित' पद से अभिप्राय, चामुण्डराय द्वारा लिखित कर्मकाण्ड की कन्नड टीका से है।

लब्धिसार—क्षपणासार

लब्धिसार और क्षपणासार को गोम्मटसार का ही उत्तर भाग समझना चाहिए। प्राकृत गाथाओ मे निबद्ध दोनो ग्रन्थों की सम्मिलित गाथा-सख्या ६५३ है।" डॉ० घोषाल ने लब्धिसार की गाथा-सख्या ३८० तथा क्षपणासार कीगाथा-सख्या २७०, इस प्रकार कुल गाथा-सख्या ६५० लिखी है। वस्तुत गाथा सख्या ६५३ ही है। गाथाओ की विभिन्नता का कारण यह है कि रायचन्द्र शास्त्रमाला बबई वाले संस्करण मे गाथाओ की सख्या ६४९ है, क्योंकि उसमे गाथा न० १५६, १६७, २७८, तथा ५३१ नही है ये चार गाथाएँ हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला से प्रकाशित सस्करण (शास्त्राकार) मे सम्मिलित कर दी गई है। डॉ० घोषाल ने गाथाओ की सख्या ६५० किस आधार पर लिखी है, यह बात विचारणीय है।

यहा यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि लब्धिसार और क्षपणासार, दोनो एक ही ग्रन्थ है। जैसे इस ग्रन्थ की प्रथम गाथा में ग्रन्थकार ने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि को करने की प्रतिज्ञा की है, वैसे ही अतिम गाथा (६५२) मे भी कहा है कि—"नेमिचन्द्र ने दर्शन और चरित्र की लब्धि भले प्रकार कही।" ढुढारी भाषा टीकाकार प० टोडरमल ने भी लिखा है कि—"लब्धिसार नामक शास्त्र विषे कही।" अत. इस ग्रन्थ का नाम लब्धिसार ही है।

टीकाकार नेमिचन्द्र की संस्कृत-टीका, गाथा न० ३९१ तक पाई जाती है, जहाँ तक चारित्र-मोह की उपशमना का कथन है। चरित्र मोह की छपणा वाले भाग पर संस्कृत टीका नही है।

श्री माधवचन्द्र आचार्य ने 'क्षपणासार' नामक एक अन्य ग्रन्थ सस्कृत गद्य मे लिखा है। इस ग्रन्थ और नेमिचन्द्र के प्राकृत-गाथाओ वाले 'क्षपणासार' का विषय एक ही है। सभवत इसी कारण लब्धिसार के उत्तर-भाग का नाम क्षपणासार दे दिया गया है।

विषयवस्तु—

गोम्मटसार के जीवकाण्ड मे जीव का, कर्मकाण्ड मे जीव द्वारा बाधे जाने वाले कर्मो का और लब्धिसार मे जीव के कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय तथा प्रक्रिया बताई गई है।

मोक्ष की प्राप्ति के कारणभूत सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति का कथन होने के कारण ग्रन्थ का नाम लब्धिसार है।

"सम्यग्दर्शनचारित्रयोर्लब्धि प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसाराख्यो ग्रन्थ।" --(लब्धिसार टीका)

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कथन है। उसकी प्राप्ति पाँच लब्धियो के होने पर होती है। वे है—क्षयोपशम, विशुद्धि देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि।

गाथा न० ३९१ तक चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम करने का कथन है। उसके आगे चारित्र मोह की क्षपणा का कथन है। क्षपणा के अन्तर्गत जो क्रियाये होती है उन्ही को आधार बना कर चारित्र मोह की क्षपणा के अधिकारो का नामकरण किया गया है। वे अधिकार है—अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण— ये तीन करण, बन्धा-पसरण और सत्त्वापसरण—ये दो अपसरण, क्रमकरण, कषायो आदि की क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, सक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण,कृष्टिकरण और कृष्टि अनुभवन (गाथा ३९२)। इन्ही अधिकारो के द्वारा उस क्रिया का कथन किया गया है।

गोम्मटसार की तरह लब्धिसार भी एक संग्रह ग्रन्थ है। दोनो मे खट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला-टीका का सार ही सगृहीत नही किया गया है, प्रत्युत उनसे तथा पंचसग्रह से बहुत-सी गाथाए भी सगृहीत की गई है। सग्रह होने पर भी इनकी अपनी विशेषता ध्यान देने योग्य है।

इसी विशेषता के कारण गोम्मटसार और लब्धिसार की रचना के पश्चात्, षट्खण्डागम और कषाय पाहुड के साथ उनकी टीका धवला और जयधवला को भी लोग भूल गए, और उत्तरकाल मे इन सिद्धान्त-ग्रन्थों को जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वही स्थान नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार लब्धिसार को प्राप्त हो गया।

त्रिलोकसार—

गोम्मटसार के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ही त्रिलोकसार ग्रन्थ के रचयिता है। यह बात स्वय ग्रन्थकार ने त्रिलोकसार की अंतिम गाथा मे इस प्रकार कही है —

"इदि णेमिचदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु त बहुसुदाइरिया॥"
—(त्रिलोकसार-१०२८)

त्रिलोकसार पर माधवचन्द्र त्रैविद्य ने एक संस्कृत-टीका लिखी है जिसकी भूमिका मे उन्होने इस बात का निर्देश किया है कि यह ग्रन्थ चामुण्डराय के प्रतिबोधन के लिए लिखा गया है। टीका के अन्त मे प्रशस्ति की एक गाथा मे यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की कुछ गाथाएं स्वय मेरे द्वारा रची गई है और गुरु नेमिचन्द्राचार्य की सम्मतिपूर्वक इस ग्रन्थ मे समाविष्ट कर दी गई है—

गुरु-णेमिचद-समद कदिवय-गाहा तहिं तहिं रइया।
माहवचदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं॥"

इस प्रकार त्रिलोकसार सहकारपूर्व—परंरचित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० स० ११वीं शती के मध्य हुई।

विषय वस्तु—

त्रिलोकसार करणानुयोग का ग्रन्थ है। प्राकृत मे रचित इसकी गाथाओ की सख्या १०१८ है। इसके छह अधिकार है—लोकसामान्य, भावनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिक लोक और नरतिर्यक्लोक।

इन छह अधिकारो के माध्यम से त्रिलोकसार मे जिन बातो का वर्णन किया है वे इस प्रकार है—तीनो लोको का साङ्गोपाङ्ग वर्णन—यथा नरक और नारकियो का वर्णन, चारो प्रकार के देवताओ के भेद, प्रभेद, उनके रहने के स्थान, आवास, भवन, आयु, परिवार, विमान, गति आदि का वर्णन तथा जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मनुष्यक्षेत्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन। इसमे सब प्रकार के माप तथा मापने की विधि का भी वर्णन है।

द्रव्यसंग्रह—

मुनि नेमिचन्द्र रचित, द्रव्यसग्रह नाम का, एक छोटा-सा प्राकृत भाषा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमे केवल अट्ठावन गाथाएं है। फिर भी टीकाकार ब्रह्मदेव ने इसका नाम 'बृहद्द्रव्यसग्रह' लिखा है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व, ग्रन्थकर्ता द्वारा एक 'लघु द्रव्य सग्रह' का निर्माण हो चुका था जिसकी गाथा सख्या २६ थी। ग्रन्थ की अन्तिम गाथा मे ग्रन्थकार ने अपना तथा ग्रन्थ का नाम इस प्रकार दिया है—

"दव्वसगहमिण मुणिणाहा दोससंचयचुदासुदपुण्णा।
सोधयन्तु तणुसुत्तधरेण णेमिचदमुणिणा भणिय ज॥"

इस ग्रन्थ के ऊपर ब्रह्मदेव रचित एक सम्कृतवृत्ति है। इसके प्रारभ मे वृत्तिकार ने ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा है कि —"अथ मालवदेशे धारा नाम नगराधिपति-राजभोजदेवाभिधान · श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्व षड्-विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रह कृत्वा पश्चाद् विशेषतत्त्व-परिज्ञानार्थ विरचितस्य बृहद्द्रव्यसग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वक-त्वेनवृत्ति प्रारभ्यते।" अर्थात्—

"मालवदेश मे धारानगरी का स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ राजा भोज था। उसमे सबद्ध मण्डलेश्वर श्रीपाल के आश्रम नामक नगर मे श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के चैत्यालय मे भाण्डागार आदि अनेक नियोगो के अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठी के लिए, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने पहले २६ गाथाओ के द्वारा 'लघुद्रव्यसग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा, पीछे विशेष तत्त्वो के ज्ञान के लिए 'बृहद्द्रव्यसग्रह' नामक ग्रन्थ रचा। उसकी वृत्ति को मै प्रारम्भ करता हू।"

ग्रन्थ का कर्तृत्व—

इस ग्रन्थ का कर्तृत्व विवादग्रस्त है। सामान्यतः, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को ही द्रव्यसंग्रह का रचयिता माना जाता रहा है। श्री डॉ० शरच्चन्द्र घोषाल ने भी द्रव्यसग्रह के अग्रेजी अनुवाद (आरा सस्करण) की भूमिका मे इसे इन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कृति बताया है।

किन्तु प० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्रव्यसंग्रह के

रचयिता को गोम्मटसार के रचयिता से भिन्न मानते है। अपनी पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावना पृ० ९२-९४) मे उन्होंने दोनों की भिन्नता के निम्नलिखित कारण दिए है—

१. द्रव्यसंग्रह के कर्ता का सिद्धान्त चक्रवर्ती पद सिद्धान्ती या सिद्धान्तिदेव पद से बडा है।

२. गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र ने अपने ग्रन्थों मे अपने गुरु या गुरुओ का नामोल्लेख अवश्य किया है। परन्तु द्रव्य संग्रह मे वैसा नही है।

३. टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका की प्रस्तावना मे जिन नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव को द्रव्यसग्रह का कर्ता बताया है उनका समय धाराधीश भोजकालीन होने से ई० की ११वी शती है, जबकि चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र का समय ई० की १०वी शती है।

४. द्रव्यसग्रह के कर्ता ने भावास्रव के भेदो मे प्रमाद को भी गिनाया है और अविरति के पाँच तथा कषाय के चार भेद ग्रहण किए है। परन्तु गोम्मटसार के कर्ता ने प्रमाद को भावास्रव के भेदो मे नही गिनाया और अविरत (दूसरे ही प्रकार से) के बारह और कषाय के २५ भेद स्वीकार किए है।

इस सबंध मे एक बात और कही जा सकती है कि सिद्धान्त-चक्रवर्ती द्वारा रचित चार ग्रन्थ 'सारान्त' है, जैसे गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि। यदि द्रव्यसग्रह भी उनके द्वारा रचित है तो इस बात की सहज कल्पना की जा सकती है कि द्रव्यसग्रह के स्थान पर इसका नाम भी 'द्रव्यसार' होना चाहिए था।

प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत से सहमत होते हुए लिखा है कि" मुख्तार साहब के द्वारा उपस्थित किए गए चारो ही कारण सबल हैं। अत: जब तक कोई प्रबल प्रमाण प्रकाश में नही आता तब तक द्रव्यसग्रह को सिद्धात चक्रवर्ती की कृति नही माना जा सकता।

टीका:—

द्रव्यसग्रह पर ब्रह्मदेव रचित सस्कृत वृत्ति के अतिरिक्त, प्रसिद्ध दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने भी एक सक्षिप्त वृत्ति लिखी है, जिसमे प्रत्येक गाथा के खडान्वय के साथ सस्कृत मे शब्दार्थ मात्र दिया गया है। इसमे अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी स्वल्प है। इसकी हिन्दी टीकाएँ अनेक हैं। बाबू सूरजभान जी वकील की हिन्दी-टीका अपेक्षाकृत अन्य हिन्दी टीकाओं से अच्छी है।

विषयवस्तु—

इसके तीन अधिकार है—प्रथम अधिकार मे २७ गाथाओं मे छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय का वर्णन है, द्वितीय अधिकार मे, ग्यारह गाथाओ मे सात तत्त्व और नौ पदार्थो का वर्णन है तथा तृतीय अधिकार मे बीस गाथाओ में मोक्षमार्ग का निरूपण है। इन्ही तीनो अधिकारो के अन्तर्गत इसमे चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणा, द्वादश:-अनुप्रेक्षा, तीन लोक, व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन, तीन मूढता, आठ अग, छह अनायतन, द्वादशाङ्ग, व्यवहार तथा निश्चय चारित्र, ध्यान तथा उसके चार भेद तथा पच परमेष्ठी का वर्णन है।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, षट्खण्डागम-कषायपाहुड-धवला-जय धवला प्रभृति सिद्धान्त ग्रन्थो और उनकी टीकाओं के पारगामी प्रकाण्ड मनीषी, गोम्मटसारादि सिद्धात ग्रथो के प्रणेता, वीरमार्तण्ड—रणरगमल्ल-महामात्य सेनापति—अध्यात्म जिज्ञासु विद्वत्प्रवर शास्त्र प्रणेता टीकाकार गोम्मटेश प्रतिमा के स्थापयिता चामुण्डराय वसदि (जिन मन्दिर) के निर्माता चामुण्डराय के गुरु एव अत्यत प्रतिभाशाली पुण्य पुरुष थे।

निबधक .
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, 'जैन साहित्य का इतिहास' (जै० सा० इ०) प्रथम भाग, पृ० ३८२, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला वीर नि० स०, २५०२

२. सि० प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जै० सा० इ०, वर्णी जैन ग्रथमाला, पृ० ३९२।

३. 'सन्मतिवाणी' पत्रिका, इन्दौर मे (वर्ष १०, ४-५, अक्टूबर-नवम्बर १९८०) डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का लेख 'गोम्मटेश्वर बाहुबली' पृ० २३।

(शेष पृष्ठ टा० पृ० ३ पर)

जरा सोचिए !

१. आखिर, यश का क्या होगा ?

कहने को यश का बहुत बडा स्थान है, पर वास्तव में यश है कुछ भी नही । आज और पहिले भी लोग यश-अर्जन के लिए बहुत कुछ करते रहे है । अपनी सामाजिक, अन्य-अन्य उपकरणो सबधी आवश्यकताओ की पूर्ति के इच्छुक लोग प्राय. कह दिया करते है—तू नही तो तेरा नाम तो रहेगा, नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायगा, फोटो छपेंगे आदि । और मानव है कि यश के लालच मे आकर अपना सर्वस्व तक देने को तैयार हो जाता है । इतना ही क्यो ? आज तो लोगो मे होड लग रही है । यश-अर्जन में एक को दूसरा पीछे छोडना चाहता है । कोई एक लाख देता है तो दूसरा दो लाख उसी यश के लिए देने को तैयार है—वह ऊँचा हो जायगा । त्याग, तप, सेवा, प्रभावना आदि जैसे धार्मिक कार्यों के लिए सन्नद्ध व्यक्ति भी 'यश' रोग के शमन करने में असमर्थ अधिक देखे जाते है ।

लोगो में आज जो यह दान की प्रवृत्ति आप देखते है वह सभी उपकार और कर्तव्य की भावना से हो ऐसा सर्वथा तो नही है, अधिकाश धार्मिक कार्य और दानादि कार्य यश-कामना और मनौतियो की पूर्ति के लिए किए जाने लगे है । तीर्थ यात्रा भी मनौतियो तथा दान देकर पाटियो पर नाम लिखाने मे ही सफल-सी मानी जाने लगी हैं । गोया, धर्म और दान कर्तव्य नही अपितु व्यापार बन गए हों—लेन-देन के सौदे हो गए हो । जबकि धर्म और व्यापार में घना अन्तर है ।

हाँ, तो कहने को आज एक और नई परिपाटी बड़े वेग से प्रबल हो रही देखने मे आने लगी है—अभिनन्दनो की । किसी का अभिनन्दन हो यह हर्ष का विषय है, गुणी का गुणगान होना ही चाहिए । पर, अभिनदन आदि किसका, कौन, कब और कैसे करे ? यह प्रश्न ही दूर जा पड़ा है ।

आज तो यह प्रवृत्ति देखा-देखी साधारण-सी बनती जा रही है कि अभिनन्दन हो—चाहे किसी का भी हो । इस कार्य मे यदि ग्रन्थ भेट है तो उसमे काफी खर्च होता है और कही-कही तो पैसा एकत्रित करने, ग्रन्थ छपाने की व्यवस्था, यहाँ तक कभी-कभी विक्री की चिन्ता भी मुख्यपात्र को ही करनी पडती हो ऐसा भी सन्देह बनने लगा है । यदि ऐसा हो तो ऐसे अभिनन्दनो से भी क्या लाभ ? सिवाय मान-बडाई सचय के ?

कहने को कहा जाता है—हमे कामना नही है, जब लोग पीछे पड़ जाते है तब विवश स्वीकार करना पडता है। पर, यदि स्वीकार करना पड़ता है तो उक्त प्रवृत्तियों के सम्बन्ध मे लोगों को शकाएँ क्यो होती है ? यदि विवश किया जाता है और कामना नही होती तो उत्सव मे जाया ही क्यो जाता है ! गर्दन झुका कर मालाएँ क्यो पहिनी जाती है ? अभिनन्दन स्वीकार क्यो किया जाता है ? ऐसे अवसरो पर भूमिगत क्यो नही हुआ जाता ! आदि ।

सोचा कभी आपने, कि 'यश का होगा क्या? यदि अपयश दुखदायी है तो यश भी सुखदायी नही—अपितु यश मे अभिमान की मात्रा बढने का भय ही विशेष है । क्या हुआ पूर्व पुरुषो के यश का ? तीर्थकर प्रकृति को सर्वोत्तम प्रकृति माना गया है, उन जैसा यश.कीर्ति कर्म किसी का नही होता, लेकिन क्या आप बता सकेंगे भूतकाल के अनन्तानन्त तीर्थकरो के यश को, उनके नाम-ग्राम और कार्य आदि को ? क्या आप नहीं जानते—जब चक्रवर्ती छह खडों की विजय कर लेना है तब वह विजय का झण्डा गाड़ने—नाम अकित करने जाता है । और उसे नामांकन के लिए स्थान नही मिलता । फलतः वह किसी के यश-अंकन को मिटाकर अपना सिक्का जमाता है और कालान्तर मे कोई दूसरा उसके सिक्के को मिटाकर अपना सिक्का जमा लेता है ।

फिर, एक बात यह भी तो है कि इस भव में मिला यश अगले भव में क्या सहारा लगाता है—सम्बन्धित व्यक्ति को पता भी नही चलता कि कौन यश गा रहा है—'आप मरे जग प्रलय'। हाँ, यदि नि कांक्षित भाव से, कर्तव्य और धर्म समझ कर, यश-लिप्सा के भाव को छोड कर कुछ किया जाता तो पुण्यवंध अवश्य होता जो अगले भव मे साथ भी देता।

स्वामी समन्तभद्र उपदेश दे रहे है—नि काक्षित अग का और आज परिपाटी चल रही है ख्यानिलाभ और अन्य-अन्य सांसारिक सुख कामनाओ की। परन्तु जब कुछ देकर कुछ लेने की भावना से कार्य किया जाता है तब होता है शुद्ध **व्यापार**; और जब न्याय और कर्तव्य-बुद्धि मे, बिना फल की वाछा के किया जाता है तब होता है **धर्म**। धर्म-सुखदायी है और यश आदि की कामना, मानकषाय पोषक। कहाँ तक ठीक है सोचिए !

२. क्या धर्म-क्षेत्र में साहित्यिक चोरी संभव है ?

धार्मिक क्षेत्र मे जब कोई कहता है—अमुक ने मेरे साहित्य की चोरी की है या मेरी रचना को अपने नाम से प्रकाशित करा दिया है, तो बडा अटपटा-सा लगता है और ऐसा मालूम होता है कि ऐसे प्रसंग मे चोरी का दोषारोपण करने वाले ने मानो चोरी की परिभाषा को ही भुला दिया हो। आचार्यों ने कहा है—'येषु मणिमुक्ताहिरण्यादिषु दानादानयो प्रवृत्तिनिवृत्तिसभव तेष्वेव स्तेयस्योपपत्ते।'—७।१५।२ 'यस्यदानादानसभवस्तस्यग्रहणमिति।'—७।१५।३ त० रा० बा० ॥—अर्थात् जिनमे देन-लेन का व्यवहार है उन सोना-चाँदी आदि वस्तुओ के (मूलरूप) अदत्तादान को ही चोरी कहते है [कर्म-नोकर्म के ग्रहण को नही—आदि]— कवि ने ऐसा भी कहा है कि—'मालिक की आज्ञा बिन कोय, चीज गहै सो चोरी होय।।" फलत इस प्रसंग में देखना पडेगा जिसे कोई चुरा रहा है वह वस्तु किसी दूसरे की है या नही। विचारने पर स्पष्ट होता है वर्ण, शब्द, वाक्य और भावो का कोई एक निश्चित मालिक नही, जब जिसके जैसे है—उतने काल उसके है—निकलने पर किसी अन्य के। क्योकि ये सभी सार्वजनिक—प्रकृति-प्रदत्त है, इन पर किसी एक का आधिपत्य नही—कर्म और नोकर्म वर्गणाओं की भी ऐसी ही व्यवस्था है। शब्दवर्गणा आदि नकल के आधार पर समान रूप (जाति) मे एक काल अनेकों में एक ही रूप में पाए जा सकते हैं—सभी में स्वतन्त्र रूप से। उनमें मूल-वस्तु निर्दिष्ट न होने से उसके हरण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जैसे—एक सोने का पिण्ड है और उसकी परछाई भी है मूल पिण्ड के हरण करने वाला चोर होगा—उसकी परछाई को पकड़ने वाला चोर नही होगा। उसी प्रकार वर्ण, पद-सरचना पूर्वों की प्रतिकृति होने से परछाई मात्र है और उनके हरण करने वाला चोर नही होगा।

फलत. यदि रचना की नकल करने वाला चोर है तो चोर कहने वाला भी पूर्वों का नकलची होने से चोरी के पाप से बरी नही हो सकता और पूर्वाचार्य भी इसी श्रेणी मे जा पडेंगे, जैसा कि उचित नही है। देखे—

भगवती आराधना	**जीवकाण्ड**	
(प्रथम शती ईस्वी)	(दशवी शती ईस्वी)	
गाथा ८०	गाथा १८	
,, ४१	,, १७	
,, ३२	,, २७	
,, ३३	,, २८	
भावसंग्रह	,,	**पंचसंग्रह**
(दशवी शती)	,,	(११वी सदी)
गाथा ३५१	,, ३१	१/१३
६०१	,, ३३	१/१४
६०२	,, ३४	—
तिलोयपण्णत्ति		
(१७६ ई० सदी)	,, —	
गाथा ५/३१८	,, ६६	
धवला (पुस्तक ३ पृ ६५)	**जीवकाण्ड**	
गाथा ३३	गाथा ५७३	
दर्शन प्राभृत	**भक्ति परिज्ञा प्रकीर्णक**	
(२-३ सदी)	(११वी सदी)	
गाथा १०६	गाथा ६६	
तत्त्वार्थशास्त्र सार	**तत्त्वानुशासन**	
(१०वी सदी)	(११वी सदी)	
श्लोक ५१	श्लोक ९/१४	
उपसहार २	,, २८	
आप्तमीमांसा	**शास्त्र वार्तासमुच्चय**	
श्लोक ५९	,, ७/४७८	
,, ६०	,, ७/४७९	

उक्त सभी सन्दर्भ आचार्यों ने अपनी मूल रचना के रूप दिए है—उद्धृतरूप में नही। जरा सोचिए! धार्मिक में ग्रन्थों पर 'सर्वाधिकार सुरक्षित' छपाना भी कहाँ तक न्याय संगत है? यह भी सोचिए।

३. समयसार की १५वीं 'गाथा का 'संत'?

१. षट्खंडागम के सातवें सूत्र मे 'सतपरूवणा' पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तत्वार्थराज वा० के मूल का कुछ अंश है—'सत्व ह्यव्यभिचारि' इत्यादि। ऐसे ही षट्खंडागम के आठवें सूत्र में 'सत' पद है। यथा—संतपरूवणदाए...।' इसके विवरण मे 'सत् सत्त्वमित्यर्थ.' भी मिलता है। इसी पुस्तक मे पृ० १५८ पर कही से उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा—'अत्थित्त पुणसत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाण।" इस गाथा के अर्थ मे लिखा है कि—अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते है। यहाँ भी 'सत' शब्द दृष्टव्य है।

उक्त पूरे प्रसंग से दो तथ्य सामने आते है। पहिला यह कि सभी जगह 'सत' का प्रयोग 'सस्कृत के सत्' शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी से छिपी नही कि 'संतपरूपणा' में उसी 'सत्' का वर्णन है जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'सत्संख्याक्षेत्र' सूत्र मे दर्शाया है। यानी जिसे संस्कृत मे 'सत्' कहा वही प्राकृत मे 'संत' कहा गया है। अत संत का सत् स्वभावत. फलित है। दूसरा तथ्य यह कि 'सत्' शब्द सत्त्व के भाव मे है, अत सत्, संत, सत्त्व, सत्त ये सभी एकार्थवाची सिद्ध होते है। पुस्तक के अन्त मे जो 'सतसुत्त-विवरण सम्मत्त' आया है उसमें भी 'सत' का प्रयोग सत् के लिए ही है।

'संत' शब्द के प्रयोग 'सत्' अर्थ मे अन्यत्र भी उपलब्ध है। यथा—'सतकम्ममहाहियारे—जय. ध. अ. ५१२ व व प्रस्तावना ध. प्र. पु. पृ. ६९।

—'एसो **संत**-कम्मपाहुड उवएसो'

—धव० पु० पृ० २१७

—'आयरिय कहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाणं...।

—वही, पृ० २२१

सत्त—महाधवलप्रति के अन्तर्गत ग्रन्थ रचना के आदि मे **'संतकम्मपंजिका'** है। इसके अवतरण में अभी 'सत्त' शब्द भी मेरे देखने मे आया है—'पुणोतेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि **सत्त**कम्मे सव्वाणि परुविदाणि।'—यह **संतकम्मपंजिका** ताडपत्रीय महाधवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और षट्खंडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें—प्रस्तावना, षट्खडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अत. इस उद्धरण से इस बात मे तनिक भी सन्देह नही रहता कि प्रसंग मे **'संत'** या **सत्त** शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ मे ही है। और **मज्झं** का अर्थ मध्य है जो 'आत्मा को आत्मा के मध्य अर्थ ध्वनित करता हुआ आत्मा से आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों मे 'असयुक्त' सिद्ध करता है।

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ मे 'अत्तमज्झ' पद का और समयसार की गाथा १५ मे 'सतमज्झ' या सत्तमज्झ' का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की सस्कृत छाया मे अत्तमज्झ' का अर्थ 'आत्म-मध्य' किया है। इसी प्रकार 'संतमज्झ' या 'सत्तमज्झ' की सस्कृत छाया भी सत्मध्य या सत्त्वमध्यं है यह सिद्ध होता है। सोचिए!

देव-गण इस लोक में क्यों नहीं आते? (उद्धृत)

Today we wonder why the devas do not come down to see us on the Earth. But whom should they come down to see here today? Who is superior to Greatness on the Earth? Should they come down to Smell the stench of the slaughter-Houses, the meatshops, stinking kitchens and recking Restaurants? You have them come down to ignorant Priests, bloated self-complacent tyrants, Lying Statesmen, Dishonest traders or Kings and Emperors, who Respect neither their word nor their signatures? Devas Have Extremely delicate senses. And the strench From the worlds latrines and cess-Pools must be quite

(शेष पृष्ठ टाइटल ३ पर)

साहित्य-समीक्षा

१. वर्धमान जीवन-कोश (Encyclopaedia of Vardhamana)—

सम्पादक—श्री मोहनलाल बांठिया और श्री श्रीचन्द चोरडिया।

प्रकाशक—जैन-दर्शन समिति, १६-सी डोवर लेन, कलकत्ता प्रकाशन वर्ष १९८०, पृष्ठ ५२८, मूल्य ५० रुपए।

प्रस्तुत कृति शास्त्रो के आधार पर रचित महावीर जीवनकोश है जिसमे भगवान महावीर के जीवनवृत्त-विषयक ९३ जैन आगम और आगमेतर एव जैनेतर स्रोतो मे प्रभूत सामग्री का सकलन किया गया है। दो खडो मे समाप्त जीवन कोश का यह प्रथम खड मात्र है। इसमे प्रधानतया मूल श्वेताम्बर जैन आगमो मे सामग्री ली गई है और आगमो की टीकाओं, निर्युक्तियों, भाष्यो, मूर्तियो आदि मे भी प्रचुर सामग्री का सकलन किया गया है किन्तु इसमे दिगम्बर जैन स्रोतो का पर्याप्त और समुचित उपयोग नही किया गया प्रतीत होता है, जिससे यह कोश सर्वमान्य न होकर एकागी बन कर रह गया है तथा वर्धमान जीवन कोश नाम को सार्थक नही करता है। दिगम्बर जैन आगमो विषयक कतिपय प्रसग और सन्दर्भ तो सर्वथा भ्रामक भी प्रतीत होते है। इस प्रकार एकागी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण यह गरिमा और निष्ठापूर्ण प्रयास विवादास्पद बन गया है। कम-से-कम शोधप्रवर्तन की दृष्टि से प्रणीत-संकलित ग्रन्थो मे वस्तुस्थिति का ही अकन अपेक्षित है। सब मिला कर लेखक द्वय का यह महत्प्रयास अत्यन्त सराहनीय, उपादेय एवं उपयोगी है।

२. तीर्थंकर (मासिक) का भक्तामर स्तोत्र विशेषांक जनवरी १९८२—

सम्पादक—डा० नेमीचद जैन।

प्रकाशक—हीराभैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, इन्दौर पृष्ठ—२२८, वार्षिक शुल्क—बीस रुपये प्रस्तुत अक—इक्कीस रुपये।

उच्च कोटि के सर्वागपूर्ण विशेषाको की सुस्थिर परम्परा के अनुरूप तीर्थंकर का प्रस्तुत विशेषाक सर्वथा अनुपम है एव सर्वांगि है। इसमे भक्तामर स्तोत्र के प्रामाणिक मूल पाठ के अतिरिक्त उसके अग्रेजी, हिन्दी, मराठी, कन्नड, बगला आदि मे प्रामाणिक अनुवाद, अन्वयार्थ, मत्र और यन्त्र दिए गए है। साथ ही इसमे भक्तामर स्तोत्र सम्बन्धित एव अन्य सम्बद्ध उपयोगी विषयों पर अधिकारी मनीषियो के शोधपूर्ण एव सारगर्भित ज्ञान गम्भीर लेख भी दिए गए है जिससे इसकी उपादेयता बहुगुनी हो गई है। सुन्दर छपाई एव सजधज से युक्त यह विशेषाक सुविज्ञ सम्पन्न सुविज्ञ पाठको की भक्तामर स्तोत्र विषयक सभी जिज्ञासाओ को शान्त कर उन्हें सुप्रशस्त मार्ग पर अग्रसर करेगा, ऐसी आशा है।

—**गोकुल प्रसाद जैन**
उपाध्यक्ष, वीर सेवा मन्दिर

३. दिवंगत हिन्दी-सेवी—

लेखक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'. प्रकाशक—शकुन प्रकाशन ३६२५, सुभाषमार्ग, नई दिल्ली-२. डबल क्राउन: ७८८ पृष्ठ बढ़िया मैपलीथो कागज ८८९ हिन्दी सेवियो मे ३०० के चित्र मजबूत कपडे की जिल्द के साथ गत्ते के सुन्दर डिब्बे मे बन्द मूल्य—तीन सौ रुपए मात्र:

'दिवगत हिन्दी सेवी' मेरे समक्ष है और वह भी स्वस्थ, सुडौल, मनोहारी, विशालकाय मे। जब देखता हूं तब इसमें सकलित सभी हिन्दी सेवी अनेको रूपो मे आखो और मन मे झूमने लगते है और भारती-भाषा हिन्दी की समृद्धि और व्यापकता मे प्रयत्नशील अतीत सभी हिन्दीसेवी साक्षात् परिलक्षित होते है। असमजस मे हूं कि—समक्षस्थित को दिवंगत कैसे मानू? यदि दिवगत है तो समक्ष कैसे, और समक्ष हैं तो दिवगत कैसे!

समाधान के दो ही मार्ग है—उनको दिवगत न मानू या अपने को दिवंगत मानलू। दोनों एकत्र होगे तो विरोध मिट जायगा। पर, मैं किन शब्दो मे लिखू लेखक की लेखनी ग्राह्यता को? जिसने दिवगतो को जीवन्त प्रस्तुत करके मुझे दिवंगत होने से बचा लिया और जिन्दा हू। हालांकि ग्रन्थ के महत्त्व को दृष्टिगत करके यह कहने वाले कई मिले कि हम क्यों न मर गए? यदि मर जाते तो ग्रन्थ मे नाम तो अमर हो जाता। ठीक ही है—

'नाम जिन्दा रहे जिनका, उन्हे मरने से डरना क्या है।'

यद्यपि हिन्दी सेवियो के परिचय में इससे पूर्व भी सीमित और महत्त्वपूर्ण कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है तथापि इस सकलन की अपनी विशेष महत्ता है और वह है—'खोज-खोजकर हिन्दी सेवियो के परिचयो का सकलन।' संलग्नसूची लेखककी भेद-भाव रहित, विशाल और उदार दृष्टि को भी इंगित करती है कि उसने जाति-पथ, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध जैसे सभी प्रकार के भेद भावों को छोड़कर, मात्र हिन्दी भाषा की सेवा को परिचय-सकलन का माध्यम बनाया है। यही कारण है कि संकलन मे छोटे-बड़े सभी गुलदस्ते के रूप मे महक सके है। ग्रन्थ भविष्य पीढ़ी के मार्ग-दर्शन, उत्साह एव ऐतिहासिक ज्ञान-वर्धन मे उपयोगी और सहायक सिद्ध होगा—युग-युगो तक अतीत युगों की गाथा बताएगा।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक 'निवेदन' के अनुसार और ग्रन्थ के विस्तृत क्रमबद्ध अन्तरङ्ग कलेवर से भी यह निर्विवाद है कि निश्चय ही 'सुमन' जी को इस कार्य के लिए अथक परिश्रम और बटोर-बटोर कर साहस जुटाना पड़ा है। पर, यह भी तथ्य है कि वृक्ष का 'सुमन' केवल अपनी सुगधि बिखेर पाता है, जबकि 'श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' अपनी जीवित यश सुगंधि के साथ दिवगत हिन्दी सेवियो की यश सुगंधि भी दिग्दिगन्त व्याप्त करने वाले 'सुमन' सिद्ध हो रहे है। लक्ष्य-भूत आगामी खंडों के प्रकाशन द्वारा यह सुगंध शत और सहस्रगुणी होगी—ऐसा हम मानते है। 'पन्थान. सन्तु ते शिवा:।'

कृति के प्रकाशन, साज-सज्जा, गेट-अप आदि मनमोहक और स्पृहणीय बन पड़े हैं, इसका श्रेय श्री सुभाष जैन, 'शकुन प्रकाशन' को है—जिन्होने श्री 'सुमन' जी के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर इस कार्य मे पूरा योग दिया है। श्री सुभाष जी जन-परिचित है, इनकी लगन शीलता और सूझ के परिणाम स्वरूप इनके सभी प्रकाशन उत्तम होते रहे है। हमारी भावना है कि इस ग्रन्थ का अधिकाधिक प्रचार हो और अधिक से अधिक जनता इसे मंगाकर लाभान्वित हो।

४. आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ—

सपादक . श्री धर्मचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक : श्री दिगबर जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता, साइज ११" × ९" पृष्ठ ३४ + ८४८ छपाई उत्तम, आकर्षक जिल्द व साजसज्जा, मूल्य . १५१ रुपए।

अभिनन्दन ग्रन्थ स्वय मे अभिनन्दनीय बन पडा इसे सयोजको का प्रयास ही कहा जायगा। अन्तरग-बहिरग सभी श्लाघ्य। आचार्य श्री के प्रति उमडती अटूट भक्ति का परिणाम सामने आया। मै तो देखकर गद्‌गद् हो उठा आयोजको को जितना साधुवाद दिया जाय, अल्प होगा।

इसमे सदेह नही कि भक्तगण ने अपना कर्तव्य पूरा किया : पर, अब उन्हे महत्त्वपूर्ण उन प्रश्न-चिन्हो पर भी विचार करना चाहिए जो चिह्न आचार्य श्री ने ग्रन्थ समर्पण के अवसर पर लगाए है। जैसे—

'साधु नरक मे जाए चाहे निगोद मे जाए' 'साधु की प्रशसा से साधु बिगड़ता है' 'साधु का अभिनन्दन से कोई प्रयोजन नही।'

यह आचार्यश्री का अन्तरंग है जिसे हम भक्तों को आदेश रूप मे लेना चाहिए और भविष्य में ऐसी परम्पराओ से (चाहे कर्तव्य ही क्यों न हों) मुख मोड़ना चाहिए जो साधु को पसन्द न हो या धार्मिक अस्थिरता मे कारण भूत हो सकती हों। फिर, निमित्तवाद में विश्वास रखने वालों को तो यह परम आवश्यक है कि साधु को ऐसे निमित्त न जुटाए जिनमें साधु की साधुता क्षीण होने में सहारा मिले।

श्रावकों की भावना के अनुरूप मेरे भी आचार्य श्री में

'नति' के भाव हैं फलतः व्यवहारी होने के नाते मैं उन्हें 'अभिवन्दन' के स्थान पर 'अभिनमोऽस्तु' करता हूं। यतः यह पद मुनि के प्रति व्यवहारी है और साधु के प्रति इसका विधान भी है—ब्रह्मचारी को वन्दन-वन्दना, ऐलक व क्षुल्लक को इच्छाकार और मुनिश्री को नमोऽस्तु।

५. अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैनधर्म सम्मत नहीं—

ले० श्री बंशीधर शास्त्री एम० ए०, प्रस्तावना: श्री डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक : श्री शान्ता व निर्मला सेठी, पृष्ठ २४, मूल्य ५० पैसे।

यद्यपि लेखक ने अपने पक्ष में पर्याप्त प्रमाण दिए है तथापि यह लघु-पुस्तक, पथवाद के व्यामोह मे पनप रहे वर्तमान विवादो के निराकरण मे कहां तक सहायक हो सकेगी यह नहीं कहा जा सकता। सामग्री शोधपूर्ण और विचारणीय है।—पंथ-व्यामोह से अछूते रहकर पढ़ने वाले इससे अवश्य लाभान्वित होंगे। प्रक्षाल जरूरी है।

६. गृहस्थ के वर्तमान षडावश्यकों का विकास और पूजा पद्धति में विकृतियों का समावेश—

ले० पं० श्री भंवरलाल पोल्याका, प्रकाशक अ० भा० दि० जैन परिषद् राजस्थान, पृष्ठ २४ मूल्य ३० पैसे।

छोटी सी पुस्तक मे विषय के अनुकूल पर्याप्त प्रमाण संकलित किए गए हैं। खेद है कि आज ये विषय भी पंथवाद से अछूते नही रहे। निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ने का हमारा आग्रह है। प्रयास सराहनीय है।

—सम्पादक

(पृष्ठ २७ का शेषास)

४. Dravya-Samgraha, Edited by Dr. Bhoshal. Published by central Jain Pubtishing House, Assah, Introduction. Page-35-36.
५. जैनसिद्धांतभास्कर, भाग ६, पृ० २६१।
६. जैनशिलालेख सग्रह, भाग १, पृ० ३१
७. जैन एण्टीक्वेरी, जिल्द ५, न० ४ मै 'The Date of the Cohsecrction of Image.' पृ० १०७-११४।
८. जैनसाहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ, ३६३-३६५।
९. Dravy-Samgraha C.J.P.H. Arrah. Introduction. Page 40.
१०. जैं०सा० इति० प्रथम भाग, वर्णी ग्रंथमाला, पृ० ३८९।
११. Dravy-Samgraha. Page 40.
१२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलो० इतिहास, तारा प० वाराणसी, पृ० २३६।
१३. जैन साहित्य का इतिहास, वर्णी ग्रंथमाला, प्रथम भाग पृ० ३९९-४०६।
१४. जैन सा० का इति० प्रथम भाग, वर्णी ग्रंथमाला, पृ० ४१२।
१५. Dravya-Samgraha, Arrah, Introduction, Page-42.
१६. जैं० सा० इति०, वर्णी ग्रथमाला: द्वितीय भाग पृ० ३४१। —(सैमीनार श्रवणबेलगोला में पठित)

(पृष्ठ ३० का शेषाष)

Nauseating to them...."The devas do come when There is an Adequate Cause, e.G., o do reverence to a world teacher, But will not Enter the Atmosphere of corruption and Filth otherwise. —Rishabhadeva, the founder of *Jainism P, 80—81*

—"आज हमें आश्चर्य होता है कि, क्यों देवता लोग पृथ्वी-तल पर हमें देखने नहीं आते? लेकिन वे आज किन्हें देखने को यहाँ आवें पृथ्वी पर ऐसा कौन है जो ज्ञान, बल या महिमा में उनसे बढ़ा-चढ़ा हो? क्या वे कसाई-घरों, मांस की दूकानों, गन्दे भोजनालयों तथा सजे भोगस्थलों की महान् बदबुओं को सूंघने आवें? क्या तुम चाहते हो, कि वे मूढ़ पुरोहितों, मोटे ताजे असन्तुष्ट अत्याचारियों, मिथ्याभाषी राजनीतिज्ञो, बेईमान व्यापारियों, नरेशों या महाराजाओं को देखने आवें, जो न अपने वचन और न अपने हस्ताक्षरो का सन्मान ही करते हैं? देवों की इन्द्रियां अति सुकुमार होती हैं अतः दुनियां के सण्डासों और नालियो की गंदगी उनके लिए अत्यन्त अरुचिकारी होगी। हाँ, देवलोग अवश्य आते हैं जब उनके आगमन के अनुरूप कारण हो यथा तीर्थंकर भगवान की पूजा के लिए। वे बुराई और गन्दगी से संयुक्त वातावरण में अन्यथा नहीं आते।"

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। ... २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ७-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Just Released :
Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 1945)
2 Volumes ... ... Per Set ... ६००-००

सम्पादन परामर्श मण्डल—**डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक—**श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—**रत्नत्रयधारी जैन** वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० २ अप्रैल-जून १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Telephone : 271818
G. Secretary 263985

VIR SEVA MANDIR

21, Darya Ganj, New Delhi-110002

Sub : JAINA BIBLIOGRAPHY

'Jaina Bibliography', a monument of colossal scholarship is the fruit of lifetime's strenuous labour and selfless dedication to the cause of Jaina studies by its author, Shree Chhote Lal Jain.

It is a rare collection of detailed information and result of painstaking research in various aspects of Jainism. It aims to facilitate and deepen the study on Jainology.

No study of Indian philosophy is complete without the understanding and knowledge of Jaina thought. Jaina scholars and saints have rendered valuable contribution to various branches of knowledge—literature, poetics, art, philosophy, religion, archaeology, geography, sculpture etc. Much of it still lies unexplored.

The seekers of knowledge on Jainology will find 'Jain Bibliography' an invaluable reference book. The learned author has not left any possible aspect of Jainistic studies and principles untouched. Material has been collected from all possible sources—encyclopaedias, dictionaries, gazettes, census reports, temple records, history and chronology, geography and travels, religion, biography, philosophy and sociology, language and literature. There are innumerable references yet unexplored and hidden treasures stored in the form of manuscripts, tamrapatras, inscription on stone-pillars etc. in ancient Jain temples and Jain mathas scattered all over the country. The work done in prakrit, sanskrit, ardhmagadhi, kannad and other Indian and foreign languages have constantly been referred to.

It is a precious gem worth keeping in every library of a college and University for there is no single reference book, available so far in the world of knowledge which encompasses such a vide domain on Jainistic studies as this bibliography does. It is a boon for the scholars, researchers and pursuers of Jaina thought.

The Bibliography consists of three volumes of which two (I & II) have already been published. Volume III which contains the index is under preparation.

Volume I contains 1 to 1044 pages, Volume II contains 1045 to 1918 pages, size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only for Rs. 600/- for one set of 2 volumes.

You may procure your set for your library through your vendor or directly from us.

SUBHASH JAIN
Genl. Secretary

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३५ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०८, वि० सं० २०३९ | अप्रैल-जून १९८२

सम्बोधन

जे दिन तुम विवेक बिन खोए ॥टेक॥
मोह-वारुणी पी अनादि तें पर पद में चिर सोए।
सुखकरण्ड चिन्पिण्ड आपपद, गुन अनंत नहिं जोए ॥१॥
होय बहिर्मुख ठानि रागरुष, कर्मबीज बहु बोए।
तसु फल सुख-दुख सामग्री लखि, चित में हरषे रोए ॥२॥
धवल ध्यान शुचि सलिल पूरतें, आस्रव मल नहिं धोए।
पर-द्रव्यानि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोए ॥३॥
अब निज में निज जान नियत तहँ, निज परिनाम समोए।
यह शिव मारग सम-रससागर, 'भागचन्द' हित तो ए ॥४॥

भावार्थ—हे चेतन, तूने ये दिन विवेक के बिना व्यर्थ गँवा दिए। तू मोह-रूपी मदिरा को पीकर अनादि काल से निद्रा-मग्न रहा। तूने सुख के खजाने अपने चैतन्य पद के अनंत गुणों को नहीं देखा। और बाह्य-दृष्टि होकर राग की ओर देखा जिससे तूने अनन्त कर्मों के बीज को बोया—उसके फल-रूप सुख-दुख रूप सामग्री हुई और तू चित्त में सुखी-दुखी हुआ। तूने शुक्ल ध्यान रूपी पवित्र जल से आस्रवरूपी मल को नहीं धोया और पर-द्रव्यों की इच्छा को नहीं रोका तथा भांति-भांति के परिग्रह को वहन किया। अब अपने (स्वरूप) को जान कर उसमें अपने परिणामों को लगा, यही समता रूपी रस का सागर मोक्ष का मार्ग है और इसी में तेरा हित है—ऐसा 'भागचंद जी' कहते हैं।

भारत के बाहर जैनधर्म का प्रसार-प्रचार

□ इतिहास-मनीषी डा० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन धर्म एक ऐसी सनातन धार्मिक एव सास्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध भारतीय होने के साथ-ही-साथ प्राय सर्वप्राचीन जीवत परम्परा है। उसके उद्गम और विकासारभ के बीज सुदूर अतीत--- प्रागैतिहासिक काल मे निहित है। मानवीय जीवन मे कर्मयुग के प्रारम्भ के साथ-ही-साथ इस सरल स्वभावज आत्मधर्म का भी आविर्भाव हुआ था। वर्तमान कल्प-काल मे इसके आदिपुरस्कर्ता आदिपुरुष स्वयभू प्रजापति ऋषभदेव थे, जो चौबीस निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थकरो मे सर्वप्रथम थे। उनका समय अनुमानातीत है। आधुनिक खोजो के आलोक मे यही कहा जा सकता है कि तथाकथित आर्य-वैदिक सभ्यता के ही नही, उसकी पूर्ववर्ती प्रागैतिहासिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के उदय से भी पूर्व ऋषभादि कई तीर्थकर हो चुके थे। मोहनजोदडो और हडप्पा के अवशेषो मे कायोत्सर्ग-स्थित वृषभलाछन उन दिगम्बर योगिराज की उपासना प्रचलित रहने के सकेत मिले है। ऋग्वेदादि मे भी उनके अनेक प्रत्यक्ष एव परोक्ष उल्लेख प्राप्त होते है। वैदिक संस्कृति के साथ इस आर्हत या श्रमण सस्कृति का दीर्घकालीन सघर्ष एवं आदान-प्रदान चला, और आधुनिक शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भारत-वर्ष का इतिहास जब से भी व्यवस्थित रूप मे मिलना प्रारम्भ होता है, अर्थात् रामायण तथा महाभारत मे वर्णित घटनाओ के युगो से, तब से तो निरन्तर ब्राह्मणीय-वैदिक परम्परा के साथ-साथ श्रमण जैन परम्परा का अस्तित्व इतिहाससिद्ध है। पारस्परिक सघर्ष, उत्थान-पतन, प्रचार-प्रसार का युगानुसार अल्पाधिक्य रहा। ऐसे समय आये जब जैनधर्म महादेश भारतवर्ष की सीमाओं का अतिक्रमण करके उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व के भारतेतर प्रदेशो मे भी प्रसारित हुआ। स्वय इस देश के तो प्रायः सभी भागो में प्राप्त उसके अवशेष, वहाँ उसके अस्तित्व के तथा कभी कम और कभी अधिक प्रभाव रहा होने के साक्षी है। जैन सस्कृति ने प्राचीन भारतीय सस्कृति का अभिन्न अग रहते हुए, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एव मौलिकता को भी बहुत कुछ अक्षुण्ण बनाए रखने मे सफलता प्राप्त की है। साथ ही, उसने भारतीय साहित्य, कला, स्थापत्य ज्ञान-विज्ञान, को अमूल्य देने प्रदान करके समग्र भारतीय सस्कृति को पर्याप्त समृद्ध किया है, और अपने विशिष्ट आचार-विचार एव जीवन-पद्धति से भारतीय जन-जीवन का उन्नयन करने मे स्तुत्य योग दिया है।

प्राय कह दिया जाता है कि जैनधर्म भारत के बाहर कभी गया ही नही, किन्तु यह बात सत्य नही है कि तप, त्याग एव सयम पर आधारित, निवृति एव अहिंसा प्रधान अन्तर्मुखी आत्मसाधना मे लीन जैन-साधक का लक्ष्य ख्याति-लाभ-पूजा अथवा आत्मप्रचार या धर्मप्रचार भी कभी नही रहा। जैन साधुचर्या के नियमो की कठोरता भी इस दिशा मे बाधक रही। अतएव जैनधर्म विदेशो मे बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मो की भाँति कभी भी सगठित प्रयत्नपूर्वक प्रचारित नही हुआ। तथापि जैनधर्म के प्रकाश एव प्रभाव ने इस महादेश की सीमाओ का अतिक्रमण किया है, इस तथ्य के सकेत भी पर्याप्त उपलब्ध है।

मेजर जनरल जे० फर्लाग, कर्नल जेम्सटाड आदि कई प्रारम्भिक प्राच्यविदो का अनुमान है कि जैनधर्म किसी यूरोप के स्केंडीनेविया जैसे दूरस्थ प्रदेशो मे, तुर्की तथा ऊपरी मध्य एशिया के क्षेत्रो तक पहुचा था। चौथी शती ईसापूर्व मे यूनानी सम्राट सिकन्दर महान तक्षशिला से कल्याण नामक एक जैन सन्त को अपने साथ बाबुल ले गया था, जहाँ उक्त सन्त ने सल्लेखना-पूर्वक देहत्याग किया था। ईस्वी सन के प्रारम्भ के लगभग भड़ोंच के एक श्रमणाचार्य का महानगरी रोम मे जाना और वहाँ समाधि-पूर्वक चितारोहण करना पाया जाता है। दक्षिण एवं पूर्व

में बृहत्तर भारत के सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बुज, चम्पा, श्रीविजय, नवद्वीप आदि प्रदेशो एव द्वीपो मे भारतीय संस्कृति का जो प्रसार हुआ, उसमे भी जैन व्यापारियो एव गृहस्थ जैन विद्वानों का कुछ न कुछ योग अवश्य रहा है, ऐसा उक्त देशो के भारतीय-कृत राज्यो के इतिहास तथा उनके देवायतन आदि स्मारको के अध्ययन से फलित होता है।

मध्य एशिया की फरात नदी की घाटी के ऊपरी भाग में एक भारतीय उपनिवेश ईसापूर्व दूसरी शताब्दी मे विद्यमान था। लगभग पाच सौ वर्ष पश्चात् पोपग्रेगरी ने भयकर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया था। अनुश्रुति है कि खेतान के उक्त भारतीय उपनिवेश की स्थापना का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार कुणाल को है—यह राजकुमार जैन धर्मावलम्बी था और इसी का पुत्र प्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति था। मध्यएशिया मे सम्भवतया यही सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। फिर तो चौथी शती ई० के प्रारम्भ तक काशगर से लेकर चीन की सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तान का प्राय पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भाग मे शैलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम (खोतान) और चलन्द (शान-शान) नाम के तथा उत्तरी भाग मे भरुक, कुचि, अग्निदेश और काओचग नाम के भारतीय सस्कृति के सर्वमहान प्रसारकेन्द्र थे। इन उपनिवेशों की स्थापना मे निर्गन्थ (जैन) साधुओ और बौद्ध भिक्षुओ का ही सर्वाधिक योगदान था। कालान्तर मे निर्गन्थो का विहार उक्त क्षेत्रो मे शिथिल होता गया और बौद्धो का सम्पर्क एव आवागमन बढ़ता गया, अत. गुप्तकाल के उपरान्त बौद्धधर्म ही वहाँ का प्रधान धर्म हो गया तथापि चौथी से सातवी शती ई० पर्यन्त भारत आने वाले फाह्यान, युवानच्वाग, इत्सिग आदि चीनी यात्रियो के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि उनके समय मे भी उक्त प्रदेशों मे निर्गन्थ मुनियो का अस्तित्व था। कुछ जैन मूर्तियाँ एव अन्य जैन अवशेष भी वहाँ यत्र-तत्र प्राप्त हुए है। काश्यप के रूप मे तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का बिहार भी उक्त देशो मे हुआ प्रतीत होता है अनेक प्राच्यविदो एव पुरातत्वज्ञो का मत है कि प्राचीन काल में जैनधर्म भी उन प्रदेशो मे अवश्य पहुचा था। तिब्बत, कपिशा (अफगानिस्तान) गान्धार (तक्षशिला और कन्दहार), ईरान इराक, अरब, तुर्की, मध्य एशिया आदि मे जैनधर्म के किसी न किसी रूप में किसी समय पहुंचने के चिह्न प्राप्त होते है। चीन देश के ताओ आदि प्राचीन धर्मों पर जैनधर्म का प्रभाव लक्षित है और चीन के उत्तर-कालीन बौद्ध साहित्य मे भी अनेक जैन सूचक संकेत मिलते है। जापान के 'जेन' सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी कुछ लोग जैनधर्म से जोडते है। प्राचीन यूनान के पाइथेगोरस व एपोलोनियस जैसे शाकाहारी आत्मधर्मी दार्शनिकों पर भी जैन प्रभाव लक्ष्य या अलक्ष्य रूप मे रहा प्रतीत होता है। ईसाई मत प्रवर्तक ईसामसीह भी जैनविचारधारा से अवश्य प्रभावित हुए थे, ऐसा स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी ने सिद्ध किया था।

उपरोक्त अधिकाश विदेशों मे जैनो की छोटी-मोटी बस्तियाँ भी मध्यकाल तक रही प्रतीत होती है। इधर आधुनिक युग में दक्षिणी-अफ्रीका नैरोबी आदि प्रदेशों में जैनो की अच्छी सख्या रहती आई है, पूर्व के फिजी आदि द्वीपो मे भी कुछ जैन है। यूरोप के विभिन्न देशों में व्यापार-व्यवसाय अथवा विद्यार्जन के बहाने अनेक जैन रहते रहे है। यही स्थिति अमरीका की है। वहाँ तो पिछले दो-तीन दशको मे जैन प्रवासियो की संख्या मे भारी वृद्धि हुई है।

वर्तमान शती के प्रारम्भिक दशको मे वीरचन्द्र राघवजी गाधी, प० लालन, बैरिस्टर जगमन्दरलाल जैनी, बैरिस्टर चम्पतराय, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद प्रभृति विद्वानो ने विदेशों मे धर्मप्रचार किया है। गत दशको मे प० सुमेरचन्द दिवा-कर, कान्हजी स्वामी, मुनि सुशीलकुमार, मूडबिद्री एवं श्रवणबेलगोल के भट्टारक द्वय प्रभृति महानुभावो ने इस कार्य को प्रगति दी है। स्व० बा० कामताप्रसाद जैन द्वारा सचालित अखिल विश्व जैन मिशन का एक मुख्य उद्देश्य विदेशो में धर्म प्रचार रहा और उसने अनेक विदेशी विद्वानो एव जिज्ञासुओ से सम्पर्क बनाने तथा उन्हें जैन साहित्य उपलब्ध कराने की दिशा में बहुत कुछ प्रगति की। किन्तु यथोचित व्यवस्था एवं साधनों के अभाव के कारण हम उन सम्पर्कसूत्रों से भी लाभ नही उठा पाते।

—ज्योति निकुंज, लखनऊ

मैं कौन हूं

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

किसी ने प्रश्न किया कि आत्मा को कैसे पावे। मेरे को एक कहानी बच्चों की याद आ गयी कि एक महात्मा के पास एक आदमी गया और कहने लगा मुझे आनद चाहिए। महात्मा ने कहा कि मैने अभी आनंद मगरमच्छ को दिया है उससे ले लो। वह नदी के पास गया और मगरमच्छ को बोला कि महात्मा ने तुम्हे आनद दिया है उसमें से मुझे भी दे दो मगरमच्छ ने कहा कि पहले मुझे एक लोटा पानी पिला दो बहुत प्यासा हू फिर मै तुझे आनंद दे दूगा उस आदमी ने कहा कि क्या बात कहते हो पानी मे रहते हो फिर भी पानी मागते हो। उसने कहा कि तुम भी तो आनद मे रहते हो और आनद माग रहे हो। यह कहानी तो इतनी ही है परन्तु यही हमारी कहानी नही है क्या ? आत्मा ही पूछ रही है कि आत्मा को कैसे पाया जाये।

किसी व्यक्ति से पूछिये या अपने मे ही पूछिये कि शरीर में रोग है इसको किसने जाना तो वह कहेगा मैने जाना इससे मालूम हुआ कि वहा दो है एक जानने वाला और एक शरीर जिसमे रोग हुआ है। मे भूखा हू मुझे भूख लगी है या प्यास लगी है इसको किसने जाना तो यही जवाब है मैंने जाना। फिर यहा पर दो हो गये एक जानने वाला और एक जिसको भूख या प्यास लगी है। शरीर पर चोट लगी है शरीर दुख रहा है यह किसने जाना मैने जाना यहां पर भी एक जानने वाला है और एक शरीर है जिसको चोट लगी है। इसी प्रकार भीतर मे क्रोध हुआ है आप दूसरे से कहते है कि मुझे क्रोध हो रहा है यह किसने जाना कि अभी क्रोध है अभी क्रोध ज्यादा है अथवा कम है आप कहेगे मैंने जाना वहा फिर दो हो गये एक क्रोध है जो कभी कम हो रहा है कभी ज्यादा और एक वह है जो न कम होता है न ज्यादा परन्तु जान रहा है। भीतर में विकल्प चल रहे है इच्छा हुई है आप कहते है मेरे को यह इच्छा हुई है। इस बात को किसने जाना। एक जानने वाला है और एक इच्छा का होना है। आप कहते है मेरा मूड ठीक नही है यह किसने जाना। वहां पर एक जानने वाला है और एक मूड है। आप कहते है मुझे आज बहुत चिन्ता है आकुलता हो रही है यह किसने जाना कि चिन्ता हो रही है एक जानने वाला है और एक चिन्ता का होना है। ये मैने अभी सत्य बोला या झूठ बोला यह किसने जाना एक जानने वाला है और एक झूठ बोलना या सत्य बोलना है। मै ४ माइल चला यह किसने जाना वहा एक जानने वाला है और एक चलने वाला है। मेरे पास इतना धन है यह किसने जाना वहा एक जानने वाला है एक धन है और एक धन का स्वामीपना है। हमने कोई चीज खाई वह हमे अच्छी लगी और मीठी भी वहा तीन चीज हुई एक वह वस्तु जो मीठी थी एक अच्छे जानने रूप भाव और एक इन दोनों का जानने वाला। बाहर मे हमने कोई कपडा पहना गाडी पर चढे और हमे बहुत आनद आया वहा पर भी तीन है एक गाडी और उस पर चढ़ना एक आनन्द का आना और एक उनको जानने वाला। क्या इससे यह साबित नही हो रहा है कि हर हालत मे कोई एक जानने वाला है जो हमारे भीतर होने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्पो को, विचारो के, भावों को चाहे वह अच्छे हो अथवा बुरे, शुभ हो चाहे अशुभ उनको जान रहा है। इन मन सम्बन्धी भावों मे, परिणामो मे विचारो मे परिवर्तन होना जा रहा है पर जानने वाला सदा काल एक रूप रहता हुआ मात्र जान ही रहा है। यहा तक क्रोध को भी जाना है। बाहर मे भले ही हमने किसी को अच्छा कहा हो प्रेम दिखाया हो और भीतर मे उसके प्रति अन्यथा भाव है तो जानने वाले ने दोनो बातो को ही जाना है। यही हालत शरीर की है चाहे शरीर की कैसी भी अवस्था क्यों न हो चाहे स्वस्थ हो चाहे अस्वस्थ, चाहे दुबला हो चाहे ताकतवर परन्तु जानने वाले ने उसकी हर हालत को जाना है।

जिस समय शरीर की कोई अवस्था हो रही है उसी समय जानने का कार्य भी हो रहा है यहां तक जब सोता है तो उस समय भी कोई जान रहा है कि सो रहा है अगर नहीं जानता तो जागने पर यह कैसे कह सकता था कि आज नीद अच्छी आई। जिंदा है तो उसको जानता है और मरता है तो उसको भी जान रहा है उसी प्रकार भीतर में सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा स्थूल से स्थूल विचार-भाव-इच्छा जिस समय उत्पन्न हुई है उसी समय उसके जानने का कार्य भी हुआ है। यहा पर एक तर्क है कि जब इच्छा उत्पन्न हुई उसके पहले उसको जाना तो जब थी ही नही तो जाना कैसे। इच्छा मिटने के बाद जाना तो अभाव होने पर कैसे जाना इससे यह साबित होता है कि जिस समय इच्छा उत्पन्न हुई उसी समय जाना। इसमे एक तर्क और है कि इच्छा ने ही इच्छा को जाना है अथवा क्रोध ने ही क्रोध को जाना है तो उसका उत्तर है कि क्रोध के अभाव को जिसने जाना। इससे साबित होता है कि क्रोध के अलावा कोई जानने वाला भिन्न है जो क्रोध को भी जानता है और उसके अभाव को भी जानता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि हर कार्य मै तीन बाते साथ-साथ हो रही एक शरीर की क्रिया, एक मनसम्बन्धी विचारो की—भावो की—विकल्पो की क्रिया और एक जानने की क्रिया। पहली दो क्रिया बदलती रहती है कभी शुभ होती है कभी अशुभ। कभी दान पूजा रूप-दयारूप किसी के भले करने रूप होती है कभी किसी को सताने-मारने रूप। कभी सत्य कभी असत्य रूप होती है परन्तु जानने का कार्य हर अवस्था मे एक रूप से चालू रहता है। वह हर हालत मे—हर अवस्था को जानता रहता है। पहली दो क्रिया एक शरीराश्रित और एक मनाश्रित है जो हमारे पकड़ में आती है। हम शरीर पर ही नही ठहर कर मन की क्रिया तक तो पहुचते है और उनको अपनी मानते हैं यह समझते हैं यह मै हूं यह मेरी है। इस प्रकार अहम्पने को उन दोनो में प्राप्त हो रहे है। वहा इन दोनो में अहम्पना भी है एकत्वपना भी है कर्त्तापना भी है। परन्तु तीसरी क्रिया जो ज्ञान की क्रिया है जानने का कार्य-रूप वह प्रगट—निरन्तर होते हुए भी उसको पकडने की चेष्टा आज तक नही की है। जहा से जानने की क्रिया उठ रही है वह स्थल भिन्न है और जहां से भावों की और विचारों की क्रिया उठ रही है वह स्थल भिन्न है यह जानने वाला ही अपने को जानने वाला न समझ कर इन विचारों के—भावो के चिन्ताओ के करने वाला समझ रहा है शरीर सम्बन्धी कार्यो के करने वाला उस सम्बन्धी दुख-सुखको भोगने वाला समझ रहा है। उस जानने वाले को कहा जा रहा है कि तू अपने को पर रूप मान रहा है—शरीर रूप जान रहा है विचारो और विकल्पो रूप जान रहा है और सुखी-दुखी हो रहा है तू उस रूप नही है तू तो जानने वाला है—जाननेरूप क्रिया का करने वाला है तू अपने आपको अपने रूप क्यो नही देखता? तू अपने आपको जानने वाला रूप देखे तो तू पावेगा कि मै शरीर रूप नही परन्तु उसका जानने वाला हूं उस शरीर की अवस्था अच्छी या बुरी का भोक्ता नही परन्तु जानने वाला हू। तो शरीर की कैसी भी अवस्था क्यों न हो जावे उससे मेरा क्या सम्बन्ध और उससे सुखी-दुखी होने का भी क्या सवाल है। यह नाम, यह जाति, यह कुल, यह मां-बाप भाई-बन्धु बाहर मे पुरुष अथवा स्त्रीपना, धनवान अथवा गरीबपना सभी जब शरीर की अवस्था है और मै तो जानने वाला हू शरीर नही तो इनसेभी मेरा क्या सम्बन्ध रहा। अगर किसी ने गाली दी अथवा प्रशसा की बात कही तो भी मै तो उसका जानने ही वाला हू शरीर नही तब मुझे हर्ष और विषाद क्यो?

इसी प्रकार विचार उठ रहे है—चिन्ता हो रही है—भाव उठ रहे है, भीतर मे दया रूप भाव हुए और उस जानने वाले ने, उस भाव से साथ एकत्व जोड़ा तो उसमे अहम्पने को प्राप्त हो गया कि मै कैसा दयालू हूँ मै उच्च दर्जे का हू चाहे हम बाहर मे न कहें परन्तु भीतर मे तो औरो से अपने को ऊँचा समझा ही है। अगर अपना उच्चपना नही पकड़ मे आवे तो ओरो का नीचापना तो महसूस किया ही है वही बना रहा है कि अहम् भाव बना है यह तब तक नही मिट सकता जब तक हम जानने वाले से एकत्व होते हुए भी इन विकारी भावों से एकत्व जोड़ते रहेगे इन मन सम्बन्धी विकारी भावो से और शरीर के साथ इस जानने वाले ने एकत्व जोडा है यह एकत्व जोडना

(शेष पृष्ठ ८ पर)

गत कि० ४ से आगे—

जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य

□ राका जैन, एम० ए०

जीवन्धर कुमार के मुखारविन्द से आकिञ्चन्यादि धर्मों को सुन कर कृषक अति प्रसन्न हुआ और उसे धारण कर अपने जीवन को सफल मानने लगा। जीवन्धर कुमार ने भी उसे योग्य पात्र समझ अपने बहुमूल्य आभूषण देकर निर्द्वंद्व भाव से आगे बढ दिए और परम सुख का अनुभव किया। आभूषण के मोह को त्यजकर परमानन्दानुभव करना आकिञ्चन्य धर्म का परिपोषक है।

प्रमुदित कृषक को सहर्ष स्व-स्वर्णाभूषण देकर मध्याह्न में वे नृप कुँवर उद्यान मे विश्राम करने लगे। वे, जिनका मन काम विकार सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान था, जो कार्यज्ञ मनुष्यों में अग्रणी तथा ससार के समस्त भोग्य-उपभोग्य पदार्थ को अपना किञ्चित मात्र भी न समझने वाले एव निरन्तर वैराग्य का चिन्तन करने में प्रवीण थे ऐसे जीवन्धर स्वामी पर आसक्त विद्याधरी के प्रणयीवचनो को सुन कर उस उद्यान से बाहर निकल पडे। स्व प्रिया को खोजते हुए व्यथित विद्याधर की दीनता भरे वचनों को सुन कर जीवन्धर स्वामी ने आकिञ्चन्य के परिपोषक सान्त्वनाप्रदायक गम्भीर वचन उनसे कहे—

धैर्योदार्यविवर्जितक्षितिपति. प्रज्ञाविहीनो गुरु,
कृत्याकृत्यविचारशून्यसचिव· सग्रामभीरुर्भट।
सर्वज्ञस्तवहीनकल्पनकविर्वाग्मित्वहीनो बुध,
स्त्रीवैराग्यकथानभिज्ञपुरुष सर्वे हि साधारणाः॥

अर्थात्—धीरिता और उदारता से रहित राजा, बुद्धिहीन गुरु, कार्य-अकार्य के विचार से शून्य मन्त्री, युद्ध-भीरु योद्धा, सर्वज्ञ के स्तवन से रहित कवि, वक्तव्य कला से रहित विद्वान और स्त्री-विषयक वैराग्य की कथा से अनभिज्ञ पुरुष ये सब तुच्छ व्यक्ति है अत मोहजनित विचारों को त्यागना चाहिए। यथार्थतः सच्चा आकिंचन-पुरुष वही है जो जैसा अन्दर है वैसा ही अपने को उपस्थापित करता है तथा वैसे ही वचनों को कहता है। जीवन्धर स्वामी ऐसे सिद्धान्त के स्पष्ट उदाहरण हैं।

जीवन्धर स्वामी के राज्यसिंहासीन हो चुकने पर वे एक दिन अपनी आठो रानियों के साथ वासन्ती सुषमा से सुशोभित वानर-समूह को देख कर वे आनन्द-विभोर हो उठे। एक बानरी, अपने बानर का अन्य बानरी के साथ मोहित हुए देख रुष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करने के लिए वानर ने बहुत प्रयत्न किए पर वह सन्तुष्ट नही हुई। अन्त मे निरुपाय होने पर वानर मृत-तुल्य पृथ्वी पर लेट गया। यह देख बानरी भय से काप उठी और उसके पास जाकर दोनों प्रसन्न हो गए। बानरी को प्रमुदित देख बानर ने एक पनस-फल तोड कर उसे उपहार में दिया परन्तु अकस्मात् वनपाल ने आकर बानरी के हाथ से वह पनस-फल छीन लिया—यह सब दृश्य जीवन्धर स्वामी स्व नेत्रों से देख रहे थे। उनका दयलु हृदय वनपाल के इस कार्य को देख कर व्यग्र हो उठा। उनके मन मे यह विचार तरगित होने लगा—

'काष्ठाङ्गारयते कीशो राज्यमेतत्फलायते।
मद्यते वनपालोऽय त्याज्य राज्यमिद मया॥११।१२

अर्थात्—यह वानर काष्ठाङ्गार के समान है, यह राज्यफल के समान और यह वनपाल मेरे सदृश आचरण कर रहा है अर्थात् जिस प्रकार बानर के द्वारा दिए गए फल को वनपाल ने छीन लिया है उसी प्रकार मैंने इस राज्य को छीन लिया है अतः यह राज्य मेरे द्वारा त्याज्य है।

जिसने स्वराज्य हेतु काष्ठाङ्गार से लोहा लिया और उसे तथा अपने प्रतिद्वद्वियो को मौत के घाट उतारा वे ही जीवन्धर आज इस राज्य को तुच्छ समझ कर अपना आकिञ्चन्य-स्वरूप उपस्थित कर रहे हैं। यह राज्य तैल

रहित दीपक की लौ के समान है, जीवन चवल है, शरीर बिजली के समान क्षणभंगुर है और आयु चपल मेघ के तुल्य है। इस प्रकार इस संसार की सन्तति मे किञ्चित् भी सुख नही है फिर भी उसमे मूढ हुआ पुरुष अपना हित नहीं करता किन्तु इसके विपरीत मोह को बढाने वाले व्यर्थ के कार्य ही करता है। नश्वर विषयों के द्वारा लुभाया हुआ बेचारा मानव मोहवश दुखजनित दोषो को नहीं समझता प्रत्युत ग्रीष्मकाल मे शीतल जल की धारा छोड मृगमरीचिका के सेवन तुल्य सांसारिक भोगो मे लिप्त रहता है। दुर्लभ मानव-जन्म पाकर आत्महित मे प्रमाद करना उचित नही। ११।२३-२६। इस प्रकार तत्वचिन्तन के फलस्वरूप जीवन्धर स्वामी संसार की माया-ममता मे विरक्त हो (आकिञ्चन्य धर्म की पूर्ण दशा को पाकर) मुनि दीक्षा लेने का निश्चय कर लेते है और राजकीय-व्यवस्था से निवृत हो महावीर-स्वामी के समवसरण मे जाकर मुनि-दीक्षा धारण करते है एव घोर तपश्चरण के द्वारा कर्मों को क्षय कर विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त करते है। शलाका पुरुष न होने पर भी पुराणकारो ने अपने पुराणो मे आकिञ्चन्य पुरुष जीवन्धर का चरित्र अकित किया। कवियो ने इन पर गद्यपद्यात्मक काव्य लिखे। जीवन्धरचम्पूकार ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'जीवन्धरस्य चरित दुरितस्य हन्तृ'—जीवन्धर का चरित्र पाप को नष्ट करने वाला है।

इस प्रकार जीवन्धर स्वामी राज्य-वैभव होने पर भी घर मे विरागी विचारो से सम्पन्न थे। उनका विचार था कि यदि धन-दौलत आदि परिग्रह यथार्थत. सुख देने वाले है तो मृगमरीचिका भी पिपासा-शमन कर सकती है, आर्त-रौद्र-ध्यान भी मोक्षानन्द दिला सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है और मात्र भोजन-इच्छा ही भूख-शान्ति कर सकती है। जीवन्धर स्वामी के परिग्रहभिन्न ऐसे भावों ने संसार के प्रति निराशा उपस्थित की और अन्ततोगत्वा उन्हें मोक्षवधू का वरण करा दिया।

रानी विजया और सुनंदा का आकिञ्चन्य—नृपराज सत्यंधर एवं राजकुवर जीवन्धर के तुल्य रानी विजया का आकिञ्चन्य व्यक्तित्व भी सहज ही सामने उपस्थित हो जाता है। राजपुत्र जीवन्धर के राजसिहासनारूढ होने पर तथा स्वय के राजमाता होने पर रानी विजया को राजवैभवरूप परिग्रह मे यकायक ग्लानि हो गई। उन्होने अपनी आठो पुत्रवधुओ को बुलाकर कहा— हे पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली बहुओ! आज मेरे हृदय मे इस सारहीन भयकर संसार के विषय से विरक्ति हो रही है और यह विरक्ति इस समय मुझे दीक्षा लेने के लिए शीघ्रता कर रही है।

उसी समय गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा को भी सासारिकता से वैराग्य उत्पन्न हो गया अत रानी विजया और सुनन्दा ने पद्मा नाम आर्या के समीप दीक्षा ले ली। इस प्रकार जीवन्धर चम्पू मे पुरुष-पात्रों के साथ-साथ नारी-पात्र स्वजीवन मे प्रथमत आकिञ्चन्य धर्म का अणु रूप धारण करते और अन्तत दीक्षा लेते और असीमितानन्द को पाते हैं।

काष्ठाङ्गार के आकिञ्चन्य भिन्न भाव—आकिञ्चन्य बहुल प्रसङ्गो के साथ-साथ जीवन्धर चम्पू मे यदि आकिञ्चन्य का विपरीत रूप देखना चाहे तो काष्ठाङ्गार का चरित्र तो पाठक के मध्य सहज ही उपस्थित हो जाता है। नृपराज सत्यधर ने कुछ समय के लिए काष्ठाङ्गार को राज्य दे दिया किन्तु कृतघ्न मन्त्री ने षड्यन्त्र रच युद्ध मे उन नृपराज को दीक्षा लेने पर भी मौत के घाट उतार कर उनके राज्य का अधिकार हो गया। काष्ठाङ्गार ने समझा कि मैने राजा को मार ही डाला और रानी मयूरयन्त्र में बैठ कर गयी थी अत गिरने पर उसका और उसके गर्भस्थ बालक का प्राणघात स्वय हो गया होगा। इस प्रकार निश्चिन्त हो वह राज्य-शासन करता रहा।

सुप्रचार से किसी की अकीर्ति दवती नही प्रत्युत फैलती ही है। काष्ठाङ्गार की अकीर्ति राजघातक के रूप मे सर्वत्र फैलती ही है काष्ठाङ्गार की अकीर्ति राजघातक के रूप मे सर्वत्र फैल गयी। नृपमृत्यु के कलक के परिमार्जन हेतु राजा की मृत्यु का कारण हाथी द्वारा मारा जाना प्रचारित कर जीवन्धर-मातुल गोविन्द महाराज के पास सन्देश भेजा। काष्ठाङ्गार-कलक के उपशमन के व्याज से गोविन्द महाराज ने सत्यधर की राजधानी राजपुरी में स्व सुता लक्ष्मणा का स्वयवर रचा। जीवन्धर राज ने चन्द्रकवेधक को वेधकर लक्ष्मणा प्राप्त की, तब जीवन्धर

के यथार्थ-जीवन का रहस्योद्‌घाटन हो गया। लक्ष्मण-माला का इच्छुक काष्ठाङ्गार उत्तेजित हो भडक उठा। युद्ध के लिए उद्यत हो जाने पर वह जीवन्धर के द्वारा मृत्युलोक का पान्थ बन गया। देखिए ! कितनी विचित्रता है मानसिक-मनोभावो की ? काश ! यदि वह नृपराज्य की ओर आकिञ्चन्य रहता तो उसकी यह निकृष्ट दशा न होती।

सासारिक परिभ्रमण से निकल कर मानव को मुक्ति-मन्दिर मे भेज देना जैन कथानकों का उद्देश्य रहता है। यद्यपि इसमें प्रसङ्गोपात्त विविध भावो का समावेश हुआ है तथापि अकिंचन-भाव से पीछे नहीं। जीवन्धर स्वामी का वैभव विसर्जन कर मुक्ति-पदवी पाना, रानी विजया का आर्या पद ग्रहण करना इसके विपरीत काष्ठाङ्गार का राज्य-च्युत होना जीवन्धर चम्पू मे प्रयुक्त आकिञ्चन्य-स्वरूप को परिपुष्ट करने वाले ही है। जीवन्धर चम्पू में नायक जीवन्धर को शृङ्गारिक रूप में दर्शाया गया है तथापि यत्र-तत्र अकिंचन-तत्व प्रदर्शित होता है जो कि उनके शृङ्गारिक जीवन मे चारचाँद लगा देता है और एक विलक्षणता उपस्थित करता है।

—अलीगञ्ज (एटा)

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

ही सबसे बड़ा पाप है, सबसे बडा अधर्म है सबसे बडा अज्ञान है यह किसी अन्य प्रकार से नही मिट सकता परन्तु जानने वाला अपने आपको जाने अपना सर्वस्व अपना अहम्‌पना उस जानने वाले मे स्थापित करे तो वह अहपना जो अभी मन सम्बन्धी विकारो मे और शरीर सम्बन्धी क्रियाओ मे आ रहा है वह मिट कर अपने जानन-पने रूप निज स्वभाव मे आये तो नकली मै का अभाव हो और असली मै की प्राप्ति हो जोकि वास्तव मे ब्रह्मोस्मि है और वही पारिणामिक भाव है वही निज भगवान आत्मा है। जिसको जानने से धर्म की शुरुआत होती है—साक्षी भाव जागृत होता है। निजस्वभाव के प्रति मूर्च्छा दूर होती है जागरण चालू होता है आप अपना मालिक बनता है। आज तक जिसको नही पाया उसको पाता है जिस कूडे-कर्कट को पकड रखा था उससे निवृत होता है। जो अभी तक व्यवहार मे पर मे जगता था वह अब परमार्थ में जगता है जहां अब तक मूर्च्छित था। घोर अन्धकार मे सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है। अब अन्धकार नही रहने का। चाहे कितना ही गाढा क्यो न हो प्रकाश की किरण ने उसको भेद दिया है। शरीर रहता है और अन्य भाव भी रहता है परन्तु मै नही रहता। मै मिट जाता है। यह मै ही निज परमात्मा से मिलने मे रुकावट थी, मै मिट गया।

मुक्ति का सच्चा हेतु

'यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः॥'

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा मध्यस्थभाव को प्राप्त होकर आत्मा को आत्मा के द्वारा, आत्मा में देखता और जानता है वह निश्चय से (स्वयं) मुक्ति का हेतु है, ऐसी सर्वज्ञ—जिन भगवान की वाणी है।

□□

सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनायें एवं विशेष ज्ञातव्य

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

'अनेकान्त' के सितम्बर ८१ के अक मे डा० ज्योतिप्रसाद जैन का एक लेख 'सम्यक्त्व—कौमुदी सम्बन्धी रचनाये' शीर्षक छपा था। उसकी पूर्ति के रूप मे दिसम्बर ८१ के अक मे 'सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाये' नामक लेखप्रकाशित हो चुका है। पर अभी-अभी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी-५ से 'जैन साहित्य का बृहद इतिहास का ७वां भाग प्रकाशित हुवा है, उसमे कन्नड और मराठी भाषा की सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी कुछ नई जानकारी प्रकाश मे आई है। इसलिए पाठको को उसकी जानकारी देने के लिए यह लेख, पूर्व प्रकाशित दोनो लेखो की पूर्ति के रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है।

'जैन साहित्य का बृहद इतिहास' के सातवे भाग मे कन्नड, तमिल और मराठी तीन भाषाओ के जैन साहित्य का विवरण स्व० प० के० भुजबली शास्त्री और मराठी साहित्य का विवरण डा० विद्याधर जोहरापुरकर लिखित है। कन्नड जैन साहित्य मे सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचना प्राप्त है। जिसमे से कवि मगरस का कुछ विशेष विवरण उपरोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ८७ मे छपा है उसके अनुसार मगरस तृतीय का समय सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का बताया है। और यह ग्रथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसका सम्पादन प० शान्तिलाल शास्त्री ने किया है और अतिबल ग्रथमाला, बेलगाव से यह प्रकाशित हुआ है।

मराठी जैन साहित्य मे दया सागर (दया भूषण) की सम्यक्त्व-कौमुदी मे ११ अध्याय और २३८० ओवी है। यह जिनदास चवड़े, वर्धा स० १६०८ में प्रकाशित हो चुका है। दूसरी रचना महीचन्द रचित सम्यक्त्व कौमुदी है, जिसमे १३ अध्याय और १६८१ ओवी है। इसकी कथाए दया सागर की सम्यक्त्व कौमुदी के समान ही है। महीचन्द के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति ने कालिका पुरान नामक एक बड़ा ग्रथ रचा है उसमे सम्यक्त्व कौमुदी की कथाए भी शामिल कर ली गयी है। आधुनिक मराठी जैन साहित्यकारो मे कल्लाप्पा भरमाप्पानिटवे ने सम्यक्त्व कौमुदी का मराठी अनुवाद किया है। पर उसमे मूल ग्रथ को अज्ञातकर्तृक लिखा है।

हमारे सग्रह मे सस्कृत गद्य मे सम्यक्त्व कौमुदी, मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत से प्रकाशित सन् १६३६ की प्रथम आवृति है। माणिकचन्द दिगवर जैन परीक्षालय मे यह पाठ्यक्रम मे रखा गया था, यह भी अज्ञात कर्तृक है। इससे २५ वर्ष पहले प० उदयलाल कासलीवाल ने इसे प्रकाशित किया था, लिखा है। जिसका उल्लेख डा० ज्योतिप्रसादजी के लेख मे हो चुका है। सम्यक्त्व कौमुदी नामक श्वेताम्बर जिनहर्षगणि स० १४८७ की रचित, मूलरूप मे प्रकाशित हुई है वह तो मुझे नही मिली पर उसका गुजराती अनुवाद आत्मानद जैन सभा भावनगर से सन् १६१७ मे प्रकाशित हुआ, यह मेरे सग्रह में है। इस श्लोकबद्ध सस्कृत ग्रथ के रचयिता जिन हर्षगणि, तपागच्छीय जयचन्दसूरि के शिष्य थे। इसमे सात प्रस्ताव है। मूलग्रथ भी इसी सभा से पूर्व छप गया था। दि० श्वे० सम्यक्त्व कौमुदी की कथाओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह ग्रथ महत्वपूर्ण है।

□□

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक-चित्रण

☐ डा० राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग, आरा

मध्यकालीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति के सर्वांगीण प्रामाणिक अध्ययन के लिए अपभ्रंश-साहित्य अपना विशेष महत्व रखता है। उसमें उपलब्ध विस्तृत प्रशस्तियां, ऐतिहासिक-सन्दर्भ लोक-जीवन के विविध चित्र, सम-सामयिक सामाजिक परिस्थितियां, राजनीति, अर्थनीति, एवं धर्मनीति के विविध सूत्र, हास-परिहास, एव विलास-वैभव के रससिद्ध चित्रांकन इस साहित्य के प्राण है। अपभ्रंश के प्रायः समस्त कवि आचार और दार्शनिक तथ्यो तथा लोक जीवन की अभिव्यजना कथाओं एव चरितो के परिवेशों द्वारा करते रहे है। इस प्रकार के चरितो और कथानकों के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य मे मानव-जीवन यथा जगत की विविध मूक-भावनाए एव अनुभूतियाँ मुखरित हुई है। क्योंकि वह एक ओर पुराण-पुरुषो के महामहिम आदर्श चरितों से समृद्ध है तो दूसरी ओर सामन्तों वणिकपुत्रो अथवा सामान्य वर्ग के व्यक्तियो के सुखों-दुखों अथवा रोमांसपूर्ण कथाओ से परिव्याप्त। वन-विहार, उद्यान-क्रीड़ाएं, संगीत-गोष्ठिया, आखेट-द्यूत, एव जल-क्रीड़ाएं, रासलीलाए, सरोवर-स्नान के समय प्रेमी-प्रेमिकाओं के परस्पर में छकाने के लिये वस्त्रो के अपहरण आदि विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश-साहित्य की विशाल चित्रशाला अलंकृत है। चउमुह, ईशान एवं द्रोण जैसे महाकवियों ने इस महान चित्रशाला की नीव रखी, तो जोइन्दु स्वयम्भू, पुष्पदन्त, हरिभद्र, धनपाल, वीर, कनकामर, पद्मकीर्ति, हेमचन्द्र, अब्दुल-रहमान प्रभृति काव्य-कुशल सरस्वती पुत्रों ने अपभ्रंश के उस भवन को धड़कर भव्य-प्रसाद के रूप में अलकृत किया है और यश.कीर्ति एवं रइधू जैसे प्रतिभाशाली महाकवियों ने उसे सर्वतोभावेन समृद्ध बनाये रखने का अथक प्रयास किया है। इस प्रकार अपभ्रंश-काव्यों में विक्रम की छठवी सदी से सोलहवी सदी तक के भारतीय इतिहास एव सस्कृति के प्रामाणिक चित्र सुसज्जित है। प्रस्तुत लघु-निबन्ध मे उन सभी पर प्रकाश डालना तो सम्भव नही, हाँ, उदाहरणार्थ केवल कुछ सरस एव रोचक तथ्यो पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

सामाजिक परिस्थितियाँ :

अपभ्रंश काव्यो मे परम्परानुमोदित पौराणिक, सामाजिक मान्यताओ को ग्रहण किये जाने पर भी सम-सामयिक स्थितियो के उनमे पर्याप्त निर्देश मिलते है। इन काव्यो मे कुछ ऐसी मान्यताए निर्दिष्ट की गई है, जो मध्यकालीन स्थितियो पर प्रकाश डालती है। वैदिक वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तानुसार ब्राह्मण का कार्य पठन-पाठन और यज्ञ-यागादि करना था। पर १५वी सदी मे विदेशी आक्रमण होने एव मुसलमानो के उत्तराधिकार सम्बन्धी पारम्परिक कलह तथा राजनैनिक अस्थिरता के कारण देश की आर्थिक स्थिति बिगडने लगी थी। फलस्वरूप ब्राह्मण आजीविका के हेतु खेती भी करने लग गए थे। महाकवि रइधू ने अपनी एक रचना 'धण्णकुमार-चरिउ' मे 'बम्भणकिसाणु'[1] लिख कर उसका स्पष्ट निर्देश किया है और इस प्रकार उसकी परिवर्तित स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है।[2]

जातियाँ :

'धण्णकुमार चरिउ' के उपर्युक्त 'वम्मणकिसाणु' पद मे 'किसाणु' का विशेषण 'बम्भए' है और यह इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मणजाति के किसान भी होते थे। यदि यह तथ्य न होता तो कवि 'किसाणु' शब्द से ही अपना काम चला लेता। 'बम्भणु किसाणु' का उसने किसी विशेष अभिप्राय से ही प्रयोग किया है। बिहार मे जहाँ ब्राह्मणो के लिये खेती करना वर्जित है और अधिकाश

१. धण्ण ३।३।३।

२. हरिवंस० २।२० ; ३।१३-१४ ; ४।६।

ब्राह्मण कृषि-कर्म स्वय नही करने, वहां राजस्थान उत्तर प्रदेश आदि में ब्राह्मणों को स्वय कृपिकर्म करते हुए देखा जाता है।

ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रीय, वैश्य एव शूद्रो की जातियों के भी उल्लेख हुए है। क्षत्रियो मे इक्ष्वाकुवशी,[1] सूर्यवशी,[2] चन्द्रवशी,[3] अन्धकवृष्णि,[4] एव भोजकवृष्णियों[5] के परम्परा प्राप्त उल्लेख मिलते है। उनके अतिरिक्त तोमर, गुर्जर, प्रतिहार एव सोरट्ठ नामक क्षत्रिय जातियो के भी उल्लेख हुए है। 'सिरिवाल चरिउ' मे बताया गया है कि खस एव नव्वर जाति के डाकुओ से मराठे, सोरठे एवं गुर्जरो ने महायुद्ध मे लोहा लिया था।[6]

वैश्य मे अग्रवाल, पद्मावती, पुरवाल, जैसवाल, गोलाराड, एव पौरपाट आदि जातियो के उल्लेख मिलते है। अग्रवालों मे गर्ग ऐंडिल गोयल मित्तल, बसल गोत्रो के भी नाम प्रशस्तियो एव ग्रन्थ-पुष्पिकाओ में मिलते है। साहित्यिक एव कला के विविध क्षेत्रो मे उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है।[7]

'धण्णकुमार चरिउ' मे एक पटवारी जाति का भी निर्देश पाया जाता है।[8] हमारा अनुमान है कि यह भी कोई वैश्य जाति है जो पटवारिगिरि अर्थात् भूमि की पैमाइश आदि का कार्य करती थी। मध्यभारत मे आज भी उन्हें ही पटवारी कहा जाता है जो खेतो की मालगुजारी का लेखा-जोखा एव बन्दोवस्त के कार्य करते है, भले ही उनकी जाति कुछ भी हो।

अन्य जातियों में भील,[9] खस,[10] बव्वर,[11] पुलिंद,[12] केवट,[13] कलाल,[14] सुनार,[15] लुहार,[16] कुम्हार,[17] यादव,[18] आदि के नाम मिलते हैं। खस बव्वर एवं पुलिंद के विषय मे रइधू ने लिखा है कि ये तीनों जातियां जहां भी रहें, वहां किसी को स्वप्न में भी रहने का विचार नहीं करना चाहिए। कवि ने इसीलिये इनका उल्लेख आक्रमणकारी जातियों के रूप में किया है।

अस्पृश्य जातियों में डोम,[19] मातंग,[20] चाण्डाल,[21] घिनिवाल[22] एवं सुब्भिस[23] जातियों के नाम मिलते हैं। 'घिनिवालु' जाति नवीन प्रतीत होती है। हो सकता है कि यह वही हो, जिसे हम आजकल कसाई कहते हैं। इसीलिए कवि ने इसकी डोम आदि जातियों के साथ गणना की है।

'सुब्भिस' सम्भवत. आजकल की भिश्ती जाति है जिसके लोग मशक के द्वारा जाल घर-घर पहुंचाया करते थे। एक अन्य म्लेच्छ जाति का भी उल्लेख आया है। जो सम्भवत: यवन जाति के लिये प्रयुक्त है।

'सिरिवल चरिउ' मे एक भांड़-जाति[24] का भी उल्लख आता है। जाति के कारनामें आजकल के समान ही मध्य-मे भी थे। किसी भी अच्छे व्यक्ति की नकल बना कर उसे निम्नतर घोषित करना एवं व्यंग्योक्तियों द्वारा खरी एवं स्पष्ट बातो को जनता के समक्ष रख देना इस जाति का परम्परा-प्राप्त व्यापार था। श्रीपाल जिस समय धवल सेठ के द्वारा समुद्र में गिरा दिया जाता है और वह अपने पुरुषार्थ से समुद्र तैर कर उसी द्वीप मे पहुंचता है, जहां

---

१. उपरिवत्।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्।
५. हरिवंश० २।२० ; ३।१३-१४ ; ४।१।
६. सिरिवाल० ५।२२।
७. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४९८
८. धण्ण० ११।३।४।
९. सम्मइजिण० ३।११, बलहद्द० ४।३।
१०. सिरि० ५।२२, १०।३, पाम० ५।६।५, बलहद्द० ४।३।
११. सिरि० ५।२२, ८।१०, १०।३।
१२. घण्ण ३।२४।६।
१३. सिरि० ५।१३।६।
१४. वलहद्द० ३।२, ५।१०।
१५. बलहद्द०—३।२, ५।१०।
१६. बलहद्द०—५।१०।
१७. उपरिवत्—३।२, ५।१०।
१८. हरिवंस० १४।५।
१९. सिरि० ७।१२, बलहद्द० ६।२, ५।१३।
२०. धण्ण० २।७।१-३, सिरि० ७।१२।
२१. बलहद्द ३।२।
२२. उपरिवत्।
२३. उपरिवत्।
२४. सिरि० ७।६-१२।

कि बाद में धवल स्वयं पहुंचता है तथा श्रीपाल को वहां के राज-दरबार में एक सम्मानित व्यक्ति के रूप मे देखता है तब धवल भाड़ों की सहायता से उसे अपमानित करता है तथा राजा की दृष्टि में उसे पतित सिद्ध कर देता है। यद्यपि धवल की यह कुटिलता बाद में स्पष्ट हो जाती है।

परिवार :

समाज का घटक परिवार है। प्रत्येक कवि या साहित्यकार अपनी रचना में पारिवारिक सम्बन्धो पर अवश्य ही प्रकाश डालता है। अपभ्रंश काव्यो मे भी पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन मिलता है, क्योंकि कथानायक का जन्म किसी परिवार मे होता है। उस परिवार में माता-पिता आदि गुरुजनो के साथ भाई, भावज, बहिन, पुत्र, मित्र, दास-दासियां आदि विद्यमान रहते हैं। अत: कवियो ने इसके पारस्परिक सम्बन्धो की चर्चा कर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी उपस्थित किया है।

यह परिवार-व्यवस्था सम्मिलित परिवार व्यवस्था के रूप में चित्रित है। अतः सास-बहू की कलह, ननद-भौजाई के झगड़े, सौतियाडाह तथा परिवार मे परस्पर में चलने वाले शीतयुद्ध आदि के प्रसंग प्रचुर-मात्रा मे मिलते है। महाकवि स्वयम्भू ने सास-बहू के झगड़े को अनादिकालीन कहा है।[१] सौतिया डाह के प्रसंग आनुषंगिक एव स्वतन्त्र दोनों ही रूप में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। एतद्विषयक स्वतन्त्र कृति के रूप में 'सयधदहमी कहा'[२] सुप्रसिद्ध रचना है। इसी प्रकार पुष्पदन्त कृत महापुराण[३] में एक प्रसंग आया है जिसके अनुसार महाराज कृष्ण की सत्यभामा एव रुक्मिणी नाम की दोनों पत्नियों मे पर्याप्त ईर्ष्या चलती है। उन्होंने परस्पर में यह शर्त रखी थी कि जिसके बेटे का पहले विवाह होगा, वह दूसरी का सिर मुँडवा देगी। 'धण्णकुमार चरिउ' में कहा गया है कि अपने माता-पिता के अत्यन्त दुलारे धन्यकुमार को अपने ईर्ष्यालु बडे भाइयों एवं भौजाइयों के तीखे व्यग्य वाणी एवं कटु आलोचनाओ का शिकार होना पड़ा और बेचारे को परदेश भाग जाना पडा।[४]

नारी की स्थिति :

परिवार में नारी की स्थिति परतन्त्र थी। उसके लिये जो आचार-संहिता मिलती है, वह बडी दुरूह है। विवाहिता-नारी को अपने पति के लिये मन-वचन एव कार्य से पूर्णतया समर्पित रहने का आदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि वह दुश्चरित्र एव निर्लज्ज नारियो की संगति कर अपने कुल, एव शीलव्रत को कलकित न करे। उन्हें अपना जीवन इस प्रकार का बनाना चाहिए कि कोई अंगुली भी न उठा सके और दोनो कुलों पर किसी भी प्रकार का कलक न लग सके।[५]

परित्यक्ता नारियों को अपभ्रंश काव्य मे दुर्भाग्य का भण्डार कहा गया है। उनके लिए कहा गया है कि उन्हे दुर्जनो एव आवारागर्दी करने वालो से अपने को छिपा कर रखना चाहिए। सिर उघाड़ कर रास्तो एव बाजारो मे नही घूमना चाहिए। दिन मे शयन नही करना चाहिए तथा दूसरो के भाग्य पर ईर्ष्या नही करना चाहिए। उन्हे शीलव्रत धारण कर सात्विक जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है।[६]

प्रौढा विधवाओ के विषय मे कहा गया है कि पति की मृत्यु पर विधवा को चिता मे जल मरने का प्रयास नही करना चाहिए। सिर पटक कर हाय-हाय करना उचित नही। कवियों ने उन्हें आदेश अथवा उपदेश दिया है कि उन्हे मार्ग मे अत्यन्त वेगपूर्वक अथवा अत्यन्त मन्द-गति से चलना सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार बिना कार्य के दूसरों के घर आना-जाना या रात्रि मे अकेली घूमना त्याज्य बताया गया है। सहिष्णु बन कर आत्मोद्धार का प्रयास आवश्यक बताया गया है और जोर देकर कहा गया है कि जो नारी उत्तम शीलव्रत धारण नही कर सकती, उसकी वही दशा होती है जो सड़ी कुतियों अथवा जूठी पातल की होती है।[७]

---

१. पउमचरिउ—२।१५५।
२. भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित।
३. महापुराण ९१।३, भाग ३, पृष्ठ १७१।
४. धण्ण० १।९-१०।
५. अप्पसंबोह० २।१७।
६. उपरिवत्—२।१८, २१, २३
७. उपरिवत्—२।१९, २१

बाल विधवा के लिये कहा गया है कि उसे सादा भोजन और उच्च विचार रखना चाहिए। सदैव शुभ्र-वस्त्र धारण करना चाहिए। किसी भी प्रकार का शारीरिक शृंगार नही करना चाहिए, काम-वासना को उभाड़ने वाले रगीन एवं रक्ताभ वस्त्र भूल कर भी धारण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार ताम्बूल सेवन, इत्र लेपन, धूर्तक्रीडा, लोगों से हंसी।मजाक, विरह कथाओ का सुनना-सुनाना, घी एवं दूध मिश्रित गरिष्ठ भोजन, जल्दी-जल्दी माथा धोना, शून्यगृह में रहना, घर की दीवालो या छत पर चढ कर दिशाओ का निरीक्षण, गाना गाना, मार्ग मे भटकना, जोरो से किसी को कोसना, परिवार के लोगो से रूठना आदि कार्य वर्जित बताये गये है। इनके त्याग के बिना बाल-विधवा की दुर्गति अचिन्तनीय है।[1]

विवाह-संस्था :

व्यक्ति के चरित्र निर्माण मे विवाह-सस्था का महत्व-पूर्ण योग है। विवाहित होने से यौन-सम्बन्ध एव विषय सीमा का सकोच दोनो ही बातें एक साथ सम्पन्न हो जाती है। स्नेह, प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति की पाठशाला परिवार ही होती है। गुरजनो के प्रति आदर और भक्ति-भाव का प्रदर्शन एव सत्य दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, मरलता एव सेवा प्रभृति सद्‌गुणो का विकास विवाहित परिवार के बीच ही सम्भव है। अत परिवार का आधार विवाह माना गया है।

अपभ्र श चरित काव्यो मे आर्ष-विवाँह को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। विवाह के पूर्व वर-वधू का सम्पर्क होना या अन्य किसी कारण से प्रेम का जागृत होना अथवा प्रेमी-प्रेमिकाओ को एकत्र करके प्रेम के विकसित होने का अवसर नही दिया गया है, क्योकि इन कवियो की दृष्टि मे विवाह एक ऐसी पवित्र-सस्था है जिसका दायित्व पूर्णतया माता-पिता पर है। सिरिवाल चरिउमे आए हुए एक कथानक के आधार पर उज्जयिनी नरेश राजा पृथ्वीपाल अपनी बडी पुत्री सुरसुन्दरी से प्रसन्न होकर उसका विवाह कौशाम्बी नरेश के राजकुमार हरिवाहन के साथ कर देता है किन्तु छोटी पुत्री मैना[2] सुन्दरी की स्पष्टवादिता और धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा, एवं भवितव्यता के प्रति उसका घोर विश्वास देख कर वह क्रोधाभिभूत हो जाता है। पिता को पुत्र की यह प्रवृत्ति अपमानजनक प्रतीत होती है। अत. वह उसका विवाह एक कोढ़ी के साथ कर देता है। इस सन्दाभाँश से विवाह प्रथा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित संकेत मिलते है—

१. विवाह के पूर्व पिता अपनी कन्या की सम्मति लेता था और विभिन्न प्रकार के वरो का परिचय एवं वैभव इत्यादि का वर्णन कर कन्या की भावना को जान लेता था।
२. वर-निर्वाचन में पिता का स्वातन्त्र्य था। यद्यपि वह परिवार के व्यक्तियो से सम्मति लेता था, पर पिता का निर्णय ही सर्वोपरि होता था। उज्जियिनी नरेश राजा पृथ्वीपाल को उसके निर्णय से विचजित करने के लिए रानी एव अमात्यो का प्रयास व्यर्थ जाता है।
३. अनुचित और अनमेल विवाहो को समाज उचित नहीं समझता था। मैना सुन्दरी का कोढ़ी के साथ विवा-सम्बन्ध होते देख कर समस्त-प्रजा के मुख से त्राहि-त्राहि की ध्वनि निकलने लगती है तथा सभी प्रजाजन राजा के इस कुकृत्य पर उसे कोसने लगते है।

विवाह पद्धति :

विवाह रचाने के लिए अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों की चर्चायें आई है। कविधाहिल ने अपने 'पउमचरिउ' में पद्मश्री के विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है— ज्योतिषियो द्वारा शुभतिथि के निश्चल किये जाने पर विवाह की तैयारिया प्रारम्भ कर दी गई। विवाह-सामग्री का सकलन किया जाने लगा। नाते-रिश्तेदारो को न्यौते भेजे जाने लगे। सभामण्डप सजा दिया गया, बच्चों के आनन्द का पारावार न रहा। भावी वधू का मन कुलांचे मार रहा था, वाद्यो की ध्वनि मे ब्राह्मण लोग श्रुतिपाठ कर रहे थे। सुहागिन स्त्रियां कौतुकपूर्ण गीत गा रही थी। कुछ समय बाद कन्या का अभिषेक किया गया, नवीन कीमती वस्त्राभूषणों से सजा कर उसकी आंखों में अंजन लगा दिया गया, फिर उसे कुलदेवी के दर्शनार्थं ले जाया गया।

इधर वर भी सज-धज कर हाथी पर सवार होकर बारात के साथ चला। सखियां उसे मातृमन्दिर ले गईं।

---

१. अप्प० २।२०।

२. सिरिवाल—२।२।

पद्मश्री की हमजोली सखियां वर से हंसी-मजाक करने लगीं। वर से उन्होंने दोहे पढ़वाए और फिर दोनों का विवाह हो गया।[१]

इसी प्रकार 'भविसयतकहा' में धनपति एवं कमलश्री के विवाह के अवसर पर भवन की सजावट, तोरणबन्धन, रंगोली, चौक विविध मिष्ठान्न, आभूषण आदि की सुव्यवस्थाएं कर प्रीतिभोज का वर्णन किया गया हैं।[२]

जंबूसामिचरिउ मे वैवाहिक भोज का सुन्दर वर्णन मिलता है। उसमे तृणमय आसनों पर आगन्तुको को भोज कराये जाने तथा ग्रीष्मऋतुओं में सुगन्धित सरस पदार्थों से सरावोर तालपत्रों से सभी पर हवा करने के उल्लेख मिलते हैं। भोजन में कूर नामक धान के चावल से निर्मित मीठे भात, खट्टे आंचार, चटनी एवं तक्र, मूग के बने हुए व्यंजन आदि कटोरियों में सजा कर परोसे जाने तथा भोजनोपरान्त सुगन्धित द्रव्य एवं ताम्बूल आदि के खिलाये जाने के उल्लेख मिलते है।[३]

प्रीतिभोज के बाद मंगल मंत्रों एवं घी की आहुति के साथ वरमाला डालकर विवाह की अन्तिम प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी,[४] सिरिवाल चरिउ में सुलोचना के विवाह-प्रसंग में इष्टदेवपूजा के साथ सात भांवरें, सप्तपदीकथन एवं उसके बाद हथलेबा की प्रक्रिया को विवाह की अन्तिम प्रक्रिया कही गई है।[५]

बहु विवाह :

अपभ्रंश-काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय बहु-विवाह प्रथा का पर्याप्त रूप में प्रचलन था। क्या पौराणिक पात्र और क्या युगीन पात्र, सभी में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। हां, अन्तर इतना ही है कि पौराणिक पात्र सहस्रों विवाह रचाते थे और युगीन पात्र २-२, ४-४ चक्रवर्ती सम्राट भरत की ९६ सहस्र रानियां,[६] चम्पानरेश श्रीपाल की ८ सहस्र रानियां,[७] वसुदेव की एक सहस्र से अधिक रानियों[८] को चर्चाएं आती हैं।

बहु-विवाह-प्रथा में अपभ्रंश के कवि स्वयं भी बड़े रसिक प्रतीक होते हैं। पउमचरिउ के लेखक कविराज चक्रवर्ती नाम की उपाधि से विभूषित महाकवि स्वयम्भू की अमृताम्बा एवं आदित्याम्बा नाम कीं दो पत्नियां थीं[९] जिनको प्रेरणा एवं उत्साह से कवि ने पउमचरिउ जैसे गम्भीर महाकाव्य की रचना की।

जंबूसामिचरिउ के लेखक महाकवि वीर की भी चार साहित्यरसिक पत्नियां थीं जो उनकी कविता-कामिनी की अजस्र प्रेरणा स्रोत थीं। उनके नाम है जिनमती, पद्मावती, लीलावती एवं जयामती।[१०]

महाकवि रइधू के आश्रयदाता श्री मुल्लण साहू की भी दो पत्नियो के उल्लेख मिलते हैं।[११]

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। समाज में उसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। (क्रमश:

१. पउमचरिउ—पद्य २४।
२. भविसयत्तकहा—१।८-१०।
३. जंबूसामिचरिउ भूमिक—पृ० १४३।४४।
४. भविसयत्त० १।८।१०।
५. सिरिवालचरिउ—३।१७।
६. हरिवंस० २।१७।
७. सिरिवाल० ८।१५, ६।१३।
८. हरिवंस० ५।१४।
९. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन–पृ० १७।
१०. जंबूसामिचरिउ, भूमिका—पृ० ११।
११. धण्णकुमार चरिउ—४।२०।

□□

जैनदर्शन में अनेकान्तवाद

☐ अशोककुमार जैन एम० ए० शास्त्री, नई दिल्ली

भारतवर्ष का उर्वर मस्तिष्क अनेक सुन्दर और सार्वभौम विचारों की जन्मभूमि रहा है। यहाँ के विभिन्न-दर्शन अपनी स्वतन्त्र मान्यता और विचारधारा को लेकरउद्भूत हुए और उनका विकास होता रहा। उनकी अपनी मान्यताओं में से अनेक ऐसी धारायें निकली जिनके नाम पर तत्तत्सम्प्रदायों का बोध होने लगा उदाहरणतः मध्यम प्रतिपदा के लिए बौद्ध, अद्वैतवादी विचारधारा के लिए नैयायिक और सांख्य, भोगवादी विचारधारा के लिए चार्वाक, आत्मवादी विचारधारा के लिए पौराणिक विशेष प्रख्यात हुए। इसी सन्दर्भ में अनेकान्तवाद का जब नाम आता है तो उससे जैन विचारधारा सम्यगुपलक्षित होती है।

जैन दार्शनिक साहित्य का सामान्यावलोकन करते समय आज तक उपलब्ध समग्र साहित्य को ध्यान मे रख कर प्रो० महेन्द्रकुमार जी ने इस प्रकार कालनिर्धारण किया है।[1]

१. सिद्धान्त आगमकाल : वि० ६वी शती तक।

२. अनेकान्तस्थापनकाल : वि० ३ री से ८वी तक।

३. प्रमाण व्यवस्थायुग : वि० ८वी से १७वीं तक।

४. नवीन न्याय युग : वि० १८वीं से···

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेक अन्त धर्म या अंश ही जिसका आत्मा स्वरूप हो वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है।[2] सभी ज्ञानों का विषय अनेकान्तात्मक कहा जाता है।[3] सभी ज्ञानों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय एक देश से विशिष्ट वस्तु है।[4] अकलङ्कदेव ने अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार किया है।[5] अनेकान्त की सीमा के अन्दर वस्तु के अनन्त धर्मों का समावेश होता है एक वस्तु में वस्तुत्व की सिद्धि करने वाले परस्पर विरोधी द्रव्य पर्याय रूप दो शक्ति धर्मों का युगपद् एकत्र अविनाभाव अविरोध सिद्ध करना यही अनेकान्त का मुख्य प्रयोजन है। भेदाऽभेद में एकान्त की अनुपलब्धि होने से अर्थ की सिद्धि अनेकान्त से होती है।[6] दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त नित्य-अनित्य, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत्, एक-अनेक आदि सभी अपेक्षित धर्म है। लोक व्यवहार में भी छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, ऊँचा-नीचा, दूर-नजदीक, मूर्ख-विद्वान आदि सभी आपेक्षिक हैं। एक ही समय में पदार्थ नित्य और अनित्य दोनों हैं किन्तु जिस अपेक्षा से अनित्य है उसी अपेक्षा से नित्य नही है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य एवं पर्याय अपेक्षा अनित्य है। पर्याय उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली है जो कि वस्तु मे अनित्यता सिद्ध करती है साथ ही उत्पाद-व्यय से वस्तु मे हमें उसकी स्थिति की ध्रुवता का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है यही स्थिरता—ध्रुवता वस्तु मे नित्य धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है जो अपनेअस्तित्व स्वभाव को न छोड़कर उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवता से संयुक्त है एव गुण तथा पर्याय का आधार है सो द्रव्य कहा जाता है।[7] यही लक्षण उमास्वामि ने भी तत्त्वार्थसूत्र में किया है।[8] अन्य दर्शनों ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है परन्तु जैनदर्शन कहता है कि दीपक से लेकर आकाशपर्यन्त सब पदार्थों का स्वरूप एक-सा है अतः वस्तु का स्वभाव नित्य अनित्यादि अनेक धर्मों के धारक स्याद्वाद (अनेकान्त-वाद) की मर्यादा को उल्लघन नहीं करता। एकान्त से नित्य-अनित्य आदि कुछ भी नही है किन्तु अपेक्षा से सब है।[9] अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं किन्तु अनेकातन्तवाद और स्याद्वाद पर्यायवाची हो सकते हैं यथार्थ मे अर्थ का नाम अनेकान्त है। अनेक धर्मों के प्रतिपादन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है।[10] सभी प्रमाण या प्रमेयरूप वस्तु में स्व-पर द्रव्य की अपेक्षा क्रम और युगपद् रूप से अनेक धर्मों की सत्ता पायी जाती है जिस रूप से घड़े की सत्ता हो उसे स्वपर्याय तथा जिससे घड़ा व्यावृत होता हो उन्हें पर पर्याय समझ लेना चाहिए। घड़ा पार्थिव होकर भी धातु का बना हुआ है मिट्टी या

पत्थर का नहीं है अतः वह धातु रूप से सत् है मिट्टी या पत्थर आदि अनन्त रूप से असत् है। घडा धातु का बना होकर भी सुवर्ण का है चांदी, पीतल तांबे आदि का नही अतः स्वर्णरूप से सत् है चांदी या पीतल सैकडों धातुओ की दृष्टि से असत् है। सोने का होकर भी जिस सोने की डली को गढ़ा गया है वह उस गढ़े गये सुवर्ण की दृष्टि से सत् है तथा नही गढे गये खदान आदि में पडे हुए अघटित स्वर्ण की दृष्टि से असत् है। गढे गये सुवर्ण की दृष्टि से होकर भी वह देवदत्त के द्वारा गढ़े गये उस स्वर्ण की दृष्टि से सत् है यज्ञदत्त आदि सुनारोंके द्वारा गढे गये सुवर्ण की दृष्टि से असत् है। गढ़े हुए सुवर्ण की दृष्टि से होकर भी वह मुह पर सकरे तथा बीच मे चौडे आकार से सत् हे तथा मुकुट आदि के आकारो से असत् है। घडा मुंह पर सकरा तथा बीच मे चौडा होकर भी वह गोल है अत गोल आकार से सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारो से असत् है। गोल होकर भी घड़ा अपने नियत गोल आकार से सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारो से असत् है अपने गोल आकार वाला होकर भी घड़ा अपने उत्पादक परमाणुओं से बनेहुए गोल आकार से असत् है इस तरह घड को जिस-जिस पर्याय से सत् कहेगे वे पर्यायें स्वपर्याय है तथा जिन अन्य पदार्थों से वह व्यावृत होगा वे सभी पर पर्याय होगी।[11]

जैनदृष्टि से पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है उसमे कुछ धर्म सामान्यात्मक है और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थ मे दो प्रकार के अस्तित्व हैं उसमे कुछ धर्म सामान्यात्मक हे और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अस्तित्व है एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व एक द्रव्य को सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्य से असकीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्य की पर्यायें इसके सजातीय या विजातीय द्रव्य से असकीर्ण रह कर पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ विवक्षित द्रव्य की इतर द्रव्यों से व्यावृत्ति करता है वहाँ वह अपनी कालक्रम से होने वाली पर्यायों में अनुगत भी रहता है। स्वरूपास्तित्व से अपनी पर्यायों में तो अनुगत प्रत्यय होता है तथा इतर द्रव्यो और उनकी पर्यायों में व्यावृत प्रत्यय।[11] सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्तति से बद्ध है सभी के अपने-स्वभाव अनाद्यनन्त है।[11] भाव मे ही जन्म सद्भाव, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश देखे जाते है। बाह्य अभ्यन्तर दोनो निमित्तो से आत्म लाभ करना जन्म है जैसे मनुष्य जाति आदि के उदय से जीव मनुष्य पर्याय रूप उत्पन्न होता है। आयु आदि निमित्तो के अनुसार उस पर्याय मे बने रहना सद्भाव या स्थिति है। पूर्व स्वभाव को कायम रखते हुए अधिकता हो जाना वृद्धि है क्रमशः एक देश का जीर्ण होना अपक्षय है। उस पर्याय की निवृत्ति को विनाश कहते है इस तरह पदार्थो मे अनन्तरूपता रहती है अथवा सत्व ज्ञेयत्व, द्रव्यत्व, अमूर्तत्व, अवगाहनत्व असख्येयप्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्व आदि की दृष्टि मे जीव अनेकरूप है।[11]

सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थ स्वरूप से स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे सत् है और पररूप से परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत् स्वरूप हे जैसे घट अपने द्रव्य—पुद्गल, मृत्तिका क्षेत्र—स्थान, काल—वर्तमान एव भाव—लाल काला आदि की अपेक्षा से तो सत् स्वरूप है वही पट से अन्य पटादिक के द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव से नही है असत् रूप है दोनो मे से किसी एक रूप मानने से वस्तु या तो सर्वात्मक हो जायेगी अथवा लोक-व्यवहार का अभाव हो जायेगा इसीलिए स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को सत् कौन नही मानेगा और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को असत् कौन नही मानेगा।[11] इसी को अकलङ्कदेव कहते हे कि जितने भी पदार्थ शब्दगोचर है वे सब विधि निषेधात्मक हैं कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नही होती जैसे कुरबक पुष्प लाल और सफेद दोनो रगो का नही होता तो इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वह वर्ण शून्य है इसी तरह पर की अपेक्षा से वस्तु मे नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है कहा भी है कथञ्चित् असत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत् की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्तित्व और उपलब्धि मानी जाय तो घट की पटादि रूप से भी उपलब्धि होने से सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे और यदि पररूप की तरह स्वरूप से भी असत्व माना जाय अर्थात् सर्वथा असत्व

माना जाय तो पदार्थ का ही अभाव हो जायेगा वह शब्द का विषय नही हो सकेगा अत: नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व से शून्य जो होगा वह अवस्तु ही होगा।" जिस पदार्थ मे जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य शक्तियाँ होती है तथा वह जितने प्रकार के ज्ञानो का विषय होता है उसमे उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती है। शब्द प्रयोग का अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं शब्द और अर्थ। एक ही घट मे पार्थिव, मार्तिक-मिट्टी से बना हुआ, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानों का विषय होता है जैसे घडा अनेकान्त रूप है उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मा है। अज्ञानी पुरुष प्रत्यक्ष मे, ज्ञान मे आगत, स्फुट स्थिर जो ज्ञेयाकार, उसकी अस्तिता से उठाया हुआ स्वद्रव्य को न देखता हुआ सब ओर से शून्यता को प्राप्त हुआ अज्ञानी पुरुष स्वयं नाश को प्राप्त होता है। अनेकान्तवादी शीघ्र उत्पत्ति है जिसकी ऐसे सुस्पष्ट, सुविशुद्ध ज्ञान के तेज से अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व के द्वारा वस्तु का स्पष्ट निरूपण करके स्वयं अपने मे परिपूर्ण होता हुआ जीवित रहता है।"

अनेक शक्तियों का आधार होने से भी अनेकान्त है जैसे घी चिकना है। तृप्ति करता है। उपबृंहण करता है अत अनेक है अथवा जैसे घडा जल धारा आहरण आदि अनेक शक्तियो से युक्त है उसी तरह आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से अनेक प्रकार की वैभाविक पर्यायों की शक्तियो को धारण करता है। जिस प्रकार एक ही घडा अनेक सम्बन्धियो की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम, दूर-पास, नया-पुराना, समर्थ-असमर्थ देवदत्तकृत चैत्रस्वामिक, संख्या परिमाण पृथकत्व, संयोग विभागादि के भेद से अनेक व्यवहारों का विषय होता है उसी तरह अनन्त सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करता है अथवा जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करता है अथवा जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियों की अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदों को प्राप्त होती है उसी तरह जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणों के सम्बन्ध से जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणस्थान, दंडी, कुंडली आदि अनेक पर्यायो को धारण करता है। प्रदेशिनी अंगुली में मध्यमा की अपेक्षा जो भिन्नता है वह अनामिका की अपेक्षा नही है प्रत्येक पररूप का भेद जुदा-जुदा है। मध्यमा ने प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया अन्यथा शशविषाण मे भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था और न स्वत: ही था अन्यथा मध्यमा के अभाव मे भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणों की अपेक्षा उन-उन रूप से व्यवहार मे आता है।

अनन्तकाल और एक काल में अनन्त प्रकार के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण आत्मा अनेकान्त-रूप है जैसे घडा एककाल में द्रव्यदृष्टि से पार्थिव रूप में उत्पन्न होता है जलरूप में नहीं, देशदृष्टि से यहाँ उत्पन्न होता है पटना आदि मे नहीं भावदृष्टि से बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नही। यह उत्पाद अन्य जातीय घट किञ्चिद् विजातीय घट। पूर्ण विजातीय पटादि तथा द्रव्यान्तर आत्मा आदि के अनन्त उत्पादों से भिन्न है अत: उतने ही प्रकार का है। इसी प्रकार उस समय उत्पन्न नहीं होने वाले द्रव्यों की ऊपर नीची, तिरछी, लम्बी, चौड़ी आदि अवस्थाओ से भिन्न वह उत्पाद अनेक प्रकार का है। अनेक अवयव वाले मिट्टी के स्कन्ध से उत्पन्न होने के कारण भी उत्पाद अनेक प्रकार का है उसी तरह जल-धारण आचमण हर्ष, भय, शोक, परिताप आदि अनेक अर्थ क्रियाओ मे निमित्त होने से उत्पाद अनेक तरह का है उसी समय उतने ही प्रत्यक्षभूत व्यय होते हैं जब तक पूर्व पर्याय का विनाश नहीं होता तब तक नूतन उत्पाद की संभावना नही है उत्पाद और विनाश की प्रतिपक्ष-भूत स्थिति भी उतने ही प्रकार की है जो स्थित नहीं है उसके उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते। घट उत्पन्न होता है इस प्रयोग को वर्तमान तो इसलिए नही मान सकते कि घड़ा अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ है, उत्पत्ति के बाद यदि तुरन्त विनाश मान लिया जाय तो सद्भाव की अवस्था का प्रतिपादक विनाश मान लिया जाय तो सद्भाभाव की अवस्था का प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं होगा अत: उत्पाद में भी अभाव और विनाश में भी अभाव इस प्रकार पदार्थ का अभाव ही होने से

तदाश्रित व्यवहार का लोप हो जायेगा अतः पदार्थ में उत्पद्यमानता, उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थायें माननी ही होंगी इसी तरह एक जीव में भी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय की विषयभूत अनन्त शक्तियों तथा उत्पत्ति, विनाश, स्थिति आदि रूप होने से अनेकान्तात्मक समझनी चाहिए।

अन्वय व्यतिरेक होने से भी अनेकान्तरूप है जैसे एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूप से अन्वय धर्म का तथा नया पुराना आदि विशेष रूप से व्यतिरेक धर्म का आधार होता है उसी तरह आत्मा भी सामान्य और विशेष धर्मों की अपेक्षा अन्वय और व्यतिरेकात्मक है। अनुगताकार बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोग के विषयभूत स्वस्तित्व, आत्मत्व, ज्ञातृत्व, दृष्टत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशत्व, अवगाहनत्व, अतिसूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व, अनादि सम्बन्धित्व, ऊर्ध्वजाति स्वभाव आदि अन्वय धर्म है व्यावृताकार बुद्धि और शब्द प्रयोग के विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम, बुद्धि, ह्रास, क्षय, विनाश, जाति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम लेश्या सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।[१८]

अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यगनेकान्त हैं तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का लोप किया जाय तो सम्यगेकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत धर्म का भी लोप होने से सर्वलोक का प्रसंग प्राप्त होगा।[१९] प्रयोजन के अनुसार वस्तु के किसी एक धर्म को विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती तो वह अर्पित या उपनीय कहलाता है और प्रयोजन के अभाव में जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाती है मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एकवस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।[२०] जिस तरह अनेकान्त सब वस्तुओं को विकल्पनीय करता है उसी तरह अनेकान्त भी विकल्प का विषय बनने योग्य है। ऐसा होने से सिद्धान्त का विरोध न हो इस तरह अनेकान्त एकान्त भी होता है। अनेकान्त दृष्टि जब अपने विषय में प्रवृत होती है तब अपने स्वरूप के विषय में वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियों का समुच्चय होने से अनेकान्त तो है ही परन्तु वह एक स्वतन्त्र दृष्टि होने से उस रूप में एकान्त दृष्टि भी है इस तरह अनेकान्त भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप इकाइयो का सच्चा जोड़ है। अनेकान्त में सापेक्ष (सम्यक्) एकान्तों को स्थान है ही।[२१] सभी नय अपने-अपने वक्तव्य में सच्चे है और दूसरे के वक्तव्य का निराकरण करने मे झूठे है अनेकान्त शास्त्र का ज्ञाता उन नयों का ये सच्चे है और ये झूठे है ऐसा विभाग नहीं करता।

अनेकान्त छल रूप नही है क्यों कि जहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहाँ छल होता है जैसे नवकम्बलोऽयं देवदत्तः यहाँ नव शब्द के दो अर्थ हैं एक ९ संख्या और दूसरा नया जो नूतन विवक्षा से कहे गये नव शब्द का ९ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकान्तवाद छल नही हो सकता क्यों कि इसमें वचन विघात नहीं किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तुत्व का निरूपण किया गया है।

अनेकान्त संशयरूप नही है—सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर, किन्तु उभय विशेषों का स्मरण होने से संशय होता है जैसे धुंधली रात्रि में स्थाणु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुष-

गत सिर खुजाना कपड़ा हिलने आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर। किन्तु इन विशेषों का स्मरण रहने पर ज्ञान दो कोटियों में दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष किन्तु अनेकान्तवाद में विशेष धर्मों की अनुपलब्धि नहीं है। सभी धर्मों की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षाओं से स्वीकृत है। तद्धर्मों का विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीति से बनाया गया है। अपनी-अपनी अपेक्षाओं से संभावित धर्मों में विरोध की कोई सम्भावना ही नही है जैसे एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न पुत्रादि सम्बन्धियों की दृष्टि से पिता पुत्र, मामा आदि निर्विरोध रूप से व्यवहृत होता है उसी तरह अस्तित्वादि धर्मों का भी एक वस्तु मे रहने में कोई विरोध नही है।[13]

अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद भाषा का अहिंसक उद्देश्य था समस्त मत-मतान्तरों का नय दृष्टि से समन्वय कर समत्व की सृष्टि करना। अनेकान्तदर्शन के अन्तः यह रहस्य भी है कि हमारी दृष्टि वस्तु के पूर्णरूप को जान नही सकती जो हम जानते हैं वह आंशिक सत्य है हमारी तरह दूसरे मतवादियो के दृष्टिकोण भी आंशिक सत्यता की सीमा को छूते हैं इसलिये इसमें यह शर्त लगायी गयी है कि जो दृष्टिकोण अन्य दृष्टियों की अपेक्षा रखता है उनकी अपेक्षा, उपेक्षा, या तिरस्कार नहीं करता वही सच्चा नय है और ऐसे नयों का समूह ही अनेकान्तदर्शन है।[14]

अन्य सभी दर्शनों के सिद्धान्तों की अपेक्षा जैनदर्शन की यह विशेषता है कि जहाँ सभी दर्शन अपने से अतिरिक्त दूसरे दर्शनों का खण्डन करते हैं वहाँ यह सभी का संग्रह करके उन्हें एक अखण्ड रूप देने में ही दर्शनशास्त्र का सार्थक्य दिखलाता है। इस प्रकार दर्शनों के एकाङ्गी कथनों को समन्वित करने की क्षमता इस अनेकान्तवाद सिद्धान्त में है। इस सिद्धान्त का आश्रय लेने पर संसार का कोई भी दर्शन या वाद असत्य दिखाई नही देता है इसमें केवल विभिन्न दर्शनों को नयदृष्टि से देखने की अपेक्षा है। यदि इस सिद्धान्त को अपनाया जाय तो विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने सोचने के साथ ही वास्तविक वस्तु स्वरूप का सम्यक्ज्ञान हो सकेगा।

---

१. जैनदर्शन. डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य पृ० १४।

२. अनेकेऽन्ता अंशा धर्मावात्मास्वरूप यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्तेः। षड्दर्शन समुच्चयः हरिभद्र पृ० ३२२।

३. अनेकान्यात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थोनयस्य विषयोमतः॥
न्यायावतार कारिका २९।

४: सदसन्नित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।
अष्टशती पृ० २८६।

५. एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर विरुद्धशक्तिद्वय-प्रकाशनमनेकान्तः।
समयसार (आत्मख्याति) १०।२४७।

६. भेदाऽभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिः अनेकान्तात्।

७. अपरिव्यक्तस्वभावेन उत्पाद व्यय ध्रुवत्वसंबद्धम्।
गुणवच्चसपर्यायम् यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्तिपप्रवचन-सार-३४।

८. गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ५.३८।
उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् ५.३०।

९. आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद् इति त्वदाज्ञाठिषतां प्रलापाः।
स्याद्वादमञ्जरी का० ५।

१०. आप्तमीमांसाः तत्वदीपिका प्र० गणेशवर्णी संस्थान वाराणसी पृ० ३३०।

११. षड्दर्शन समुच्चयः हरिभद्र पृ० ३३० प्र० भारतीय ज्ञानपीठ।

१२. सिद्धिविनिश्चयटीका सपादक पं० महेन्द्रकुमार न्याया-चार्य प्रस्तावना पृ० १३४।

१३. तत्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेव अ० २।७ पृ० १२२।
प्र० भारतीय ज्ञानपीठ

१४. तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलङ्कदेव ४।४२ पृ० २५०।

१५. सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्ट्यात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥
आप्तमीमांसा—समन्तभद्र १५।

१६. तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलङ्कदेव २।८ पृ० १२२।

१७. अध्यात्म अमृतकलश—आ० अमृतचन्द—टीकाकार। पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री २५२ पृ० ३५३।

(शेष पृष्ठ २३ पर)

पचास वर्ष पूर्व—

दो मौलिक-भाषण

[अतीत के संस्मरण उस काल की स्थिति के दर्पण होते हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व जाति-समाज और देश की क्या स्थिति थी और साहू-दम्पति के क्या अरमान थे, इसका पूरा चित्र निम्न दो भाषणों में अंकित है। ये भाषण सन् १९३२ के हैं जो **'स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन तथा स्व० श्रीमती रमारानी जैन'** ने अपने दाम्पत्य सूत्र-बन्धन के अवसर पर दिए थे। दोनों भाषण वीर सेवा मन्दिर में लिपिवद्ध रूप मे सुरक्षित है। उन्हें पाठको के चिन्तन व तद्रूप-आचरण की प्रेरणा हेतु 'अनेकान्त' में प्रकाशित किया जा रहा है। निश्चय ही साहू जी की स्मृति की चन्दन-सुरभि आज भी हमें सुवासित कर रही है। हमारे नमन।—सम्पादक]

साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन का अपने विवाहोत्सव पर दिया हुआ भाषण :

पूज्य गुरुजनों तथा उपस्थित सज्जनो !

आज अपना देश जिस परिस्थिति में से गुजर रहा है उन्हें विचार करते हुए विवाह की समस्या एक बडी ही जटिल व विकट समस्या हो रही है। नहीं कहा जा सकता इसके उपरान्त हम देश धर्म तथा समाज के प्रति कहाँ तक अपने कर्तव्य का पालन कर सकते है। विवाह करना एक बहुत बड़ी जरूरत तथा पहले से कई गुना अधिक जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेना है। मेरा विद्यार्थी जीवन होने से यद्यपि मैं इस जिम्मेदारी को उठाना नही चाहता था, परन्तु अपने हितैषी गुरुजनों और आप सब सज्जनों की जब यही इच्छा है तथा आज्ञा है कि मुझे इस गृहस्थाश्रम के जुए को उठाना ही चाहिए तब मेरे लिये उसके आगे नतमस्तक हो जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता। ऐसी दशा मे इस विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आप सब सज्जनों को जो कष्ट हुआ है उसके लिए आभार प्रकट करने तथा स्वागत करने का मेरा अधिकार नहीं रह जाता।

विवाह सम्बन्ध एक नैतिक और धार्मिक सम्बन्ध है जो दो प्राणियों को अपनी अध्यात्मिक तथा लौकिक उन्नति तथा अपने देश व समाज की सेवा के लिये सहायक होता है। विवाह नियमित संयम है। इसमें सन्देह नहीं यह एक प्रकार का बन्धन भी है। स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री बन्धन रूप है। इस बन्धन को स्वीकार करने पर मनुष्य बहुत से अंशो में अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है तरह-तरह की चिन्ताओं आपदाओं तथा जिम्मेदारियों के दलदल मे फंस जाता है, इस तरह एक अच्छा, खासा बन्दी बन बैठता है।

समाज और देश की गिरती हुई दशा को रोकने के लिये बड़े सुधारो की नितान्त आवश्यकता है। विवाह आदि अवसरों पर तो फिजूलखर्ची, आडम्बर, बनावट और बेहूदी रश्मो ने अपना घर बना लिया है इनसे एकदम छुटकारा पाना कतई जरूरी है। इस अवसर पर जो कुछ भी सुधार हो सका है उसका विशेष श्रेय पूज्य श्रीयुत सेठ डालमिया जी को है। वह धन्य हैं। किन्तु यह भी मानना पडेगा कि अभी और बहुत से सुधारों की गुंजायश इसमे रह जाती है।

संसार विशेषकर हमारा देश इस समय बिल्कुल एक निर्धन अनियन्त्रित और अनियमित स्थिति में से गुजर रहा है। हमारा भविष्य देश के भविष्य पर निर्भर है। अभी भविष्य अन्धकार मे है। नही कहा जा सकता कि जीवन गति क्या होगी।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हम दोनों को बल प्रदान करें। हममें इस भार को सहन करने की शक्ति हो। आप गुरुजन और महानुभाव हमको आशीर्वाद दें कि हम अपनी जीवन नौका को संसार समुद्र में हर प्रकार के कष्ट आंधी-झोंकों का सामना करते हुए अपने ध्येय पर पहुच सकें।

श्रीमती रमा जैन का अपने विवाहोत्सव पर दिया हुआ भाषण :

श्री परमात्मा देव व पूज्य महानुभावों को प्रणाम करते हुए सबसे पहले मैं आप सबका हृदय से अभिनन्दन करती हू जिन्होंने हमारे लिये इतनी कड़ी गर्मी की मौसम में यहाँ आने का कष्ट उठाया है फिर इसके बाद जिस कार्य के लिये यह समारोह रचा गया है उसके विषय में मैं कुछ कहना चाहती हूं।

आप जानते है कि आजकल सारे संसार मे दु ख छा रहा है। कही राष्ट्र आपस में लड़ रहे हैं, कही बेकारी से, कही काम की अधिकता से, कही अकाल मे, कही (Overproduction) अर्थात् पैदावारी की बहुतायत से, कही स्वतन्त्रता के अभाव से, कही स्वर्ण के अभाव मे, कही स्वर्ण की बहुतायत से दु ख हो रहा है फिर भारतवर्ष का तो कहना ही क्या जो सैंकडो वर्षों से गुलामी की जञ्जीर मे जकडा हुआ है, जहाँ धर्म के नाम से अधर्म करते हुए हिन्दू-मुसलमान ही नही, हिन्दुओ मे, सनातनी आर्यसमाजी, जैनियो में श्वेताम्बरी, दिगम्बरी, मुसलमानो में सिया, सुन्नी, छोटी-मोटी बातों पर जिनमें कुछ भी तथ्य नही है लडते है जहां के ही नही करोडों मनुष्य अन्न के महगे होने से, सस्ते नही होने के कारण एक समय भी पेट भर न खाकर किसी तरह उदराग्नि को शान्त करते हैं और उस हमारे दु ख को देख कर ससार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गाधी अपने साथियों सहित असंख्य आदमियों को लेकर जेलो में तपस्या कर रहे है। जिनके लिये वे जेलों में सड रहे हैं वही हम अपना समय खेल, तमाशा, आमोद-प्रमोद और गुलछर्रों मे व्यतीत कर रहे है। क्या शर्म की बात नही है ?

क्षमा करेंगे, विवाह सस्कार हिन्दू धर्म के सोलह संस्कारों मे एक मुख्य था जिसको परिवर्तन करते-करते हमने यहाँ तक बदल दिया कि जिनका विवाह किया जाता है उन्हें इसके रहस्य तक का पता नही रहा और गुड्डे-गुड्डियो का खेल बना दिया। कई समाजों में तो इसका यहाँ तक पतन हो गया है कि गरीब घर की लड़की को चाहे वह कितनी ही सुशीला, योग्य और बुद्धिमती हो धनाभाव के कारण आजन्म कुमारी रहना पडता है और उसके अभिभावक उसे कुमारी रखने में पाप मान कर, बिना पात्र का विचार किये चाहे जहां उस बेचारी को ढकेल देते है, या कही से कर्ज मिल सका तो कर्ज लेकर, घर-बार बेच कर जन्म भर के लिये दु खी हो जाते हैं और प्रत्यक्ष मे यह सिद्ध कर देते है कि भारतवर्ष मे गरीब घर मे कन्या का जन्म होना ही एक प्रकार का दैवी कोप है। कही-कही तो बेचारी लड़कियों को आत्महत्या तक करनी पड़ती है। पञ्जाब के आधुनिक सन्यासी स्वामी राम के वाक्य मुझे इस समय याद आ रहे है।

An average Indian home is typical of the state of the whole nation—Very slender means and not only yearly multiplying mouths to feed but slavishly to incur, undue expences in meaningless and cruel ceremonies of marriage etc.

भारतवर्ष का साधारण गृहस्थ सारे राष्ट्र की दशा का चित्र है। बहुत थोडी-सी तो आमदनी और तिस पर प्रति वर्ष खाने वालों (सन्तानों) की संख्या मे वृद्धि ही नहीं वरन् विवाहादि की दुखदायी रस्मो में द्रव्याभाव से अनुचित खर्च।

मुझे दु ख के साथ कहना पडता है कि मेरे विवाह में जितनी सादगी मैं चाहती थी वह कुछ भी नहीं हुई। मुझे विश्वास है कि यदि पूज्य बापू जी और पूज्य श्री जमनालाल जी बजाज जेल मे बाहर होते तो ऐसा कभी नहीं हो पाता।

भारतवर्ष जब धन-धान्य से परिपूर्ण था, दूध और घी मनों के भाव ही नही, दूध को लोग बेचना पाप समझते थे, उस समय विवाहादि की प्रत्येक रस्मे कुछ-न-कुछ तथ्य को लेकर चलाई गई थी पर अब दूध तो दूर रहा पानी तक के दाम देने पड़ते हैं। हर एक बातें समयानुसार बदलती रहती है अब हम इन रस्मों के भावार्थ को भूल कर लकीर के फकीर रह गए। कुप्रथाओं को बन्द करने की दृष्टि से क्या मैं यह प्रार्थना दोनों तरफ से कर सकती हूं कि कम मे कम इस विवाह में न तो गहना और न दहेज दें। विवाह के बाद तो कौन अपनी कन्या को नही देता और कौन

किसको रोक सकता है? दूसरी तरफ गहने की ? दरकार ही क्या है जब सारी सम्पत्ति में ही मेरा अधिकार हो जायगा। इस समय की स्थिति को देखते हुए यदि हमारी गहने पहनने की इच्छा होती है, तो देश, समाज और ईश्वर के प्रति अन्याय और महापाप है। स्त्रियों का गहना तो लज्जा है और वह लज्जा घूंघट और पर्दे से नहीं होती। वैसे तो हम घूंघट निकालती हैं, वह भी केवल परिचितों से और दूसरी तरफ बड़ों का कहना तक नहीं मानती। हमें यदि लज्जा करनी चाहिए तो झूठ से व्यर्थ के आडम्बरो से बुरे कामों से, फैशन तथा भोग-विलासों से। हमारा शरीर सांसारिक सुखों के लिये नहीं, भगवन् प्राप्ति के लिये हुआ है। यदि हममें विशेष ज्ञान है और हम उसका सदुपयोग नहीं करते तो हम मनुष्य होते हुए भी बिना सींग के पशु के समान हैं।

विवाहिक संस्कार के अनन्तर गृहस्थ धर्म की एक बड़ी भारी जिम्मेदारी हम अपने ऊपर ले लेते हैं। उस समय यदि गृहस्थ रूपी वायुयान मे, पति-पत्नी रूपी पंखों से, पूर्वजन्म के कर्मरूपी पेट्रोल से और बुद्धि रूपी Pilot द्वारा दुनियां के प्रलोभनों आदि आंधी-तूफानों से बचते हुए संसार यात्रा करें तो अपने लक्ष्य को पहुंच कर सुखी हो सकते हैं पर जिसने अपनी इन्द्रियों को और पूज्य महात्मा जी के मतानुसार कम-से-कम स्वादेन्द्रिय को वश में नहीं किया, चाहे वह कैसा भी पंडित M. A. L. L. B. आदि डिग्री धारी, प्रोफेसर, जज, सुधारक और देश सेवक भी क्यों न हों उसमें और एक वे समझ बालक में कुछ भी अन्तर नहीं है।

इस समय हम सब भयानक विपत्ति में फंसे हुए हैं। दिन-प्रतिदिन आयु बढ़ती नहीं घटती जा रही है। ऐसी अवस्था में हमें अपना एक ध्येय निश्चित कर लेना चाहिए। मनुष्य योनि का फल ही ईश्वर प्राप्ति है' उस ईश्वर प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हो सकते हैं। कौन-सा रास्ता ग्रहण करना यह अपना-अपना अधिकार है। किसी के लिये देश-सेवा—जेल जाना, लाठी खाना, खद्दर प्रचार करना आदि—ठीक हो सकता है, किसी के लिये गृहस्थ में नियमित रह कर दान धर्म आदि करते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना ठीक हो सकता है किसी के लिये एकान्त में भगवान का भजन करना ठीक हो सकता है और कोई-कोई भ्रम से अधिकारियों की खुशामद करके देशद्रोही बनना भी ठीक समझते हैं यह सब अपनी-अपनी रुचि भावना और विश्वास पर निर्भर करता है।

शायद आप उकता गए होंगे अब मैं आपका १-२ मिनट समय और लूंगी। आजकल प्रायः—

All marriage relations brought about by attachment to the colour of the face to the outlines of the countenance to figure, form or personal beauty, and in losses and are very unhappy?

सभी ऊपर के दिखावे को लेकर चेहरे की सुन्दरता पर मुग्ध रहते हैं भीतर के गुणों की ओर कोई नहीं देखता इसका परिणाम आगे जाकर दुःख होता है जैसा कि आज-कल Europe और America में सैकड़ों और हजारों की तादाद में Case court में जाते हैं।

The aim of the husband and wife should be elevation of marriage tie and not money making and wrong use of family relation.

स्त्री-पुरुष दोनों को एक-दूसरे पर भार-स्वरूप न होकर सुख-दुख के भागी होना चाहिए।

सज्जनों विवाह की रश्में करनी बाकी हैं इसलिये बाल विवाह वेमेल विवाह, स्त्री शिक्षा आदि विषयों पर मैं कुछ भी नहीं कहूंगी। अन्त में आपके कष्ट के लिये आभार मानती हुई प्रार्थना करती हूँ कि आप सब हमें सत्य-पथ पर चलने का आशीर्वाद दें और खादी पहनने का प्रण करें। खादी का महत्व तो पूज्य बापूजी के कारण एक छोटे से बच्चे से लेकर बुड्ढे तक को मालूम है। हमारे धर्मों में और खास कर जैनधर्म में तो अधिक ही परम धर्म माना गया है। मिल और विलायती वस्त्रों में कितनी हिन्सा होती है यह तो किसी से छिपा नहीं होगा फिर इसे यहां दुहराने से क्या फायदा? हां एक बात मैं सुधारकों के प्रति कहना भूल गई। स्वामी राम ने कहा है—

Young would-be Reformer! decry not the ancient customs and spirituality of India. By introducing a fresh element of discord, the Indian people can not reach unity.

भावी नवयुवक सुधारकों भारत की पुरानी रिवाजों और अध्यात्मिकता की निन्दा न करो। व्यर्थ की नयी बातें निकाल कर झगड़ा पैदा करने से भारतवासियों में कभी एकता नहीं हो सकती। आज कल बाह्य सुधारकों ने पुरानी बातों को चाहे वे बुरी हों या अच्छी मिटाना और उनकी जगह नयी बातें निकालना ही एक महत्व का काम समझ लिया है।

मैं आपसे फिर प्रार्थना करती हूं कि आप अपने राष्ट्र के लिये अपने पूज्य नेताओ के लिये, राजा अग्रसेन के लिये, अपनी भावी सन्तानों के लिये, अपने लिये, और मेरे लिये खादी पहनने का व्रत लेवें।

× × ×

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

१८. तत्त्वार्थवार्तिक प्र० भाग संपादक प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य हिन्दी सार पृ० ४२०-४२१।

१६. तत्त्वार्थवार्तिक प्र० भाग संपादक प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य हिन्दी सार १।६ पृ० ठ८७।

२०. अर्पितानर्पित सिद्धे—सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद ५-३२।

२१. भयणाविहुभइयत्वा जइभयणाभयइ सव्वदव्वाइ।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण॥
सन्मतिप्रकरण ३-२७।

२२. णियमवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभमइसच्चेव अलिए वा॥
सन्मति प्रकरण ॥२८॥

२३. तत्त्वार्थवार्तिक: अकलङ्कदेव संपा० पं० महेन्द्रकुमार जी भाग १, पृष्ठ ३६, १/६।

२४. सिद्धिविनिश्चय टीका भाग १ सम्पादक प्रो० महेन्द्र-कुमार जी प्रस्तावना पृष्ठ ६१।

दुखद-वियोग

वीर सेवा मन्दिर के परम-हितैषी एवं जैन वाङ्मय के अनन्यसेवी, महामनस्वी स्व० ला० पन्नालाल जी अग्रवाल जीवन पर्यन्त धर्म प्रभावना एवं साहित्योद्धार के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। वे दीर्घ काल तक वीर सेवा मन्दिर कार्यकारिणी के सदस्य भी रहे।

वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके दुखद निधन पर हार्दिक संवेदना प्रकट करता है और स्वर्गीय आत्मा की सद्गति की प्रार्थना करता है।

× × × × ×

होनहार युवक स्व० राष्ट्रदीप (सुपुत्र श्री रत्नत्रयधारी जैन, प्रकाशक 'अनेकान्त') का हृदय-गति बंद होने से असमय में निधन हो गया। दिवंगत आत्मा को सद्गति और कुटुम्बियों को धैर्य की क्षमता हो, ऐसी कामना है।

'असारे खलु संसारे मृत: को वा न जायते।'
'राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥'

—सम्पादक

वर्तमान जीवन में वीतरागता की उपयोगिता

☐ कु० पुखराज जैन, एम.ए., जयपुर

जीवन जीने का नाम है, जीना एक कला है और दुनियां में कला के कलाकार चंद लोग ही हुआ करते है। जीते तो सभी हैं गरीब-अमीर, विद्वान-मूर्ख, लेकिन गौरव-पूर्ण जीवन उसे ही कहा जायेगा जिसमे जीवन के अधिकाधिक क्षणों में सुख की अनुभूति हो। 'जीवन' का दूसरा नाम है—'सुख की अनुभूति' और जब प्राणी सुख की अनुभूति करता है (दुख की भी) तब अनुभूति के काल से निकल कर आने के बाद ही उसे जीवन के अस्तित्वपने का बोध होता है और तत्क्षण उसे जीवन की गरिमा अनुभव में आती है। निरन्तर व्यक्ति के सुख के अभाव व दुख के वेदन की स्थिति 'जीवन' नही, 'जीवन' के नाम पर होने वाला 'निरन्तरण मरण' ही है। और ऐसा 'जीवन' जीवन के नाम पर 'कलक' ही है।

वर्तमान भौतिक सभ्यता व्यक्ति को ऐन्द्रिक सुख की ओर उन्मुख करती है। वर्तमान मे विज्ञान व तकनीक के आशातीत विकास ने पंच इन्द्रिय के भोगों की प्रचुर मात्रा व्यक्ति को भेंट की है और यह भेंट निरन्तर वृद्धिगत है। विषय-भोग के साधनों की प्रचुरता व्यक्ति को काफी हद तक अपने आप से (अध्यात्मिक दृष्टि से) दूर करने के लिए जिम्मेदार है। जो व्यक्ति के लिए दुःख का कारण है लेकिन व्यक्ति भुलावे में है और वह उस विज्ञान की भेट को स्वीकार करने और निरन्तर भोग करने मे अपने आपको व्यस्त पाता है। और किन्ही क्षणो मे सुख का अनुभव भी करता है, लेकिन अन्ततोगत्वा भौतिक सामग्री व इच्छाएं-वासनाएं दोनों ही उपलब्ध व उपस्थित होने के बावजूद भी व्यक्ति अपने आपको भोग भोगने में असमर्थ पाता है और परेशान होकर नवीन सिरे से सुख की खोज करता है। वह देखता है—"विषय-भोगों की सामग्री प्रचुर मात्रा में मेरे सामने है और इच्छाएं भी हैं लेकिन विषय भोग के बाद भी इच्छाएं समाप्त नही हो पा रही हैं तो वह समझता है कि कभी न समाप्त होने वाली यह इच्छाओं की कतार ही मुझे आकुलित व्याकुलित व दुःखी करती है।" वह पुनः सोचता है इच्छा-अनिच्छा का मूल राग-द्वेष है—अर्थात् आत्मा का विकारी परिणाम है। वस्तु अपने आप मे अच्छी-बुरी नहीं। अच्छे-बुरे की कसौटी सार्वभौमिक व सार्वव्यापिक नही। यह कसौटी हमेशा व्यक्तिपरक ही हुआ करती है जिसका आधार इच्छा-अनिच्छा अर्थात् अनुकूल विषयों से राग व प्रतिकूल विषयो से द्वेष है इसी आधार पर यह इष्ट विषयों का संभोग और अनिष्ट विषयों का वियोग चाहता है। और जब पूर्ण पुण्य का उदय नही होता तो इष्ट विषयों की प्राप्ति नहीं होती और व्यक्ति आकुलित होकर दुखी होता है।

कुल मिला कर यही आज के व्यक्ति की स्थिति है यह स्थिति सभी व्यक्तियो (गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, बालक से वृद्ध) मे पायी जाती है। व्यक्ति अपनी ही इच्छा अनिच्छा से परेशान है विकल है, सतप्त है और इस आशा से कि भविष्य में मेरी आशा पूरी होगी उसी अंधी दौड़ मे शामिल है—यही वर्तमान जीवन का शब्द चित्र है।

अत्यल्प प्रतिशत ऐसे मुमुक्षुओं का है जो इस प्रकार की आकुलता विकलता दुख व परेशानी से मुक्ति पाने के लिए सही उपाय की खोज मे प्रयत्नशील है और सुख का मार्ग खोजकर तत्परता से उस मार्ग पर चलने को कृत-सकल्प है। यह मार्ग 'वीतरागता' का है, सुख का कारण है, सुखरूप है, भले ही इस मार्ग को जानने वाले, मानने वाले व इस पर चलने वाले अति अल्प हों लेकिन यह मार्ग तीन काल व तीन लोक मे सच्चा है इस पर चलकर सच्चा-सुख प्राप्त करने वाली महान आत्माएं सूर्य की भाति इस मार्ग को सदैव समय-समय पर आलोकित करती है। (तीर्थंकर की दिव्यवाणी) अंधकार में भटकने वाले इस आलोक से प्रकाश प्राप्त करते है और इस पथानुगामी बनकर पूर्ण वीतरागता को प्राप्त हो जाते है। वीतरागता की महिमा गाते हुए विद्वद्वर्य पंडित दौलतराम जी ने लिखा है—

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग सम्हारिकैं॥

जो "वीतराग विज्ञान" तीन लोक में सार तत्व है उसे दौलतराम जी ने वीतरागता की महिमा मोक्ष सुख देने वाली व मोक्ष स्वरूप होने की वजह से गायी है।

आचार्य उमास्वामी ने तो वीतराग भगवान को वीतरागता की प्राप्ति हेतु ही नमस्कार किया है।

मोक्ष मार्गस्य............वंदे तद्‌गुण लैब्धये।

वर्तमान मे व्यक्ति का दुःख का मूलकारण कर्मबन्ध है और कर्म बध का कारण है राग—जहाँ राग पाया जाता है वहाँ द्वेष युगपत रहता है। रागी और विरागी के भविष्य का निर्धारण करने वाली "प्रवचन सार" में एक प्रमुख गाथा है।

रत्तो बंधदि कम्मं......जीवाणं जादा णिच्छयदो ॥७६१

रागी आत्मा कर्म बांधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। इस प्रकार राग दुःख का और वीतराग स्वतः ही सुख का कारण हो जाता है।

इसकी उपयोगिता जहाँ मोक्ष सुख के रूप में स्वय सिद्ध है वहाँ वर्तमान जीवन में किसी भी प्रकार कम नही। जहाँ १२वें गुणस्थान मे सूक्ष्म राग का नाश होकर (पूर्ण) सुख दशा वर्तती है, यह तो वर्तमान जीवन में सम्भव नही इसलिए यह अवस्था तो फिलहाल अनुभव से परे है लेकिन इस प्रक्रिया की शुरुआत तो अभी इस समय आबाल-गोपाल प्राणिमात्र को ही हो सकती है और उसमें होने वाले आंशिक सुख के वेदन से इंकार भी नही किया जा सकता।

जैन धर्म के दो ही मुख्य उपदेश है, जिनकी विलक्षणता को देखकर हम अन्य भारतीय धर्म व दर्शनों से जैन धर्म को भिन्न कर सकते है वह है स्वतत्रता व वीतरागता पर से (द्रव्य-कर्म, नो कर्म, भाव-कर्म)—भिन्न निजात्म तत्व के प्रति सच्ची श्रद्धा व एकत्व बुद्धि होने पर "आत्मानुभूति" होती है और इसी के द्वारा वीतरागता की प्राप्ति होती है इस काल में जिस आंशिक सुख का वेदन होता है गुणात्मक रूप से वह मोक्ष में प्राप्त होने वाले अनन्तगुणा सुख से समानता रखता है इस प्रकार वीतरागता नितान्त "वैयक्तिक" हो जाती है लेकिन अध्यात्म की शुद्ध दृष्टि के बिना आत्म तत्व व वीतरागता समझ में नही आती।

इस सुख का नकारात्मक कारण राग द्वेष रूप आत्मा के विकारी परिणामों का अभाव सकारात्मक रूप से निजात्म तत्व के प्रति सच्ची श्रद्धा है। "वीतरागता"—रागद्वेष से रहित संवेदन अर्थात् उपयोग का अन्तर्मुखी होकर निजात्म तत्व में स्थिर होना है। इस एक समय के अनुभव में होने वाले आंशिक सुख की महिमा शब्दातीत है उसका वर्णन करने से अनुभवहीन पुरुष को किंचित् मात्र भी सुख का वेदन नहीं होता। यदि उसे अपने इस जीवन को भी सुखमय व गौरवपूर्ण बनाना है तो स्वयं में स्थित निजात्म तत्व को पहिचानना, मानना, जानना व सुमेरु सदृश अटल श्रद्धा करनी होगी।

पूर्ण वीतरागता तो मोक्षरूप ही है, लेकिन यदि वर्तमान जीवन में मात्र वीतरागता के प्रति सच्ची श्रद्धा भी हो तो जीवन सुख-शांति से व्यतीत हो सकता है तभी तो जैन व्यक्ति नित्य प्रति वीतरागता के दर्शन को कृतसंकल्प है और इसलिए उनका जीवन अन्यान्य अपेक्षाओं से सुखमय भी है उनके जीवन में विकलता आकुलता कम अवसरो पर ही देखी जाती है।

ऐसा तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने जीवन की कीमत समझे और इसी वर्तमान जीवन को अनागत भविष्य की जन्म-मरण करने की शृंखला को कम करने के लिए समर्पित कर दे। और ऐसा करने के लिए व्यक्ति को निरन्तर होने वाले दुःख के वेदन को समझना होगा और सच्चे अर्थों में सुख शातिभिलाषी होना होगा।

वीतरागता अर्थात् एक समय के लिए भी बहिर्मुख दृष्टि अन्तर्मुख हो—मात्र दृष्टि के अन्तर्मुख होने पर दुःख परेशानी आकुलता-विकलता के छू मंतर होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार वीतरागता तत्काल सुखदायी है कोई अनुभव तो करे।

"युगल जी का एक वाक्य समय-समय पर मस्तिष्क को आदोलित करता है। "एक क्षण भी जीओ, गौरवपूर्ण जीवन जीओ" ठीक ही तो है सुखमय जीवन का दूसरा नाम है गौरवपूर्ण जीवन; और यह 'गौरवपूर्ण सुखमय जीवन' का महल वीतरागता की नीव पर बना है।

जीवन में वीतरागता को अपनाने के साधन यद्यपि सुख के साधन हैं वीतरागी देव (वीतरागी मत) पूर्वापर विरोध रहित बात करने वाले पवित्र शास्त्र व वीतरागी पथ पर चलने वाले विरागी साधु जैन धर्म में सरागता की पूजा नहीं होती। बाहरी वेश व आडम्बर की पूजा नही, पूजा है वीतरागी सर्वज्ञ व हितोपदेशी की। वीतरागी भगवान शुद्ध सिद्धात्मा सदा ही सुख सागर से निमग्न है भक्तों की भक्ति से निस्पृह वीतरागी व्यक्तित्व में न पुजारी के प्रति राग है और न निंदक के प्रति द्वेष। सदा मात्र ज्ञाता दृष्टा व सुख सागर में लीन रहने वाले देव हैं। ऐसे

वीतरागी देव को "जीवन आदर्श" के रूप मे स्वीकार कर और प्रेरणा ग्रहण कर साधक उस आदर्श की ओर बढ़ सकता है और सुखी जीवन का बीजारोपण कर सकता है। भगवान के लक्षण स्पष्ट करने मे प्रथम सकेत वीतरागता की ओर है। जैसा कहा है—

जो रागद्वेष विकार वर्जित लीन आत्मध्यान मे…।
वे वर्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में ॥

इतना ही नही वीतरागी अर्हत परमात्माओ द्वारा कहा गया सागर सदृश विस्तृत उपदेश वीतरागता के जल से आप्लावित है। जिसके अवगाहन से भव्य जीव शुद्ध होता है। भागचन्द जी ने ठीक कहा है—

सांची तो गंगा ये वीतराग वाणी।
अविच्छिन्न धारा निज धर्म की कहानी ॥

वीतरागी पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु तो साक्षात वीतरागता के प्रतीक व पोषक है उन्होने तो इष्टानिष्ट की कल्पना का मूलोच्छेद कर दिया है। उनकी समता का उल्लेख किया है दौलतराम जी ने छहढाला मे---

अरि मित्र महल मशान कंचन कांच निन्दन थुति करन।
अर्धावतारन असि प्रहारन में सदा समता धरन ॥

समता वीतरागता की पोषक है समता के अभाव मे वीतरागता सभव नही। समता प्रथम चरण है और वीतरागता द्वितीय। समता धारण करने पर होने वाले सुख से कई गुणा सुख वीतरागता अपनाने पर होता है। समता की उपयोगिता केवल आध्यात्मिक जीवन मे नही, समता व सरलता का गुण होने से भौतिक कार्यों मे भी सफलता मिलती है। आकुलता व्याकुलता समता विरोधी है। तद्-जन्य मानसिक दबाव तनाव, विद्वेष परेशानी व दु.खों से छुटकारा समता धारण करने पर ही मिलता है। यही समता वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करती है और इसी समता रूपी भूमि में वीतरागता के पुष्प पल्लवित होते हैं।

जब व्यक्ति के सामने वीतरागता का आदर्श रहता है तभी वह परेशानियों व संकटों से बचा रह सकता है। यद्रा संकट आने पर दूसरे व्यक्ति को रागद्वेष से अधिकाधिक विरत रहने में मदद मिलती है :

व्यवहारिक जीवन में भी यह देखा गया है कि राग-द्वेष—निन्दा व प्रशंसा से परे रहने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा व साख होती है। सदा स्थित एव समतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यक्ति का मानस अपने निर्धारित क्षेत्र तक सीमित रहता है और उसे सबधित क्षेत्र मे ही ध्यान के संकेंद्रित रखने मे सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति एक ओर व्यर्थ की बकवाद से बचता है दूसरी ओर कम समय मे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मे सफलता प्राप्त करता है :

रागद्वेष की उत्पत्ति अज्ञान द्वारा होती है किन्तु इसका अपराधी स्वय आत्मा है और यह ज्ञात होते ही कि मैं ज्ञान हू, अज्ञान अस्त हो जाता है। इस प्रकार वीतरागता की उपलब्धि मे शुद्ध ज्ञान का बहुत बड़ा कारण है किन्तु यह शुद्ध ज्ञान शुद्ध दृष्टि वीतरागी दृष्टि से मिल सकता है। शुद्ध दृष्टि को विकसित करने का एक मात्र उपाय वीतरागी दर्शन, वीतरागी शास्त्र स्वाध्याय, तत्व चिंतन है और इसके लिए इस दिशा मे अपना जीवन समर्पित करने का सकल्प करना होगा। इस प्रकार वीतरागी दृष्टि विकसित कर अवश्य ही अन्तर मे विद्यमान निज वीतराग तत्व को प्राप्त कर पूर्ण वीतरागी बनाने का मार्ग प्रशस्त होगा। यहां एक कवि की पक्तियाँ सचमुच प्रेरणादायी लगती है—

राग से फूला हुआ तू, द्वेष मे भूला हुआ तू।
कभी आसू बहाता है, कभी खुशियाँ लुटाता है।
जिंदगी घट रही हर पल, अंगुलि मे भरा ज्यो जल।
एक पल रुक सोच तो क्या, जिदगी की राह तेरी।
झाँक अन्तस मे लगी है, अनोखी निधियो की ढेरी ॥

वर्तमान जीवन मे आवश्यकता इसी बात की है कि भौतिक सभ्यता की इस अधी दौड मे एक पल ठहर कर यह सोचे तो सही कि जिस राह पर हम दौड़े चले जा रहे है क्या सचमुच वही मजिल है, जो हम प्राप्त करना चाहते है, क्या वहाँ सुख-शाति मिल सकती है? इस पर विचार कर शीघ्र ही अपना गंतव्य पथ निर्धारित कर उस पर चलने का सकल्प लेने पर ही यह जीवन "जीना" कहलायेगा। सचमुच क्या ज्ञान दर्शन सुख आदि अनन्त निधियों के स्वामी सम्राट की उपेक्षा तिरस्कार कर और गौरवपूर्ण जीवन को तिलांजलि दे रंक का जीवन जीना भी कोई जीना है। व्यक्ति की बुद्धि से जब मोह का पर्दा उठेगा और निज-प्रभु के दर्शन होगे, वह घड़ी धन्य होगी, वह जीवन सफल होगा और यही होगी वीतरागता की जीवन में उपयोगिता।

—२-घ, २७, जवाहर नगर, जयपुर

परिचिति

'जिन-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग'

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, निदेशक–भारतीय ज्ञानपीठ

श्री पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने 'जिनशासन के कुछ विचारणीय प्रसंग' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तिका में अपने सात लेख प्रस्तुत करके विद्वानों के लिए ऊहापोह करने तथा चिन्तन को स्फूर्त करने की पर्याप्त सामग्री दी है। शास्त्र पढ़ लेना एक बात है, परम्परा के अनुसार प्रतिपादन कर लेना भी उसी श्रेणी की एक बात है किन्तु जिन विषयो को लेकर विद्वानो मे मतभेद दिखाई देता है अथवा अर्थ-संगति को ठीक ढग से पकड़ने मे शब्द या शब्दों के रूपान्तर विकल्प उत्पन्न करते है, उनसे जूझना और फिर न्याय-सगत, तर्क सगत निष्कर्ष प्रस्तुत करना एक दूसरे ही प्रकार की कुशल प्रगल्भता है। पडित जी अपनी बात असंदिग्ध होकर इसीलिए कह पाये हैं कि उन्होने सही अर्थों मे व्यापक अध्ययन किया है और इस अध्ययन को चिन्तन-मनन द्वारा परिपुष्ट किया है।

सभी लेखो को पढने के उपरान्त पाठक को जो उपलब्धि होती है वह ज्ञान की समृद्धि की तो है ही, एक आह्लाद की अनुभूति भी उत्पन्न करती है कि पक्ष-प्रतिपक्ष स्पष्ट हुआ और नया दृष्टिकोण हाथ लगा।

णमोकार मन्त्र और नवकार मंत्र मे क्या अन्तर है? ॐ की रचना-सिद्धि यदि सहमति को रेखांकित करती है तो स्वस्तिक की संरचना के सम्बन्ध मे पडित जी का चिन्तन स्थापित प्रतीक की रेखाओं को नये मगल-प्रदीप से उद्भासित करता है।

चातुर्याम की चर्चा यद्यपि पार्श्वनाथ और महावीर के कालभेद एवं दृष्टि भेद पर आश्रित मानी जाती है, किन्तु पंडित पद्मचन्द्र जी ने इस चर्चा को बाईस और चौबीस तीर्थंकरों के परिपेक्ष्य मे रखकर दो प्रकार के श्रमणों का संदर्भ दे दिया—वे जो सरलमति हैं, और वे जो छली हैं—आत्म प्रवंचक। शास्त्र की भाषा में यही हैं–ऋजु-जड और वक्रजड। पंडित जी ने अपना निष्कर्ष शीर्षक मे ही घोषित कर दिया—'भगवान पार्श्व के पंच महाव्रत।'

यह लेख इतनी विदग्धता और तार्किक अकाट्यता से लिखा गया है कि विवेचन श्वेताम्बर दिगम्बर मान्यता को प्रतिपादित करने वाले अनेक ग्रन्थों की पंजिका बन गया है। 'सावद्ययोग-विरति' 'सपुत्तदार' 'बहिद्धादान' आदि की चर्चा करते हुए जब 'परिगृहीता' के भेद को शास्त्र के आधार पर स्पष्ट किया तो विचित्र निष्कर्ष सामने आया। 'ऐसा प्रतीत होता है कि अपरिगृहीता में मैथुन शक्य नही, यह भ्रम ही ब्रह्मचर्ययाम को गौण या लुप्त करने में कारण रहा है। चूंकि मुनि सर्वथा स्त्री रहित होता है, उसके परिगृहीता मानी ही नहीं गई तो वह स्वभाव से (परिगृहीता रहित होने से) ब्रह्मचारी ही सिद्ध हुआ = अत: उसके लिए इस याम् की आवश्यकता प्रसिद्ध नही की जाती रही और चार याम प्रसिद्ध कर दिए गए। 'चातुर्याम' शब्द के व्यवहार का एक दूसरा ही संदर्भ पडित जी ने दिया है -अच्छा होता यदि संदर्भ कहां का है? यह उद्धृत कर दिया होता[1]—'अजातशत्रु ने स्वय बुद्ध को बतलाया कि वह स्वयं निगंठनातपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्ग्रन्थ 'चतुर्याम संवर संवृत' होता है—(१) जल के व्यवहार का वारण करता है (२) सभी पापों का वारण करता है (३) सभी पापो का वारण करने से धुतपाप होता हैं (४) सभी पापों का वारण करने में लगा रहता है।···अत: फलित होता है कि ऊपर कहे हुए 'चातुर्यामसंवर' के अति

---

१. प्रसंग—'दीघनिकाय'—(महाबोधि सभा, सारनाथ-प्रकाशन सन् १९३६) पृ. २१ पर निगंठनातपुत्त का मत। —सम्पादक

रिक्त अन्य कोई 'चातुर्याम' नहीं थे।" बुद्ध और महावीर के साक्षात्कार का विषय शोधापेक्षी है।

'पर्युषण और दशलक्षण धर्म' लेख रोचक भी है और सूचक भी। पर्युषण दिगंबर श्रावकों में दस दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। इसीलिए एक सम्प्रदाय इसे दशलक्षण धर्म कहता है, दूसरा अष्टान्हिका (अठाई)। उत्कृष्ट पर्युषण दोनों में चार मास का माना जाता है अतः चातुर्मास दोनों सम्प्रदायों मे प्रचलित है। पर्युषण दिगम्बरों में भाद्र शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ होता है, श्वेताम्बरों में पंचमी को पूर्ण होता है। लेखक ने इसे शोध का विषय-बताया है। हाँ, है=किन्तु अब उन्हीं से अपेक्षा है कि इस शोध कार्य मे वह जुट जाए। श्रुत-सागर और समाजशास्त्र के महोदधि में गोता लगायेंगे तो रत्न निकालकर लाए गे। जब पर्यूषण पर्व पर, महानिशीथ के अनुसार पंचमी, अष्टमी, और चतुर्दशी को उपवास का विधान है तो श्वेताम्बर आम्नाय में प्रचलित अष्टान्हिका की सीमा मे एक पर्व छूट जाता है। क्यों?

'समयसार' की पन्द्रहवीं गाथा के तीसरे चरण—

'अपदेश संत मज्झं' के ये जो दो रूप मिलते है, उनमे 'सुत्त' और 'संत' को लेकर विद्वानों में विवाद है कि कौन से शब्द-पाठ ठीक है। 'अपदेश' वह जो पदार्थ को दर्शाए —अर्थात शब्द, यही है द्रव्यश्रुत। सुत्त-सूत्र = सूत्रम् परिच्छित्तिरूपम् भावश्रुतं। अर्थात आत्मा और जिन शासन के बीच (मज्झं) अभेदभाव की प्रतीति। विकल्प में अर्थ है— 'अपदेस' अर्थात अप्रदेशी, 'संत' अर्थात शांत, मज्झं अर्थात मेरा। इतना ही नही—संभावना है कि 'संत' शब्द का मूलरूप 'सत्त' या 'मत्त रहा हो। सत्त=सत्व। सुत्त शब्द भी विचारणीय है=स्वत्व। मत्त की संगति बैठानी हो तो —अपदेस+अत्त+मज्झं। अत्त=आत्म। सब प्रकार का द्रविड़ प्राणायाम संभव है। कुन्दकुन्द ने जो कहा है अन्त में सब आयेंगे उसी भाव पर। फिर अनेकान्तवादियों को क्या चिंता?

'आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत' लेख में यही उचित रहा कि कुन्दकुन्द के इतिहास को चक्रव्यूह में ही सुरक्षित रखा। रही बात प्राकृत की, सो जो प्रकृत है (विशेष रूप में घड़ी, ऐसा अर्थ न कर लें, नहीं तो प्राकृत भी संस्कृत हो जाएगी) प्राकृतिक है, सहज है, वाणी के स्वभाव में स्थित है, उसके रूप-रूपान्तर तो होंगे ही। पंडित पद्मचन्द्रजी की बात तर्क-संगत है कि प्राकृत का रूप चाहे शौरसैनी हो, चाहे महाराष्ट्री, चाहे अर्धमागधी के आस-पास का, शब्द रूप तो भिन्न-भिन्न मिलेंगे। इनका संशोधन क्या? बात इतनी भर है। लेकिन लेखरूप में यही बात अच्छी खासी गभीर बन गई है। गणित जैसी तालिकाएं, व्याकरण के नियमः पिशल का साक्ष्य, पुग्गल और पोंग्गल तादात्म्य, पाहुड़ ग्रन्थों में उपलब्ध पाठान्तर, 'द' का लोप और 'य' का आगम—सब कुछ चमत्कारी है। व्यापक अध्ययन का द्योतक!

'आत्मा का असंख्यात प्रदेशित्व'—गंभीर विषय है। सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी ने इसे एक वाक्य में ही सरल बना दिया। "यह कोई बिवाद ग्रस्त बिषय नही है···यहां अप्रदेशी का मतलब 'एक भी प्रदेश न होना' नहीं है, किन्तु अखण्ड अनुभव से है वही शुद्ध नय का विषय है।"

पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री ज्ञान में जितने गुरु-गम्भीर हैं, व्यवहार में उतने ही सरल और विनयशील। उनकी पुस्तक का अन्तिम वाक्य है.—

'जदि चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं'

□ □

—ग्रन्थ मनीषियों की दृष्टि में—

श्री यशपाल जैन, नई दिल्ली

'जिन शासन के······प्रसंग' में जिन तात्विक प्रश्नों को उठाया है वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अपने गहन अध्ययन के आधार पर आपने जो समाधान प्रस्तुत किए है वे सांगोपांग विचार के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करते है। सप्रमाण और तर्कसंगत विवेचन निश्चय ही उन विसंगत स्वरों के बीच सौमनस्य स्थापित करने में सहायक हो सकता है, जो जैनत्व की एकता को खंडित करते है। पुस्तक की रचना के लिए हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

श्री फूलचन्द्र जी सि० शास्त्री, वाराणसी

आपने जिन विषयों पर दृष्टिपात किया है और ऊहापोह पूर्वक विचारणा प्रस्तुत की है वह आपकी गहन अध्ययन शीलता का सुस्पष्ट प्रमाण है। आपकी लेखनी में बल है और एक रूपता भी। इन निबन्धो से उक्त विषयों पर अवश्य ही ऊहापोह के लिए अवसर मिलेगा। आपने जो स्वस्ति के साथ स्वस्तिक की संगति विठलाई है वह अवश्य आपकी अनूठी सूझ है, उसके लिए आप धन्यवाद के पात्र है।

डा० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल, जयपुर

'पुस्तक मे जिन प्रश्नों को उठाया गया है, वे वर्तमान युग के बहुचर्चित प्रश्न हैं, आपने उनका समाधान भी प्राचीन ग्रंथों के आधार पर बहुत तर्कपूर्ण शैली में किया है। इससे पुस्तक बहुत ही उपयोगी बन गई है। आपकी भाषा भी बड़ी प्रांजल होती है तथा विषय का प्रतिपादन भी सुन्दर ढग से करते है ऐसे उपयोगी प्रकाशन के लिए आपको एवं वीर सेवा मंदिर के अधिकारियो को हार्दिक बधाई।'

डा० राजाराम जैन, आरा

'जिनशासन······प्रसंग' वस्तुत जैन सिद्धान्त के कुछ गूढ़ रहस्यों का नवनीत है। इसमे पिष्टपेषण नही है, कुछ मूल मुद्दों पर स्वतन्त्र दृष्टि से निर्भीक एवं मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार का मौलिक चिंतन एवं उसका प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर के मूल उद्देश्यों के सर्वथा अनुरूप है।'

डा० प्रेमचन्द 'सुमन', उदयपुर

'जिनशासन······प्रसंग' से यह जानकर बहुत संतोष हुआ कि कम से कम आपने विद्वान् जगत में कुछ मंथन करने की सामग्री तो दी। अन्यथा आज का शोध दिनों दिन मोथरा होता जा रहा है। परिश्रम और पैनी दृष्टि का अभाव खलने लगा है। संकलित निबंध स्पष्ट और तर्क संगत हैं, जितनी मिहनत आपने की है उतनी कोई करे तो इन पर चर्चा की जा सकेगी।'

डा० एम० पी० पटैरिया बगरा

'जिनधर्म के महत्वपूर्ण प्रसंगों पर तर्क और विद्वत्ता-पूर्ण प्रामाणिक विवेचना की है। यह चिन्तनभरादृष्टि-विन्दु शोधार्थियों के लिए पर्याप्त सहयोगी बनेगा।'

श्री वंशीधर शास्त्री, जयपुर

'ऐसे संकलन से तत्त्वान्वेषी पाठक अवश्य लाभ उठायेंगे, क्योंकि वे किसी पक्ष से ग्रस्त नही होते। उन्हें गभीर शास्त्रीय-चिन्तन मनन का सुअवसर मिलेगा।'

श्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर

'पुस्तक को मैने पढा, अध्ययनपूर्ण पद्धति से आपने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थों के आलोडन के पश्चात् जो तथ्य प्रगट किये हैं, उससे निश्चय ही मतिभ्रम का निरसन होगा। आपकी खोजपूर्ण शक्ति, स्पष्टवादिता वस्तु को रखने का ढंग सभी से मैं प्रभावित हूं।'

Dr. B. D Jain Principal J.H.S.S., New Delhi.

'Jin Shasan Ke Vicharniya Prasang' by Pandit Padamchand Shastri is a painstaking study in which he has tried to explore, with utmost objectivity, very deep and controversial subjects on Jainology. He has a keen insight and his approach is very objective and rational. The references to the scholarly works of Digamber, Swetamber and other Acharyas bear a testimony to this fact. Panditji has provided a food for further thought to the scholars on Jainology. The study undoubtedly reveals his originality, depth and mastery on the subject.

जरा सोचिए !

१. संयोग और वियोग ?

वस्तु के 'स्व' में 'पर' का मेल संयोग कहा जाता है और ऐसी पर्याय 'सयोगी पर्याय' होती है। संयोगी पर्याय सर्वथा अशुद्ध होती है चाहे वह शुभ, शुभतर या शुभतम ही क्यों न हो। इसके विपरीत—शुद्धपर्याय हर वस्तु में स्व-जाति को लिए हुए सर्वदा और सर्वथा बन्धरहित, अन्यत्व रहित, भेदों से मुक्त, अपने में नियत और पर-असंयुक्त होती है—इस पर्याय मे अन्य सबका पूर्ण वियोग होता है। इसका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिए कि संयोग और वियोग दोनों के फल क्रमश अशुद्धि और शुद्धि है *अर्थात् सयोग अशुद्धि में और वियोग शुद्धि में निमित्त है।* लोक में भी संयोगी (मिलावटी) अवस्था को नकली और वियोगी (मिलावट रहित) अवस्था को असली कहते हैं और लोग इसी भाव में वस्तुओं के मूल्य आंकने की व्यवस्था करते हैं। सुवर्ण में जितने-जितने अश में स्व-जाति भिन्न—पर—किट्टिमादि का संयोग होता है उतने-उतने अंश में उसका मूल्य कम और जितने-जितने अश मे पर—किट्टकालिमादि का वियोग होता है उतने-उतने अंश में उसका मूल्य *अधिक आंका जाता है।*

तीर्थंकरों ने इसी मूल के आधार से सयोगो के त्याग और वियोगो के साधन जुटाने का उपदेश दिया है। वे स्वयं काय से तो नग्न—अपरिग्रही थे ही, उनमें मनसा और वाचा भी पर के वियोग रूप पूर्ण अपरिग्रहत्व था—*पर का असंयोग था। वे अपरिग्रह—वीतरागता पर सदा* लक्ष्य दिलाते रहे। जिस-जिस परिमाण मे परिग्रह की न्यूनता में तरतमता होगी उस-उस परिमाण में पर-भावों—हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि का परिहार भी होगा और ये परिहार स्वाभाविक—बिना किसी प्रयत्न के होगा।

वस्तु की उक्त स्थिति के बावजूद—जब संयोग में अशुद्धि है और वियोग में शुद्धि है, तब हम कहा जा रहे हैं ? संयोग (अशुद्धि) की ओर या वियोग (शुद्धि) की ओर ? कही हम सयोगो को अच्छा मान उनसे चिपके तो नही जा रहे ? या-वियोगों में दुखी तो नही हो रहे ? जरा सोचिए !

२. क्या मरण वास्तविक है ?

पर्याय विनाशीक, क्षण-क्षण मे बदलने वाली है। आपको और हमें पता ही नही चलता कि किस समय, क्या बदल जाता है। हाँ, बदलता अवश्य है। बाल काले से सफेद होते है, बालकपन से युवापन आता है और वृद्ध-पन भी। एक दिन ऐसा भी आता है कि प्राणियो का भौतिक शरीर भी उन्हें छोड़ देता है और उन्हें मृतक नाम से पुकारा जाता है। ये सब कैसे और क्यो कर घटित हो रहा है ?

बाज लोग समय को दोष देते हैं। कहते है—समय बदल गया तो सब बदल रहा है। पर, जैन-दर्शन के आलोक में सांसारिक सभी वस्तुयें और संसारातीत सिद्ध-भगवान भी प्रति समय अपने मे बदल रहे है—सिद्धों में षड्गुणी हानि-वृद्धि चलती है और सांसारिक वस्तुयें अपनी पर्यायों में स्वाभाविक, स्वतः परिणमन करती रहती हैं—सभी में नयापन आ रहा है; पुरानापन जा रहा है और सभी अपने स्वभाव में ध्रुव हैं—द्रव्य-स्वभाव कभी नही बदलता। जैसे अंगूठी के टूटने और कुण्डल पर्याय को धारण करने पर भी सोना सोना ही है वैसे ही षड्द्रव्य परिवर्तनशील होकर भी अपने स्वभाव रूप ही है।

संसार मे जिसे 'मरना' नाम से कहा जाता है और जिसमें लोग संतप्त होते—रोते-धोते हैं, वह वस्तु का नाश नहीं अपितु पर-भाव का वियोग मात्र है—यदि ऐसा वियोग सदा काल बना रहे और पर का सयोग न हो तो वस्तु सर्वथा शुद्ध—सिद्धवत् निर्मल है—इसमें संताप कैसा ? लोक में जिन प्राणों के उच्छेद को मरण कहा जाता है, वह मरण व्यवहार ही है। निश्चय से तो मरण

है ही नही। तथाहि—

'प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण, प्राणं किलस्यात्मनो.।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शास्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ॥'

लोक में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन-वचन-काय, आयु और श्वासोच्छ्वास के रहने को व्यवहार से प्राण कहा जाता है और इनके उच्छेद को मरण कहते है। पर, वस्तुत. ये पुद्गल मे होने वाले विकार भाव है। ये आत्मा के प्राण कैसे हो सकते है? प्राण तो वे हैं जो शाश्वत् साथ रहें—तद्रूप हों। आत्मा का प्राण तो ज्ञान है जो सदा आत्म-रूप है—कभी भिन्न नही होता फिर ऐसे में आत्मा के मरण की सम्भावना ही कैसे हो सकती है? लोग मरण से क्यो भयभीत है? कहीं इस भय में मोह तो कारण नही, जरा सोचिए!

३. कौन किसके पीछे दौड़े ?

'खेद यह है कि वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय स्वयं कुन्द-कुन्द आम्नाय को मानता है, परन्तु उनकी मूल-कृतियो का प्रामाणिक सपादित सस्करण प्रस्तुत नही कर सका। 'प्रदर्शन और दिखावे में धन का व्यय करने वाले समाज को आप ही इस ओर मोड सकते है। आप निश्चय ही एक सराहनीय कार्य कर रहे है, बधाई स्वीकार करें।'

उक्त अंश एक विद्वान के उस पत्र के है, जो उन्होने वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित पुस्तक *'जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसग'* पर सम्मति देते लिखा है। विद्वान ने विषय सबंधी कुछ दृष्टिकोण भी दिए है, जिन पर यथा-अवसर प्रसग के अनुसार प्रकाश डाला जाएगा। फिल-हाल तो बात है—कुन्दकुन्द के साहित्य और दिगम्बर समाज के मोड़ की।

नि:सन्देह, कुन्दकुन्द-साहित्य अमूल्य निधि है यदि भाषा की दृष्टि से उसमें विसंगति आई हो तो उसकी सभाल विद्वानों का धर्म है। पर, इस सम्बन्ध में जब तक कोई विश्वस्त और प्रामाणिक व्यवस्था न हो जाय तब तक हमें सि० आ० श्री पडित कैलाशचन्द्र शास्त्री के उद्गारों की कद्र करनी चाहिए—'प्राकृत भाषा के ग्रन्थो को भाषा की दृष्टि से सशोधन करना ठीक नहीं है। संस्कृत भाषा का तो एक बंधा हुआ स्वरूप है किन्तु प्राकृत की विविधता में यह संभव नहीं है, इससे अर्थ मे विपर्यास का भय रहता है।'

यह सभी जानते है कि हमारा समाज मुख्यत: व्यवसाई समाज है और धर्म सम्बन्धी विशेष ज्ञान के अभाव में उसका धार्मिकसम्बन्ध मात्र परंपरागत श्रद्धा से ही जुड़ा रह गया है। धार्मिक आचार विचार की दृष्टि मे तो वह सर्वथा विद्वानों से बंधकर ही रह गया है और उसने अपनी श्रद्धानुसार अपने विद्वानों-गुरुओं का चयन कर लिया है। फलत: आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के वचनों में समाज को दोषी करार नहीं दिया जा सकता। वे कहते है—

'सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं 'तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥'—

अर्थात् अज्ञानी गुरु के उपदेश से सम्यग्दृष्टि जीव (भी) विपरीत तत्व का श्रद्धान कर लेता है। और सम्यक्त्वी बना रहता है।

दूसरी ओर, विद्वानों—गुरुओं की व्यवस्था अपनी है। कौन विद्वान—गुरु कब, क्यों और क्या कहते है इसे वे जानें। पर यदा-कदा बहुत से प्रसंगों में विरोध परि-लक्षित होने से यह तो सिद्ध होता ही है कि कहीं विसगति अवश्य है फिर वह विसगति आर्थिक कारण से, सामाजिक कारण से या अन्य किन्ही कारणो सें ही क्यों न हो?

गत मास एक सेठ जी ने मुझसे जो हृदयग्राही वचन कहे उनमे बल था—मानो सेठ जी ने विद्वानों की टीस को पहिचाना है और उनका इधर लक्ष्य है। बोले—'पंडित जी, अब तक सेठों के पीछे विद्वान दौड़ते रहे हैं, हमारा प्रयत्न है कि अब विद्वानों के पीछे सेठ दौड़े।'—उक्त भाव विद्वत्समाज के सन्मान मे और उन्हें आर्थिक संकट से उबारने मे प्रशसा योग्य है, ऐसे विचारवान सेठों पर समाज को भी गर्व होना चाहिए। पर, प्रश्न है कि एक के दौड़ने से समस्या हल हो सकेगी क्या? दौड़ना फिर भी एकांगी ही रहेगा। अब विद्वान दौड़ते हैं फिर सेठ दौड़ेंगे, दौडना एकांगी ही रहेगा। हम चाहते है इसमें कुछ संशो-धन हो—'दोनो ही दौड़ें', विद्वानों की दौड़ सेठों तक हो और सेठों की दौड़ विद्वानों तक। हाँ, दौड़ की दृष्टि में भेद आए। विद्वान दौड़ें, उनके सेठों और समाज को धार्मिक-संस्कार देने के भाव में, उन्हें स्वाध्यायी बनाने के

प्रयत्न में; आर्थिक दृष्टिकोण को लेकर नही। सेठ दौड़ें अपने ज्ञान-चारित्र के लाभ मे, धर्म प्रभावना के लाभ मे, विद्वानो से जगह-२ अपने यशोगान की प्रेरणा के लिए नही। हमारी दृष्टि मे वे विद्वान व्यर्थ है जिनका समाज उन्मार्ग पर जाय और वे देखते रहे तथा वे सेठ और श्रावक व्यर्थ है जिनके धर्मस्तम्भ विद्वान आर्थिक-चिन्ता मे जलते रहे। इस तरह समाज को विद्वानो और विद्वानो को समाज का सबल हो। अब तक जो विसगति चलती रही है वह इसी का परिणाम है कि एक ने दूसरे की आवश्यकताओ को नही समझा और यदि समझा तो गलत समझा। सबने आवश्यकता के माप मे धन या यश को तराजू बनाया 'जब कि प्रसग धार्मिक था।

४. क्या कुव्यसन, सुखकर होंगे ?

जैन परम्परा मे अष्टमूलगुण धारण करने का अनादि विधान है। जो जीव मद्य-मास मधु का त्याग और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण अणुव्रत के धारी है वे श्रावक है अर्थात् श्रद्धा-विवेक और क्रियावान है। वे ही सम्यक् रत्नत्रय के अधिकारी है और वे ही उभय लोक मे सुख पाते है।

यह जो आप आज लोगो मे आपाधापी-मारामारी देख रहे है वह सब मूलगुण धारण न करने और सप्त-कुव्यसनो मे फँसे रहने के परिणाम है। कही गुरुद्वारो जैसे पवित्र स्थानो में सिगरेट रखने या पीने पर, मन्दिर-मूर्तियो पर मास फैकने पर और कही मद्यपान करने पर विवाद खडे होना—अपवित्र वस्तुओ के सेवन के ही परिणाम है। यदि लोग जैन मान्यताओं मे बद्ध हो तो सब झगडे ही शान्त रहे। आश्चर्य तो तब होता है कि जब हमारी सरकार एक ओर तो मद्यपान, बीडी-सिगरेट जैसे पदार्थों के सेवन का निषेध करती है—उन पर प्रतिबन्ध लगाती है, उन पर नशा और जहर के लेबल लगवाती है और दूसरी ओर उनके ठेके और लाइसेस बाटती है—शासन करने वाले कतिपय अधिकारी तक नशों में सराबोर रहते है। यदि इन कुप्रवृत्तियो पर अकुश न लगाया गया तो भविष्य अधकारमयी वातावरण मे झूलता रहेगा और वर्तमान भी सुखकर कैसे रहेगा ? जरा सोचिए !

५. युवक क्या करें ?

धर्म के विषय मे जो विविध मान्यतायें है, उनको यथावत् हृदयगम करने की आवश्यकता है। हमे स्पष्ट रूप मे जान लेना चाहिए कि धर्म वस्तु का स्वभाव है जिसका लेन-देन नही हो सकता—व्यवसाय नही किया जा सकता। व्यवसाय मे अल्प पूजी को अधिक करने का उद्देश्य है और धर्म में मात्र आत्म-पूजी की सभाल का उद्देश्य। व्यवसाय मे लेन-देन है और धर्म में 'पर से निर्वृत्ति'। अत धर्म को व्यवसाय नही बनाया जा सकता। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने कहा कि 'धर्म मे निकाक्षित अग का होना आवश्यक है।' जो जीव धर्म मे किसी आकांक्षा का भाव रखते हो वे धार्मिक या धर्मात्मा नही, अपितु व्यवसायी है।

आज जो प्रवृत्ति चल रही है उसमे व्यवसाय मार्ग अधिक परिलक्षित होता है। कतिपय लोग अल्प त्यागकर उससे अधिक प्राप्त करना चाहते है या त्याग कर भी उसका मोह नही छोड़ते। कतिपय अपने दान-द्रव्य के बदले उसका अधिक फल चाहते है। जैसे कुछ देकर वे सस्था के सदस्य ही बन जाय, उनकी पूछ ही हो जाय, उनके नाम का अमरपट्ट लग जाय आदि। इसी प्रकार तीर्थ-वन्दना मे भी लोभ-लालच है—उसमे भी फल चाहना है, लोग उसमे भी सासारिक अभीष्ट की चाहना कर बैठते है। कही-कही तो धन की आड मे—थोड़ा सा देकर किसी समृद्ध धार्मिक न्यास की सम्पत्ति पर शासन जमाने की प्रवृत्ति भी लक्ष्य मे आती है। कई लोग पार्टीबन्दी के चक्कर मे सस्थाओ तक को ले डूबते है या वहा विवादो का वातावरण तैयार करा देते है, आदि।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि धर्म और धर्म-संस्थाओ को भी ऐसे पात्रो की जरूरत है जो सर्वथा उनके योग्य हो। शिक्षा व साहित्यिक सस्थाओ में तद्विषय और तद्भाषा विशेषज्ञों की, मन्दिर आदि प्रतिष्ठानो मे धर्माचरण मे समुन्नत जनों की आवश्यकता है। इसी तरह जो शिक्षा मे उस विषय के अधिकारी न हो उन्हें शिक्षा संस्थाओ में तथा धर्माचरण से शून्य व्यक्तियो को धार्मिक प्रतिष्ठानों मे अगुआ नही होना चाहिए।

ऐसे ही जयन्तियो की परिपाटी भी उत्तम है यदि वह लाभ के लिए हो, उससे धार्मिक प्रचार को बल मिलता

(शेष पृ० आवरण ३ पर)

साहित्य-समीक्षा

जिनवरस्य नयचक्रम् :

संपादक : डा० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक : पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर। प्रकाशनवर्ष १६८२, पृष्ठ १८०, छपाई व जिल्द बढ़िया, मूल्य ४ से ६ रुपये तक।

'नय' एक अनादि शैली है जो सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर सम्यक् और निरपेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर मिथ्या होती है। जब से समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थो का पठन-पाठन जन साधारण मे प्रचलित हुआ—नयवाद विशेष चर्चा का विषय बन गया है। कई लोग तो विपरीत धारणा ही बना बैठे। डा० भारिल्लजी ने जहाँ विषय का मथन कर अपनी शैली मे अपने विचारो को प्रस्तुत किया है वहाँ उन्होने विभिन्न आचार्य-मन्तव्यो को प्रस्तुत कर बडी बुद्धिमानी की है। इससे जो लोग उन्हे सोनगढ़ी कैम्प का समझ बैठे हो, उन्हे निश्चय ही विषय निर्णय मे आचार्य वाक्य सहायक होगे। डा० साहब ने विषय को बहुत स्पष्ट किया है ऐसा मेरा मत है। आचार्य वाक्यो की कसौटी के अस्तित्व मे मै क्या लिखू? निश्चय ही भारिल्ल जी का प्रयास सराहनीय है अन्यथा अनेक ग्रन्थों को एकत्रित कर देखने का प्रयास ही कौन करता है। बधाई।

× ×

भट्टारकीय ग्रन्थभण्डार नागौर ग्रन्थसूची .

निर्माता : डा० प्रेमचन्द जैन जयपुर, प्रकाशक · डाइरेक्टर, सैन्टर फोर जैन स्टडीज राजस्थान, जयपुर। प्रकाशन वर्ष १६८१, पृष्ठ २६६, छपाई व जिल्द उत्तम, मूल्य ४५ रुपए।

प्रस्तुत सूची मे भण्डार के १८६२ विभिन्न ३० विषयो के ग्रन्थों का १२-१३ कालमों में विस्तृत विवरण दिया गया है जो अनुसंधानकर्ताओं के बड़े उपयोग का है, उन्हे एक ही स्थल पर ग्रन्थतालिका उपलब्ध होगी तथा भटकना नहीं पडेगा। ग्रंथ उपयोगी बन पडा है। डा० पी. सी. जैन बधाई के पात्र हैं। उन्होंने परिश्रम पूर्वक समस्या सरल कर दी है। अन्त में अकारादि क्रमबद्ध सूची भी दी गई है। शोधार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।—बधाई।

× ×

दिल्ली जिनग्रन्थरत्नावली :

लेखक : श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिंसिपल, दिल्ली; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १६८१, कुल पृष्ठ ४२५, मूल्य : ७० रुपए, छपाई जिल्द आदि उत्तम।

प्रस्तुत कृति दि० जैन सरस्वती भण्डार नया मन्दिर, धर्मपुरा दिल्ली के ग्रन्थो की सूची है, जिसे लेखक ने बडी कठिनाइयों में परिश्रम पूर्वक लिखा है। अभी तक अन्य भण्डारो की प्रकाशित सूचियो मे ऐसा व्यवस्थित क्रम कम ही देखने मे आया है। इसमे ११ कालमों द्वारा १२६१ ग्रन्थो का परिचय वैज्ञानिक ढग से दर्शाया जाने से शोधार्थियों को सरलता हो गई है, वे अल्प परिश्रम से ही अपना अभीष्ट सिद्ध करने में समर्थ हो सकेंगे। २०८ पृष्ठो के परिशिष्ट मे प्रति ग्रंथ के आदि-अन्त अशो को दर्शाया गया है और कुछ विशेष भी दिया गया है।

लेखक से विदित हुआ कि उक्त प्रकाशन लेखक के श्रम का प्रथम अश है, ऐसी कई कलेवरो की सामग्री अभी भी प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है। प्रस्तुत प्रकाशन का विद्वानो मे स्वागत हुआ है और होगा; हम प्रिंसिपल साहब के उत्साह की सराहना करते है—वे शोध विषयो के भी योग्य प्रतिपादक हैं—बधाई।

—सम्पादक

(पृ० ३२ का शेषाश)

हो। पर, आज जयन्तियों का उद्देश्य मानपुष्टि अथवा स्वार्थलोभ में अधिक दिखाई देता है। धार्मिक उत्सव की महत्ता प्रायः किसी बड़े राजनैतिक नेताके आनेसे मापी जाती है। जहाँ वीतरागी महावीर की दिव्यध्वनि के लिए अंग-पूर्वधारी गणधरो की खोज करनी पडी वहाँ आज सांसारिक-विषय-कषाय और अभक्ष्य सेवी जैसों को प्रमुखता दी जाती है। थोड़ी देर के प्रसंग में धर्म के नाम पर प्रभूत सम्पत्ति दिखावे में व्यय कर दी जाती है। अहिंसा की जय तो बोली जाती है पर अहिंसा के अंग—जीव रक्षा, दीन भोजन, ज्ञानप्रचार प्रसार आदि पर जोर नहीं दिया जाता। ऐसे ही भगवान के अभिषेक आदि की बोलियों जैसी प्रथाएं भी गरीब साधारण गृहस्थों के अधिकार-हनन मे हैं, ये सब ही कुप्रथाये है। यदि ऐसे अवसरो पर लोगो में स्वाध्याय का प्रचार किया जाय, उन्हे स्वाध्याय व दर्शन करने, रात्रि भोजन त्याग व अभक्ष्य त्याग करने और सदाचार पालन जैसे नियम दिलाकर सन्मार्गों को प्रशस्त किया जाय, विवाह आदि में दान-दहेज और सौदाबाजी न करने की प्रतिज्ञा को कराया जाय तो सभी उत्सव सार्थक हों।

खेद है कि, आज मद्य-मास-मधु जैसे अभक्ष्य खाद्य बनते जा रहे है। कन्द-मूल त्याग की बात तो पीछे जा पड़ी है, आज लोग अण्डा तक से भी परहेज नही करते।

युवकों का कर्तव्य है कि वे इनके सुधार में कटिबद्ध हों, स्वाध्याय के अभ्यासी बनें और जिन-शासन को समझें। धर्म की बागडोर उन्ही के हाथों मे है—वे इसे उबारें या डुबायें यह उन्हें सोचना है, सोचिए !

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २ ५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५ ००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३ ००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-८०

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ७-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Just Released :

Jaina Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 1945)

2 Volumes ... ... Per Set ... ६००-००

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के चिर सहयोगी स्व. ला. पन्नालाल जैन अग्रवाल

दिल्ली महानगरी के मौहल्ला चरखेवालाँ की गली कन्हैयालाल अत्तार के निवासी स्व० ला० पन्नालाल जैन अग्रवालका साधिक ८० वर्ष की परिपक्व आयु मे गत २ अप्रैल १९८२ ई० को देहान्त हो गया। लाला पन्नालाल जी बड़े समाजचेता एव कर्मठ किन्तु मूक समाजसेवी सज्जन थे। ऊँचा-लम्बा कद, छरहरा बदन, क्वचित श्यामल वर्ण, सौम्य मुखमुद्रा, मन्दस्मिति, बहुत कम बोलना, सीधे तन कर बैठना—खडा होना व चलना, धोती-कुर्ता व टोपी वाली सादी वेषभूषा—सामने वाले व्यक्ति को आश्वस्त करने एव उस पर अनुकूल प्रभाव छोडने वाला व्यक्तित्व था। दिल्ली की दि० जैन पचायत, जैन मित्र मण्डल आदि अनेक सस्थाओ के साथ प्राय वह जीवनपर्यन्त सम्बद्ध रहे। दिल्ली जैन समाज तथा उसके मदिरो: शास्त्रभडारो व सस्थाओ के इतिहास मे उनकी विशेष रुचि एव जानकारी थी। दिल्ली की जैन रथ यात्रा के इतिहास पर उन्होने पर्याप्त सामग्री एकत्रित की थी और उस पर एक पुस्तक लिखने का उन्होने हमसे आग्रह किया था किन्तु अन्य व्यस्तताओ के कारण जब विलम्ब होता देखा तो उन्होने स्व० बा० माई दयाल जैन से वह पुस्तक लिखा कर प्रकाशित की। दिल्ली के जैन मन्दिरो एव सस्थाओ पर भी उन्होने हिन्दी एव अग्रेजी मे परिचयात्मक पुस्तिकाएँ लिखकर प्रकाशित की। दिल्ली के कई मन्दिरो के शास्त्र भडारो की सूचियाँ भी उन्होने वीर सेवा मन्दिर के मुखपत्र अनेकान्त में प्रकाशित कराई। हमारी पुस्तक 'प्रकाशित जैन साहित्य' की भी बहुत सी आधारभूत सामग्री उन्होने एकत्रित की थी, अतएव उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'सयोजक' के रूप मे हमने उनका नाम दिया था। पुस्तक की तैयारी के समय भी जब जो सूचनाएँ हमने चाही उन्होने प्रयत्न करके भरसक प्रदान की। पुस्तक तैयार होकर भी लगभग दस वर्ष अप्रकाशित पडी रही, अन्तत. उन्होने जैन मित्र मंडल दिल्ली द्वारा उसे १९५८ मे प्रकाशित करा दिया। 'तीर्थंकरों के सर्वोदय मार्ग' को हमसे लिखाने की प्रेरणा भी उन्होने जैनवाच क० दिल्ली के ला० प्रेमचन्द्र जैन को की थी, जिसे ला० प्रेमचन्द्र जी ने अपने स्वर्गीय पिताजी की पुण्य-स्मृति मे वितरणार्थ प्रकाशित कराया था। हमारी रिलीजन एड कल्चर आफ जैनिज्म के मूल प्रेरक भी ला० पन्नालाल जी एवं ला० प्रेमचन्द्र जी थे—वह पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई (उसके दो सस्करण समाप्त हो गए, तीसरा मुद्रणाधीन है) हमारी तो बात ही क्या, स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी, स्व० बा० कामताप्रसाद जी आदि अनेक लेखको को पन्नालाल जी ने प्रेरणा तथा सामग्री सुलभ कराने मे सहयोग दिया। जिस लेखक से किसी पुस्तक के लिखने का वचन वे लेते थे उसे दो-तीन दिन बाद निरन्तर पत्र लिख कर याद दिलाने, प्रगति जानने, आवश्यक सूचना या सदर्भ सामग्री आदि पहुचाने के लिए पत्र लिखते रहते थे। हमे उनसे प्राप्त पत्रो की सख्या सैकडो मे है। स्व० बा० उग्रसेन जी (परिषद परीक्षा बोर्ड वाले) भी लेखकों से काम कराने और पत्र लिखने मे ऐसे ही निरालस एव तत्पर रहते थे।

लाला पन्नालाल कुछ विशेष पढे-लिखे, विद्वान या साहित्यकार नही थे और बहुत वर्षो तक पुस्तक-विक्रेता का व्यवसाय करते रहे। यह आवश्यक है कि अपनी दुकान मे भी जैन पुस्तके ही अधिकतर रखते थे। किन्तु साहित्य-जगत की जो अद्वितीय सेवा उन्होने की वह थी किसी भी जैन या अजैन विद्वान को इच्छित साधन-सामग्री, प्रकाशित पुस्तकें, दिल्ली के किसी भी शास्त्र भंडार के शास्त्रो की हस्तलिखित प्रतियाँ तथा पुस्तकालयो के सदर्भ ग्रथ तत्परता पूर्वक खोजकर मुहैया करना, और काम हो जाने पर उसी तत्परता के साथ उन्हे वापस मगा लेना। इस बेमिसाल साहित्य सेवा के कारण वह अनेक जैनाजैन साहित्यकारों के के लिए सुपरिचित थे। ऐसा नि.स्वार्थ एव सदा तत्पर साहित्यिक सहयोग एव प्रेरणा देने वाला दूसरा कोई व्यक्ति प्राय: देखने-सुनने मे नही आया। इस प्रकार अनेक विद्वान व लेखक उनके आभारी हुए और अनेक पुस्तकों के सृजन मे वह परोक्ष रूप से सहयोगी रहे।

वीर सेवा मन्दिर के सस्थापक स्व० आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' के प्रति ला० पन्नालाल जी का निश्छल आदर भाव था। मुख्तार सा० द्वारा १९३५-३६ ई० मे सरसावा में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना होने के

(शेष पृष्ठ २४ पर)

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३५ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-सितम्बर १९८२

वीर-निर्वाण संवत् २५०८, वि० सं० २०३९

सीख

जिनराज-चरन मन, मति बिसरै ।
को जानै किहि बार काल की, धार अचानक आनि परै ।।
देखत दुख भजि जाहिं दशौं दिशि, पूजत पातक पुंज गिरै ।
इस संसार सार सागर सौं, और न कोई पार करै ।।
इकचित ध्यावत वांछित पावत, आवत मंगल, विघन टरै ।
मोहनि धूल परी मांथे चिर, सिर नावत तत्काल झरै ।
तबलौं भजन संवार सयाने, जबलौं कफ नहिं कण्ठ अरै ।
अगनि प्रवेश भयो घर 'भूधर' खोदत कूप न काज सरै ।।

× × × ×

रे नर, विपति में धर धीर ।
सम्पदा ज्यों आपदा रे, विनश जैहें वीर ।।
धूप-छाया घटत-बढ़ ज्यों, त्यौंहि सुख-दुख-पीर ।
दोष 'द्यानत' देय किसको, तोरि करम-जंजीर ।।

□□

जीवंधर-कथानक के स्रोत

☐ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के साक्षात् भक्त एव शिष्य, वर्तमान अवसर्पिणी मे भारत क्षेत्र के अन्तिम कामदेव तथा तद्भव मोक्षगामी जीवधरस्वामि का पुण्य-चरित्र अति प्रेरक एव बोधप्रद है इतना ही नही, इन परम तेजस्वी वीरवर एव पुण्यश्लोक हेमाङ्गदनरेश महाराज जीवधर का रोचक एव कौतूहलवर्द्धक कथानक कम-से-कम दिगम्बर परम्परा मे अति लोकप्रिय भी रहता आया है। सस्कृत, अपभ्रश, तमिल, कन्नड, हिन्दी आदि कई भाषाओ मे और विभिन्न शैलियो मे निबद्ध लगभग वीस रचनाए तो इस विषय पर अधुना ज्ञात एव उपलब्ध है जिनमे से कई अपने ढग की बेजोड है।

जीवधरकुमार की गणना चौबीस कामदेवो मे की जाती है। इस परम्परा का मूलाधार क्या और कितना प्राचीन है, यह गवेषणीय है। तिलोयपण्णत्ति (४/१४७२) मे मात्र यह निर्देश प्राप्त होता है कि चौबीस जिनवरो (तीर्थकरो) के काल मे बाहुबलि को प्रमुख करके निरुपम आकृति वाले चौबीस कदर्प या कामदेव हुए है। उत्तरपुराण के अनुसार जीवधर मुनि के अप्रतिमरूप को देखकर श्रेणिक को उनके विषय मे जिज्ञासा हुई, जिसका समाधान सुधर्मास्वामी ने जीवधर चरित्र का वर्णन करके किया। वादीभसिहसूरि की गद्यचिन्तामणि के अनुसार तो श्रेणिक को यह भ्रम हो गया कि यह स्वर्गो के कोई देव है जो यहाँ मुनिवेष मे आ विराजे है। अतएव कामदेव होने के कारण जीवधर एक पुराणपुरुष है और क्योकि वह भगवान महावीर के सघ मे मुनिरूप मे दीक्षित हुए, उसी तीर्थ मे केवलज्ञान प्राप्त करके राजगृह के विपुलाचल से ही उन्होने निर्वाणलाभ किया, वह एक ऐतिहासिक महापुरुष भी है। उनकी राजधानी 'राजपुर' तथा हेमागद देश का भौगोलिक वर्णन भी सुदूर दक्षिण का अर्थात् कर्णाटक-केरल-तमिल भूभाग का ही सकेत करता है।

प्राप्त साहित्य मे जीवधर कथा की दो स्पष्ट धाराएँ मिलती है एक का प्राचीनतम उपलब्ध एव ज्ञात स्रोत आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण (ल० ८५०-८९७ ई०) है। पुष्पदत ने अपने अपभ्रश महापुराण (९६५ ई०) मे तथा तमिल श्रीपुराणम मे व रइधु, शुभचन्द्र आदि कई परवर्ती लेखको ने उत्तर पुराण के कथानक को अपना आधार बनाया। किन्तु वादीभसिहसूरि कृत गद्यचिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि और तिरुत्तक्कदेवकृत तमिल जीवकचिन्तामणि के कथानक मे जहाँ परस्पर अद्भुत सादृश्य है, वही उत्तरपुराण की कथा मे वह अपने मौलिक अन्तर भी प्रकट करता है। हरिचन्द्रकृत जीवन्धरचम्पू मे लगता है कि वह दोनो ही धाराओ मे प्रभावित है दोनो से परिचित रहा है।

अब प्रश्न यह है कि कथा का मूलाधार उपरोक्त म से किस ग्रथ को माना जाय, या उनसे भी प्राचीनतर कोई अन्य स्रोत थे ?

उत्तरपुराणकार गुणभद्र एक अत्यन्त प्रमाणिक आचार्य है। उन्होने स्वगुरु जिनसेन स्वामी (८३७ ई०) के अपूर्ण आदिपुराण को पूर्ण किया, तदनन्तर अपने उत्तरपुराण मे शेष २३ तीर्थकरो तथा सम्बन्धित अन्य शलाका पुरुषो एव विशिष्ट व्यक्तियो के चरित्रों को निबद्ध किया था—आदिपुराण एव उत्तरपुराण ही संयुक्त रूप से महापुराण कहलाए। भाषा, शैली, सक्षेप, विस्तार आदि को छोडकर, उनके पौराणिक कथानक निराधार नही हो सकते—उनके सन्मुख तद्विषयक पूर्ववर्ती साहित्य अवश्य रहा। कवि परमेश्वर (अनुमानित समय लगभग ४०० ई०) के वागार्थ-सग्रह नामक पुराणग्रन्थ का तो जिनसेन और गुणभद्र दोनों ने स्पष्ट उल्लेख किया है तथा उनके कई परवर्ती पुराणाकरो एव शिलालेखों मे भी उनके उल्लेख प्राप्त है। कवि प्राय. परमेश्वर के समसामयिक या कुछ आगे-पीछे के

नंदिमुनि एवं कूचिभट्टारक नामक पुराणकारों की विद्यमानता के भी सकेत मिलते है। भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि के आधार पर गौतम, सुधर्मा आदि गणधर भगवानों द्वारा गूथित द्वादशागवाणी के १२वें अंग दृष्टिप्रवाद का एक विभाग प्रथमानुयोग था जिसमे पुराण पुरुषो के चरित्र का सग्रह था। आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवलि के उपरान्त उसका सार गाथानिबद्ध नामावलियो एव कथासूत्रों के रूप मे मौखिक द्वार मे प्रवाहित होता रहा। उन्ही के आधार पर उपरोक्त प्राचीन पुराणग्रथ तथा विमलसूरि, सघदासगणि, रविषेण, जिनसेन सूरि पुन्नाट आदि के पुराण तथा वरागचरित्र प्रभृति अन्य प्राचीन पौराणिक चरित्र भी रचे गए। अस्तु, जीवधर कथानक गुणभद्र का ही आविष्कार अथवा उनकी अपनी कल्पना से प्रसूत था, यह मानने का कारण प्रतीत नही होता। उसके लिए भी उनका आधार उनका पूर्ववर्ती पुराणसाहित्य एव पौराणिक अनुश्रुतियाँ थी।

जीवधर कथा की दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व तिरुत्तकदेव का तमिलकाव्य तथा वादीभसिंह के ग्रथद्वय और अशत हरिचन्द्र का जीवधर चम्पू करते है हरिचन्द्र की एक रचना धर्मशर्माभ्युदय है, जिसकी प्राचीनतम उपलब्ध प्रति १२३० ई० की है। पहले अनेक विद्वान काव्य-मीमासाकार राजशेखर के एक उल्लेख के आधार पर हरिचन्द्र का समय ९०० ई० के लगभग मानते थे। किन्तु जैसा कि धर्मशर्माभ्युदय के विद्वान संपादक डा० पन्नालाल साहित्याचार्य का कहना है, हरिचन्द्र के ग्रथ न केवल गुणभद्रीय उत्तरपुराण (८९७ ई०) से वरन वीरनदि के चन्द्रप्रभचरित्र (ल० ९५० ई०) और सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०) से पर्याप्त प्रभावित है। इसके अतिरिक्त, उनका जीवधर चम्पू वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि से भी प्रभावित एव परवर्ती है। वादीभसिंह सूरि का समय भी आधुनिक युग के प्रारंभिक विद्वान पहले तो ८०० ई० के लगभग मानते थे, तदनन्तर अब अधिकाश विद्वान १०वी शती ई० का उत्तरार्ध मानने लगे। किन्तु, जैसा कि हमने अपने लेख श्रीमद्वादीभसिंहसूरि मे तत्सबधित प्राय. सभी प्रचलित भ्रान्तियो का निरसन करके सिद्ध किया है, गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि स्याद्वादसिद्धि आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य अजितसेन वादीभसिंह का मुनिजीवनकाल १०२५-१०९० ई० प्राय. सुनिश्चित है और गद्यचिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि की रचना उन्होने १०५० व १०६० ई० के मध्य की है। अतएव महाकवि हरिचन्द्र और उनके दोनो ग्रथों का रचनाकाल १०६० ई० के उपरान्त और ११०० ई० के पूर्व, अर्थात् लगभग १०७५ ई० मानना उचित होगा।

तिरुत्तकदेवकृत तमिल महाकाव्य जीवक चिन्तामणि तमिल भाषा के प्राचीन पाच महाकाव्यों मे परिगणित, प्राचीन तमिल साहित्य का समुज्ज्वल रत्न एव बेजोड़ अति प्रतिष्ठित रचना है। उसमे और वादीभसिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि मे इतना अद्भुत सादृश्य है कि दोनों में जो भी परवर्ती है उसने पूर्ववर्ती को अपना अधिकार बनाया है। पहले टी० एस० कुप्पुस्वामी, स्वामीनाथ अइयरपिल्ले, चक्रवर्ती आदि अनेक तमिल विद्वान भी जीवकचिन्तामणि को गद्यचिन्तामणि पर आधारित मानते रहे, और उसे भी प्राय. दसवी या ग्यारहवी शती ई० की रचना अनुमान करते रहे। किन्तु इधर कुछ विद्वान उसका बिल्कुल उलटा सिद्ध करने का प्रयास कर रहे है। उनकी युक्तिया भी बेदम नही है। उदाहरणार्थ डा० आर० विजयलक्ष्मी ने जीवकचिन्तामणिका विस्तृत एव सूक्ष्म अध्ययन तथा गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि, जीवधरचपू और उत्तरपुराण के कथानकों एव वर्णनो के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जीवक चिन्तामणि ७५० और ८५० ई० के मध्य किसी समय लिखी गई होनी चाहिए।

यो तो जीवकचिन्तामणि के सर्व प्राचीन स्पष्ट उल्लेख शेकिल्लार पडित की पेरिय पुराणम् (११५० ई०) में तथा उसके उपरान्त किसी समय लिखी गई कम्बन कृत तमिल रामायण मे ही प्राप्त होते है। अतः इससे तो इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि जीवकचिन्तामणि की रचना ११०० ई० के पूर्व किसी समय हुई। गद्यचिन्तामणि के साथ किए गए उसके तुलनात्मक अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि वादभसिंह उससे सुपरिचित थे। अस्तु तिरुतक्कदेवकृत तमिल महाकाव्य जीवकचिन्तामणि उतनी प्राचीन भी नही तो कम-से-कम ९वी या १०वी शती ई०

की रचना अवश्य है। डा० विजयलक्ष्मी के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि तिरुक्कदेव के सम्मुख कोई प्राचीन कथानक रहे, जिनमें कोई प्राकृत कथा भी थी। उन्हें ही इन्होंने अपना आधार बनाया था।

इस सबंध में यह भी ध्यातव्य है कि वादीभसिंह भी मूलतः तमिलदेश के निवासी थे और तमिल भाषा एव साहित्य ते सुपरिचित थे, बल्कि एक अनुश्रुति तो यह भी है कि जीवकचिन्तामणि का रचनारभ उन्होंने किया था, बीच में ही छोड़ दिया और तिरुतक्कदेव ने उसे पूरा किया। इस अनुश्रुति में तो शायद कोई सार नही है किन्तु यह सुनिश्चित है कि जो आधार स्रोत एव साहित्यिक परंपराए तिरुतक्कदेव को प्राप्त थी, वे वादीभसिंह को भी प्राप्त थीं। वस्तुत तमिलसाहित्य की प्राचीन अनुश्रुतियो मे चूडामणि और चिन्तामणि नामक दो काव्यग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। हमे ऐसा लगता है कि उक्त दोनों ग्रंथ पर्याप्त प्राचीन (लगभग ६ठीं शती ई०) के हैं, वे तमिल एवं कन्नडदेश मे भी बहुप्रचलित रहें हैं और उन दोनों में जीवंधर कथानक का ही वर्णन रहा। वे या उनमे से कोई एक प्राकृत मे अथवा प्राकृत-संस्कृत-तमिल मिश्रित भाषा में भी था, यह सभव है। उन्ही को तिरुतक्कदेव ने आधार बनाया और उन्हे ही वादीभसिंह ने तमिल भापा मे 'चिन्तामणि' जीवंधर का पर्यायवाची भी बतलाया जाता है अतएव तिरुतक्कदेव ने जीवकचिन्तामणि लिखा तो वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि एवं क्षत्रचूडामणि लिखे। उन्होंने दोनो प्राचीन ग्रंथो को मान्य किया। जीवधरचपूकार के सामने ऐसी कोई वात नही थी। वह मध्य भारतीय और सभवतया तमिल भाषा एव साहित्य से अनभिज्ञ था। उसने तो अपने कथानक को रोचक बनाने के लिए जो आधार, उत्तरपुराण एव गद्यचिन्तामणि उसे प्राप्त थे, उन दोनो का उपयोग किया,।

सन्दर्भ सूची

१. डा० आर० विजयलक्ष्मी ए स्टडी आफ जीवकचिन्तामणि (अहमदाबाद १९८१)।
२. ज्योतिप्रसाद जैन—दी जैन सोर्स आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेंट इंडिया दिल्ली (१९६४)
३. ज्योतिप्रसाद जैन ४ श्रीमद्वावीभसिंह (जै० सि० भा० जौलाई ८२)।
४. ज्योतिप्रसाद जैन जीवघर साहित्य (शोधाक-४६)
५. डा० पन्नालाल सा० गद्यचिन्तामणि (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९६८)
६. डा० पन्नालाल सा० जीवधर चम्पू भा० (ज्ञा० पी० दिल्ली १९६८)।
७ डा० पन्नालाल सा० धर्मशर्माभ्युदय (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९७१)।
८. पं० नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०)।
९. बी० ए० सालतोर—मेडिकलजैनिज्म (बंबई १९३८)
१०. ए० सी० चक्रवर्ती—जैनालिटरेचर इन तमिल (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९७४)।

□□

सम्यक्त्व

'सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स॥'

जिसके हृदय में नित्य सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह होता है, उसके कर्मरूपी धूल का आवरण नष्ट हो जाता है (अतः सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए)।

'सम्मत्तस्सणिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणयापुरिसा।
अंतर हेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥'

सम्यक्त्व के बाह्य निमित्त जिनसूत्र और जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदि हैं।

असली मैं और नकली मैं

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

मैं दो प्रकार का है—एक असली और एक नकली। परन्तु दोनों एक साथ नही रहते जहाँ असली मै है वहा नकली नही और जहाँ नकली मै है वहाँ असली मै नही। यह नकली मैं ही परमात्मा को देखने के लिये, परमात्मा बनने में रुकावट है। रुकावट ही नही, यह फाटक भी बन्द है आगल भी लगी है और ताला भी पड़ा हुआ है। यही जीव का संसार है और यही महापाप है। यही हिंसा है। इसको समझना जरूरी है।

एक ज्ञान का कार्य हो रहा है जानने रूप-ज्ञातादृष्टा-रूप, ज्ञायकरूप-एक मन सम्बन्धी विकल्प हो रहे है भाव हो रहे है कोई शुभरूप-दयादानादि, भगवान की भक्ति, त्याग वृत रूप है और कोई अशुभरूप क्रोधादिरूप द्वेषरूप दूसरे का बुरा करने का हिंसा करने का चोरी करने का झूठ बोलने का परिग्रह का अब्रह्मरूप है। इसी प्रकार बाहर मे शरीर की क्रिया है कोई शुभरूप है कोई अशुभ रूप है। हम जब कोई कार्य करते है तो तीन काम होते है जसे मैं बोल रहा हू तो होठ हिलने रूप शरीर की क्रिया है भीतर बोलने रूप राग भाव है और उन दोनो के जानने वाला ज्ञातापना है। ज्ञातापने का भाव तो आत्मा से उठ रहा है क्योकि ज्ञान और आत्मा का एकत्वपना है और मन सम्बन्धी विकारी भाव और शरीर की क्रिया कर्म के सम्वन्ध को लेकर हो रही है। जब हम ज्ञान की क्रिया को नही पकडते है तो मन सम्बन्धी विकारी भावो मे और शरीर की क्रिया में अहपना मानते है कि मै हू—ये मेरे है, मैने ऐसा किया है। इन प्रकार का अहपना चाहे अशुभ भावों में आवे चाहे शुभ भावो—चाहे शुभ क्रिया मे चाहे अशुभ क्रिया में आवे यही नकली मै पना है। साधारण रूप से यह मैं पना झूठ बोलने में भी आता है मैंने ऐसा झूठ बोला और सत्य मे भी आता है मेरे बराबर कोई सत्य बोलने वाला नही—जीव को बनाने मे भी आता है और मारने में भी। जैसे मैने एक बार मे ही सफाया कर दिया या मैने इतने लोगो को बचा दिया। इसी प्रकार चोरी करने मे भी और न करने मे भी। ब्रह्मचर्य पालने में भी और अब्रह्म का सेवन करने मे भी। परिगृह के गृहण में भी आता ही है और परिग्रह के त्याग मे उससे भी ज्यादा आता है। मैने इतना बडा त्याग किया है मैं लाखों की सम्पत्ति छोडकर त्यागी बना हूं। मैने पहले बड़ी-बडी मौज की है अब सब कुछ त्याग दिया है इत्यादि। इसी प्रकार आने का विकल्प उठाते है कि मै इतने लोगो की सेवाएं करूँ इतने लोगो को दान करने अथवा इतने लोगों को बन्दी कर लू इत्यादि रूप। इसी प्रकार बाहरी क्रिया जिनको धार्मिक क्रिया कहते है पूजा दान व्रत उपवास मन्दिर बनवाना सेवा आदि करना इसमे भी अहंपना आता है चाहे हम बाहर मे प्रगट करे या न करें परन्तु भीतर मे यह जरूर बनता है कि मैंने कुछ किया है ऐसा अहपना। इस प्रकार दोनो प्रकार की—मन के भाव और शरीर की क्रिया मे होना है चाहे वह परिणाम ऊंचे से ऊँचे कोटि के शुभ हो चाहे अशुभ हो। यहाँ भाव शुभ है कि अशुभ है इसमे प्रयोजन नही प्रयोजन हैं अहंपना का। अलग शुभ मे अहपना है तो भी और अशुभ में अहपना है तो भी अहम्पना तो अपने में नही है पर में ही है। हमारा ससार शुभ-अशुभभाव नही परन्तु शुभ अशुभ भावो में अहपना है।

हम ऐसा मान लेते है कि शुभ भाव हुए हम तो धर्मात्मा है अशुभ हुए पापी हैं। यह तो बहुत मोटी बात है यहाँ पर तो सवाल है कि हमारा अहम्पना किसमें है अपने निज भाव ज्ञाता दृष्टा मे, ज्ञायक में, चैतन्य में अथवा शुभ-अशुभ भावों मे और शरीर सम्बन्धी क्रिया मे। अगर हमारा अहम्पना अपने में है जो वहाँ दोनों (मन सम्बन्धी शरीर-सम्बन्धी) का जानने वाला है अथवा इन दोनों में।

अगर अपने में अपनापना आ गया तो इन दोनो में अपनापना अहम्पना भर गया यह पर मे अहमपना भरना ही परमात्मा के लिये फाटक खुल गया है इसी को कहते हैं नकली मैं का भरना। छोडना क्या है इस मै पने को छोडना है। हम भेष बदली कर लेते है हम कपडे बदली कर लेते है हम कमरे बदली कर लेते है परन्तु मै पना वैसा-का वैसा कायम रहता है भेष बदलने से नही अपने को बदलने से क्रान्ति होगी।

यह अहम्पना जैसा मन सम्बन्धी और शरीर सम्बन्धी कार्यों मे जैसा आ रहा है वैसा उस ज्ञाता दृष्टा जानने वाले वाले मे आना चाहिए जब उसमे मै पना आयेगा तब इन दोनों से मैं पना मिटेगा। शुभ-अशुभ रहेंगे क्रिया रहेगी परन्तु मैंपना नही रहेगा। मैंपना अपने मे अपने ज्ञायक मे आयेगा मैं कौन जानने वाला साक्षीभूत। तब doing मिट जायेगा इन भावों मे और क्रिया मे जो doing उठ रहा था वह नही रहेगा परन्तु Being हो जायेगा। जिसका अहम्पना मिट गया उसका ससार मिट गया अब उसके भीतर संसार नही है वह ससार मे है। नाव मे पानी नही है परन्तु नाव पानी के ऊपर है यह अहम्पना मेटने का और कोई उपाय नही उसका उपाय है जानने वाले मे अहंपना 'ब्रह्मोऽस्मि' आना स्थापित करना अन्यथा यह अहम्पना सूक्ष्मरूप धारण करके जीवित रह जाता है।

यह अहम्पना अशुभ में तो फिर भी 'कम पड़ जाता है कारण समाज और अन्य लोग उसकी निन्दा करते हैं परन्तु शुभ में तो उस अहम्पने का छूटना बहुत मुश्किल है कारण समाज भी माला पहना कर उसको उपाधि देकर उसका अहम्पना पुष्ट करते है वह सोचता है क्या इतने आदमी मेरे को मान दे रहे है सब गलती तो नही कर रहे मैने जरूर कुछ किया है। पूजा-पाठ करके हम 'समझते' है हम कुछ आत्मकल्याण के नजदीक आ रहे है परन्तु इस अहपना को करके हम और दूर होते जा रहे है।

दूसरे प्रकार का अहम्पना अब आया अपने आपमें जो असली अहपना है। ग्रथकार कहते है कि इस आत्मा में अगर तूने अहम्पना माना तो तेरे यह आत्मा भी परिग्रहपने को प्राप्त हो जायेगी कहना यह था कि मै और आत्मा दो चीज तो है कि जो मै हू वही आत्मा है इसलिये अगर मैं और आत्मा मे भेद आ रहा है तो आत्मा तेरे मै से पर हो गयी और पर होना ही परिग्रह हो गया इसलिये मैं और आत्मा दो न होकर अभेद होना चाहिए जहाँ मैं की अनुभूति होती है वही आत्मा है ऐसा अभेद रूप होगा तब कहने सुनने को कुछ नही रहेगा तू अपने आप मे समा जायेगा। पानी का बुदबुदा पानी मे लीन हो गया।

□□

(पृष्ठ ८ का शेषांश)

१. ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइ।
ओदसअन्ति दअमणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइ ॥१।४

२. न खलु न खलु बाण सन्निपात्योऽयस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्नि.॥
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोल।
क्व च निश्चितनिपाता वज्रसारा: शरास्ते॥
—अभि० शाकु० १।१०

३. आर्तत्राणाय व: शस्त्र न प्रहर्तुमनागसि॥
—अभि० शाकु० १।११

४. पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मान पुनीमहे॥
—प्रथम अङ्क पृ० २८

५. 'विश्वासोपगमादभिन्नगतय: शब्द सहन्ते मृगा.'
—अभि० शाकु० १।१४
नष्टाशङ्काहरिणशिशवो मन्द्रमन्द चरन्ति॥
—वही १।१५
गाहन्तां.............. .... अस्मद्‌धनु:॥वही २।७

अभिज्ञान शाकुन्तल में अहिंसा के प्रसंग

☐ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

कालिदास एक अहिंसावादी कवि थे। उनके द्वारा ग्रथित अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के सूक्ष्म अध्ययन से उनकी अहिंसावादी मनोवृत्ति की पर्याप्त झाँकी प्राप्त होती है। इस नाटक के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ मे ही नटी कहती है कि प्रमदाये दयाभाव से युक्त हो भ्रमरो के द्वारा कुछ-कुछ चूमे गए कोमल केसर शिखा से युक्त शिरीष पुष्पो को अपने कानो का आभूषण बना रही है।[1] इस पद्य मे दअमाणा पद साभिप्राय है। मदयुक्त (सौन्दर्य आदि के कारण मतवाली) होने पर भी दयाभाव के कारण युवतियाँ शिरीष के फूलो को सावधानी के साथ तोड कर कर्णाभूषण बना रही है। जिस प्रकार भौरे बहुत सावधानी से फूलो का रसास्वादन करते है, उमी प्रकार युवतियाँ भी बडी सावधानी से पुष्पो का स्पर्श कर रही है। किसी को कसी प्रकारकष्ट पहुंचाए बिना उसमे कुछ ग्रहण करना उपर्युक्त भ्रामरी वृत्ति की सदृशता के अन्तर्गत परिगणित होता है। जैन ग्रन्थो मे साधु को भ्रामरी वृत्ति का पालक कहा गया है। जैन साधु बिना गृहस्थ को कष्ट पहुचाए उसके न्यायोपर्जित धन से बने हुए आहार मे से कुछ आहार अपने उदर की पूर्ति हेतु ले लेना है, उसके लिए श्रावक को विशेष उपक्रम नहीं करना पड़ता है यही कारण है कि साधु को उद्दिष्ट भोजन लेने का निषेध है। भ्रामरी वृत्ति का एक तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर थोड़ा-थोडा रस ग्रहण कर बैठता रहता है, उसी प्रकार साधु भी वर्षा काल को छोड़ कर अन्य समय मे एक स्थान पर अधिक दिन निवास न करे; क्योंकि इससे श्रावकों से गाढ परिचय होने के कारण रागभाव की वृद्धि की आशङ्का होती है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को बहुजनहिताय बहुजन सुखाय सतत गतिशील रहने का उपदेश दिया था—"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।"

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के सातवें श्लोक मे शिकारी राजा दुष्यन्त के द्वारा पीछा किए जाते हुए हरिण का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। हरिण की स्थिति देख कर निष्ठुर व्यक्ति के मन मे भी करुणा जाग्रत हो सकती है—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा दत्तदृष्टि॥
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुख भ्रंशिभि कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतर स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥"

अर्थात् देखो, पीछे दौडते हुए रथ पर पुनः पुन गर्दन मोड कर दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय के कारण (अपने) अधिकाश पिछले अर्द्धभाग से अगले भाग मे सिमटा हुआ, थकावट के कारण खुले हुए मुख से अर्द्धचर्चित कुशो से मार्ग को व्याप्त करता हुआ ऊँची छलांग भरने के कारण आकाश मे अधिक और पृथ्वी पर कम चल रहा है।

राजा को आश्रम के मृग पर प्रहार करने को उद्यत देख कर तपस्वी कहता है—'राजन्, आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य' अर्थात् यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिए। इस कोमल मृग शरीर पर रूई के ढेर पर अग्नि के समान यह बाण न चलाइए, न चलाइए। हाय! बेचारे हरिणो का अत्यन्त चञ्चल जीवन कहाँ और तीक्ष्ण प्रहार करने वाले वज्र के समान कठोर आपके बाण कहाँ![2]

शास्त्रो की उपयोगिता केवल दुखी प्राणियों की रक्षा के लिए है, निरपराध पर प्रहार करने के लिए नहीं है।[3] आश्रम मे सब प्रकार की हिंसा का निषेध है, अतः उसका पुण्याश्रम नाम सार्थक है। ऐसे पुण्याश्रम के दर्शन से ही व्यक्ति पवित्र हो जाता है।[4] पशुपक्षी भी ऐसे स्थान पर विश्वस्त होकर रहते है, और सब प्रकार शब्दों के प्रति सहिष्णु हो जाते है।[5] रक्षा के कार्य में राजा का सबसे बड़ा योग होता है अत. तप का सचय प्रतिदिन करने के

कारण सबसे बडा योग होता है अत तप का सचार प्रति दिन करने के कारण सबसे बडा योग होता है अत: तप का सचार प्रतिदिन करने के कारण राजा राजर्षि कहलाता है–

रक्षायोगादयमपि तप प्रत्यहसञ्चिनोति।
अस्यापि द्या स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीत
पुण्य शब्दो मुनिरिति मुहु केवल राजपूर्वे ॥
—अभि० शाकु० २।१४

अहिसक भावना से ओत-प्रोत स्नेह का पशुपक्षियो और वृक्षो पर प्रभाव पड़ता है। वे भी अपने स्नेही के वियोग मे कातर हो जाते है। शकुन्तला के वियोग मे पशुपक्षियो की ऐसी ही दशा का चित्रण कालिदास ने किया है—

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥
—अभि० शाकु० ।१२

अर्थात् शकुन्तला के वियोग के कारण हरिणिओ ने कुशो के ग्रास उगल दिए, मोरो ने नाचना छोड दिया और लताये मानो आसू बहा रही है।

शकुन्तला के द्वारा पुत्र के रूप मे पाला गया मृग इतना संवेदनशील है कि शकुन्तला की विदाई के समय वह उसका मार्ग ही नही छोडता है—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिगुदीना।
तैल न्यषिच्यत् मुखे कुशसूचिविद्धे॥
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धित को जहाति।
सोऽय न पुत्रकृतक. पदवी मृगस्ते॥
—अभि० शाकु० ४।१४

अर्थात् जिसके कुशों के अग्रभाग से बिंधे हुए मुख मे तुम्हारे द्वारा घावो को भर ने वाला इगुदी का तेल लगाया गया था, वही यह सावोंकी मुट्ठियो (ग्रासो) को खिला कर बड़ा किया गया और तुम्हारे द्वारा पुत्र के समान पाला गया मृग तुम्हारे मार्ग को नही छोड़ रहा है।

जीवन मे अहिसा की भावना सर्वोपरि है। जिसके जीवन मे अहिसक आचरण नही है। उसका लोकनिन्दित जीविका वाले व्यक्ति भी परिहास करते है। शाकुन्तल के छठे अंक मे जब श्याल मत्स्योपजीवी की हँसी उड़ाता है, तब वह अनुकम्पा मृदु श्रोत्रिय का उदाहरण देकर अपने जीविकोपार्जन की पद्धति का औचित्य सिद्ध करना चाहता है—

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव शोत्तिए॥
—अभि० शाकु० ६।१

अर्थात् निन्दित भी जो काम वस्तुत. वशपरम्परागत है, उसको नही छोडना चाहिए। (यज्ञ मे पशुओं को मारने रूपी कार्य मे कठोरवृत्ति वाले भी वेदपाठी ब्राह्मण दयाभाव मे मृदु ही कहे जाते है।

ऐसा लगता है, कालिदास के समय यज्ञो मे जो पशु हिसा होती थी, उसे जन सामान्य अच्छा नही समझता था। छठे अङ्क मे ही जब राजा मातलि का स्वागत करता है तो विदूषक कहता है— 'अहं जेण इट्ठिपसुमार मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि' अर्थात् जिसने मुझे यज्ञिय पशु की मार मारा है, उसका यह स्वागत के द्वारा अभिनन्दन कर रहे है।

जहाँ अहिसा और प्रेम होता है, वहाँ विश्वास की भावना प्रबल होती है। छठे अङ्क मे चित्रकारी के नैपुण्य की पराकाष्ठा को प्राप्त एक कृति बनाना चाहता है—

कार्यासैकतलीन हसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो. पावना:॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यध।
श्रृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूमाना मृगीम्॥—६।१७

जिसके रेतीले किनारे पर हसो के जोड़े बैठे हुए हैं, ऐसी मालिनी नदी बनानी है, उसके दोनो ओर जिन पर हिरण बैठे हुए है ऐसे हिमालय की पवित्र पहाड़ियाँ बनानी है जिनकी शाखाओ पर वल्कल लटके हुए है, ऐसे वृक्ष के नीचे कृष्ण मृग के सीग पर अपनी बाई आँख खुजाती हुई मृगी को बनाना चाहता हू।

हसमिथुन प्रेम का प्रतीक है। प्रेम की अवतारणा कृष्णमृग और मृगी मे हुई है। मृगी को मृग पर इतना अगाध विश्वास और प्रेम है कि वह उस के सीग पर अपनी बाई आंख खुजला रही है।

इस प्रकार सारी प्राकृतिक सृष्टि के प्रति सवेदनशील महाकवि कालिदास ने अपने सुकुमार भावों की व्यजना में अहिसा को पर्याप्त स्थान दिया है।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

नियमसार की ५३वीं गाथा की व्याख्या और अर्थ में भूल

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी

आचार्य कुन्दकुन्द का नियमसार जैन परम्परा मे उसी प्रकार विश्रुत और प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ है जिस प्रकार उनका समयसार है। दोनो ग्रन्थो का पठन-पाठन और स्वाध्याय सर्वाधिक है। ये दोनो ग्रन्थ मूलत: आध्यात्मिक है। हाँ, समयसार जहाँ पूर्णतया आध्यात्मिक है वहाँ नियमसार आध्यात्मिक के साथ तत्त्वज्ञान प्ररूपक भी है।

समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय इन तीन पर आचार्य अमृतचन्द्र की सस्कृत-टीकाएँ है, जो बहुत ही दुरूह एव दुरवगाह है। किन्तु तत्त्वस्पर्शी और मूलकार आचार्य कुन्दकुन्द के अभिप्राय को पूर्णतया अभिव्यक्त करने वाली तथा विद्वज्जनानन्दिनी है। नियमसार पर उनकी सस्कृत टीका नही है, जब कि उस पर भी उनकी सस्कृत-टीका होना चाहिए, यह विचारणीय है।

नियमसार पर पद्मप्रभमलधारि देव की सस्कृत-व्याख्या है, जिसमे उन्होने उसकी गाथाओ की सस्कृत गद्य व्याख्या तो दी ही है। साथ मे अपने और दूसरे ग्रन्थकारो के प्रचुर सस्कृत-पद्यो को भी इसमे दिया है। उनकी यह व्याख्या अमृतचन्द्र जैसी गहन तो नही है, किन्तु अभिप्रेत के समर्थन मे उपयुक्त है ही।

किसी प्रसग से हम नियमसार की ५३वी गाथा और उसकी व्याख्या देख रहे थे। जब हमारी दृष्टि नियमसार की ५३वी गाथा और उसकी व्याख्या पर गयी, तो हमे प्रतीत हुआ कि उक्त गाथा की व्याख्या करने मे उन्होंने बहुत बड़ी सैद्धान्तिक भूल की है। श्री कानजी स्वामी भी उनकी इस भूल को नही जान पाये और व्याख्या के अनुसार उन्होने उक्त गाथा के प्रवचन किये। सोनगढ़ और अब जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म मे दिये स्वामी जी के उन प्रवचनों को भी उसी भूल के साथ प्रकट किया गया है। सम्पादक डॉ० हुकुमचन्द जी भारिल्ल ने भी उसका सशोधन नही किया। आश्चर्य यह है कि सोनगढ़ से प्रकाशित नियमसार व उसकी सस्कृत-व्याख्या का हिन्दी अनुवाद भी अनुवादक श्री मगनलाल जैन ने वैसा ही भूलभरा किया है।

यहाँ हम उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते है, जिससे उक्त भूल सुधारी जा सके और उस भूल की गलत परम्परा आगे न चले। नियमसार की वह ५३वी गाथा और टीकाकार पद्मप्रभमल धारिदेव द्वारा प्रस्तुत उसकी टीका निम्न प्रकार है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतर हेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

'अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारण वीतराग-सर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनपदार्थ-समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षव: तेऽप्युपचारत: निर्णयहेतुत्वात् अन्तरङ्गहेतव इत्युक्ता दर्शनमोहनीयकर्मक्षय-प्रभृते: सकाशादिति।'

—टीका पृ० १०६, सोनगढ स०

गाथा और उसकी इस सस्कृत-व्याख्या का हिन्दी अनुवाद, जो प० हिम्मतलाल जेठालाल शाह के गुजराती अनुवाद का अक्षरश रूपान्तर है, श्री मगनलाल जैन ने इस प्रकार दिया है—

'सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है जिन सूत्र के जानने वाले पुरुषों को (सम्यक्त्व के) अन्तरग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शन मोह के क्षयादिक है।' (गाथार्थ)। इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्यसहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञ के मुख कमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन मे समर्थ द्रव्यश्रुत रूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु है उन्हें भी उपचार से पदार्थ निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व परिणाम के) अन्तरंग हेतु कहेहैं, क्योंकि उन्हें दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयादिक है।'

इस गाथा (५३) के गुजराती पद्यानुवाद का हिन्दी

पद्यानुवाद श्री मगनलाल जैन ने दिया है, जो निम्न प्रकार है—

जिन सूत्र समकित हेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अन्तर्हेतु जिसके दर्शमोहक्षयादि हो ॥५३॥

श्रीकान जी स्वामी ने भी गाथा और टीका का ऐसा ही प्रवचन किया है, जो आत्मधर्म मे भी प्रकाशित है।

किन्तु टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा की गयी उक्त (५३वीं) गाथा की संस्कृत-टीका, दोनो (गाथा और सस्कृत-टीका) का हिन्दी अनुवाद और जिस गुजराती अनुवाद पर से वह किया गया है वह तथा स्वामी जी के उन (गाथा और सस्कृत-टीका) दोनो पर किये गये प्रवचन न मूलकार आचार्य कुन्दकुन्द के आशयानुसार है और न सिद्धान्त के अनुकूल है।

यथार्थ मे इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन के बाह्य और अन्तरग दो निमित्त कारणो का प्रतिपादन किया है। उन्होने कहा है कि सम्यक्त्व का निमित्त (बाह्य) जिनसूत्र और जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष है तथा अन्तरग हेतु (अभ्यन्तर निमित्त) दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है। यहाँ **'पहुदी—प्रभृति'** शब्द प्रथमा विभक्ति के बहु-वचन—**'प्रभृतयः'** का रूप है। पचमी विभस्ति—**'प्रभृतेः'** का रूप नही है, जैसा कि सस्कृत-व्यख्याकार पद्मप्रभमल-धारिदेव और उनके अनुसर्त्ताओ (श्री कानजी स्वामी, गुजराती अनुवादक प० हिम्मतलाल जेठालालशाह तथा हिन्दी अनुवादक श्री मगनलाल आदि) ने समझा है। 'प्रभृति' शब्द से आचार्य कुन्दकुन्द को दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम और उपशम का ग्रहण अभिप्रेत है, क्योकि वह दर्शन मोहनीय के क्षय के साथ है, जो कण्ठत उक्त है। और इस प्रकार क्षायिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक इन तीनो सम्यक्त्वो का अन्तरग निमित्त क्रमश दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। अतएव 'पहुदी' शब्द प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त है, पचमी विभक्ति का नहीं।

सिद्धान्त भी यही है। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१-७ में तत्वार्थ सूत्र के 'निर्देश स्वामित्व साधन…' आदि सूत्र (१-७) की व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शन के बाह्य और अभ्यन्तर दो साधन बतला कर बाह्य साधन तो चारों गतियो मे विभिन्न प्रतिपादन किये है। परन्तु अभ्यन्तर साधन सभी गतियों मे दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम बतलाया है। यथा—

'साधन द्विविध अभ्यन्तर बाह्य च। अभ्यन्तर वर्शन-मोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा। बाह्य नारकाणां प्राक्चतुर्थ्या सम्यग्दर्शनस्य साधन केषाञ्चिज्जातिस्मरण केषाञ्चिद्धर्मश्रवण केषाञ्चिद्वेदनाभिभव। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरण वेदनाभिभवश्च। तिरश्चा केषाञ्चिज्जातिस्मरण केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषा-ञ्चिज्जिनविम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव।…'

—स० सि० पृ० २६१

आचार्य अकलकदेव ने भी तत्त्वार्थवार्त्तिक (१-७) मे लिखा है कि **दर्शनमोहोपशमादिसाधनम्, बाह्य चोपदे-देशादि, स्वात्मा वा।**'—अर्थात् सम्यक्त्व का अभ्यन्तर साधन दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है तथा बाह्य साधन उपदेशादि है और उपादानकारण स्वात्मा है।

इन दो आचार्यो के निरूपणो से प्रकट है कि सम्यक्त्व का अभ्यन्तर (अन्तरग) निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुष सम्यक्त्व के अभ्यन्तर निमित्त (हेतु) नही है। **वास्तव में जिन सूत्र ज्ञाता पुरुष जिन सूत्र की तरह एकदम पर (भिन्न) है। वे अन्तरंग हेतु उपचार से भी कदापि नहीं हो सकते।** क्षायिक सम्यग्दर्शन को केवली या श्रुतकेवली के पाद-सान्निध्य मे होने का जो सिद्धान्त शास्त्र मे कथन है उसी को लक्ष्य मे रख कर गाथा मे जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुषों (श्रुतकेवलियों) को सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त कारण कहा गया है। उन्हे अन्तरग कारण कहना या बतलाना सिद्धान्त-विरुद्ध है। उनमें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिका सम्बन्ध जोड़ना भी गलत है। वस्तुतः सम्यक्त्व के उन्मुख जीव मे ही दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना जरूरी है; अतएव वह उसके सम्यक्त्व का अन्तरंग हेतु है और जिन सूत्र श्रवण या उसके ज्ञाता पुरुषों का सान्निध्य बाह्य निमित्त है।

कुन्दकुन्द भारती के सकलयिता एवं सम्पादक डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी नियमसार की उक्त

(५३वीं) गाथा का वही अर्थ किया है, जो हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। उन्होने लिखा है कि 'सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय आदि कहा गया है।' इसका भावार्थ भी उन्होने दिया है। वह भी दृष्टव्य है। उसमे लिखा है कि 'निमित्तकारण के दो भेद है—१. बहिरंगनिमित्त और २. अन्तरगनिमित्त। साम्यक्त्व की उत्पत्तिका बहिरंगनिमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष है तथा अन्तरगनिमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियो का उपशम, क्षय और क्षयोपशम का होना है। बहिरग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती भी है और नही भी होती, परन्तु अन्तरङ्ग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि नियम से होती है ॥५३॥', पृ० २०८।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि नियमसार के संस्कृत-टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने उल्लिखित गाथा की व्याख्या में जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुषो को सम्यक्त्व का उपचार से अन्तरग हेतु वतला कर तथा उनसे दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक का सम्बन्ध जोड कर महान् सैद्धान्तिक भूल की है। उसी भूल का अनुसरण सोनगढ़ ने किया है। पता नही इस भूल की परम्परा कब तक चलेगी! लगता है कि श्री कान जी स्वामी ने पद्मप्रभमलधारिदेव की इस गाथा (५३) की सस्कृत-व्याख्या पर ध्यान नही दिया। इसी से उनकी व्याख्या के अनुसार गाथा और व्याख्या के उन्होने गलत प्रवचन किये तथा गुजराती और हिन्दी अनुवादको ने भी उनका अनुवाद वैसा ही भूलभरा किया।

आशा है इन भूलो का परिमार्जन किया जायेगा तथा गलत परम्परा पर चलने से बचा जावेगा।

□□

सम्बोधन

अनादि-निधन धर्म की सीमितकालीन प्राचीनता सिद्ध करने में कौन-सा सार है? बहुत हो चुका पाषाण और शिलाखण्डों का अन्वेषण। अब ऐसे व्यावहारिक शोध-प्रबंध एवं लेखादि का लेखन भी पिष्ट-पेषण हो होगा—इनका भी प्रभूत भण्डार हो चुका है।

अब तो जैन भूगोल पर शोध की आवश्यकता है आध्यात्मिक और व्यावहारिक विषयों को अन्तरंग में उतारने की आवश्यकता है—जिनकी ओर से लोग आँख मूंद रहे है और वे भक्ष्याभक्ष्य, आचार, व्यवहार तथा देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से विमुख होकर पतन के कगार पर खड़े है। आज तो लोग धार्मिक सभा-सोसायटियों तक में मारपीट पर उतारू होते देखे जाते हैं—उनके सुधार पर थीसिस होने चाहिए।

धर्माचार बिना मनुष्य, पशुतुल्य है। धर्माचार अन्तरंग शुद्धि के लिए अभ्यास है। इसलिए धर्माचार की प्रेरणा के लिए—मद्य, माँस, मधु, अण्डा आदि तथा रात्रि भोजन और अनछने जल से हानियाँ दर्शाने वाले व हिंसादि पापों, सप्त व्यसनों आदि से विरक्ति दिलाने वाले विषयों पर वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक, आकर्षक शोध-प्रबंधों की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।

गतांक से आगे—

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक-चित्रण

□ डा० राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग, आरा

स्वयंवर प्रथा :

सुलोचना का स्वयंवर रचाया जाता है जिसमे देश-देश के राजकुमार आशाओं के तान-वितान बिनते हुए स्वयंवर मण्डप में आते है। जब राजकुमारी अपने अमात्य के साथ मण्डप मे आती है तब उसके अप्रतिम सौन्दर्य को देख कर सभी राजा आशा एवं निराश के समुद्र मे डूबने उतराने लगते है। प्रस्तोता द्वारा परिचय प्राप्त करती हुई सुलोचना अन्त में सेनापति मेघेश्वर के गले मे वरमाला डाल देती है।[1] स्वयम्बर का यह वर्णन कालिदास के इन्दुमति-स्वयंवर से पूर्णतया प्रभावित है ?

समस्या-पूर्ति-परम्परा :

अपभ्रंश-साहित्य में समस्या-पूर्ति के रूप मे कुछ गाथाए उपलब्ध होती है इनके प्रयोग राज दरबारो या सामान्य-कक्षो में होते थे। इनका रूप प्राय. वही था जो आजकल के 'इण्टरव्यू' का है। व्यक्ति के बाह्य-परीक्षण के तो अनेक माध्यम थे, किन्तु चतुराई, प्रतिमा, आशुकवित्व प्रश्न के तत्काल उत्तर-स्वरूप आशुप्रतिमा आदि के परीक्षणार्थ समस्यापूर्ति के पद्यो से व्यक्ति के स्वभाव, विचारधारा उसकी कुलीनता एवं वातावरण का भी सहज अनुमान हो जाता था।

'सिरिवाल चरिउ' मे एक प्रसंग आया[2] है जिसके अनुसार कोंकणणापट्टन नरेश यशराशि को १६०० राजकुमारियों में से ८ हठीली एवं गर्वीली राजकुमारियो ने प्रतिज्ञा की थी कि वे ऐसे व्यक्ति के साथ अपना विवाह करेंगी जो उनकी समस्याओं की पूर्ति गाथा छन्द में करेगा। उनकी यह भी शर्त थी कि जो भी प्रतियोगी उनके उत्तर नही दे सकेगा, उसे शूली पर चढा दिया जायगा फलस्वरूप हीनबुद्धि व्यक्तियों ने तो उसमें भाग लेने का साहस ही न किया और जो भी प्रतियोगी अपनी हेठी बाधकर भाग लेने आए उन्हे हार कर शूली पर झूलना पडा। श्रीपाल ने जब यह सुना तो वह भी अपना भाग्य अजमाने चल पडता है। राज-दरबार मे सर्वप्रथम राजकुमारी सुवर्ण देबी उससे निम्न समस्या की पूर्ति के लिये कहती है—

१. समस्या—गउ पेक्खतहु सव्वु

पूर्ति—जोव्वण विज्जा रायहं किज्जह किंपि ण गव्वु।
जम रुट्टइ णट्ठि एहु जगु गउ पेक्खतहु सव्वु॥

अर्थात् यौवन, विद्या, एव सम्पति पर कभी भी गर्व नही करना चाहिए क्योकि इस ससार मे जब यमराज रूठ जाता है तब 'सब कुछ देखते ही देखते चला' जाता है।

२. समस्या—ते पचाणणसीह।

पूर्ति—रज्जु-मोउ-महि-घरिणि-धरु भव-भमणहु नणिवीह।
जे छडेवि बरतउ करहि ते पचाणिण सीह॥

अर्थात् राज्यभोग, पृथ्वी, गृहिणी एव भवन इन्हे भव-भ्रमण का कारण जान कर जो व्यक्ति उनका त्याग कर देते है तथा श्रेष्ठ तप का आचरण करते है 'उनकी आत्मा पचाग्नि-शिखा के समान निर्मल हो जाती है।'

३. समस्या—तहु कच्चरु सुमिट्ठ।

पूर्ति—जेहिं ण लद्धउ अप्पगुणु तह विसयहं सुहइट्ठु।
जेहि ण मक्खिउ केलिफलु तहु कच्चरु सुमिट्ठ॥

अर्थात् जिसने आत्मगुण नही किया, वह विषय-वासना के सुखो को ही सुख मानता है। जिसने कभी भी केला नही खाया हो उसे 'कचरा भी मीठा लगता है।

४. समस्या—कासु पियावउ खीरु।

पूर्ति—पज्जणु वि छट्ठी निसिहिं हरिणियउ जा वीरु।
ता रुप्पिणि सहियहं मणइ कासु पियावउ खीरु॥

---

१. मेहेसर चरिउ—४।१०।

२. सिरिवालचरिउ—८।६।१-८।

अर्थात् अपनी छट्ठी की रात्रि में ही एक विद्याधर द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया गया। इसीलिए रुक्मिणी अपनी सखियों से कहती है कि मैं 'अपना स्तनपान किसे कराऊँ ?'

५. समस्या—काइं विटत्तउ तेण

पूर्ति—धरहु तेणजि पवरघणु दाणु न दिण्णउ तेन।
लोह मरि नरयहं गयउ काइं विटत्तउ तेण ॥

अर्थात् प्रचुर धनार्जन करके घर तो भर लिया किन्तु दान नहीं दिया और लोभ के कारण नरक मे जा पडा। तब 'ऐसे धनार्जन से लाभ ही क्या ?

६ समस्या—पुण्णं लब्भइ एहु ॥

पूर्ति—विज्जा-जोव्वण-रूव-धणु-परियणु कय णेहु।
बल्लहजण मेलावउ पुण्णें लब्भइ एहु ॥

अर्थात् ससार मे विद्या यौवन, सौन्दर्य, धन, भवन, परिजनो का स्नेह एवं प्रियजनो का सयोग पुण्य से ही प्राप्त होता है।

उक्त समस्यापूर्तियो मे पौराणिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एव लौकिक सभी प्रकार के प्रसग आए है। श्रीपाल अपने शिक्षा काल मे गुरु चरणो मे बैठ कर सभी विद्याओं मे पारंगत हो चुका था अत राजदरबार के इस साक्षात्कार मे वह उत्तीर्ण हो गया और उन हठीली एव गर्वीली राजकुमारियो को जीत लिया।

जामाताओं का ससुराल में निवास :

जामाताओ के लिये ससुराल का मुख्य सर्वाधिक सन्तुष्टि का कारण होता है क्योंकि वहा साले-सालियो के साथ प्रेमालाप, मधुर मिष्ठान, एव सभी प्रकार के सम्मान सहज ही उपलब्ध रहते हैं। अत अपभ्रंश काव्यो मे अनेक जामाता विवाहोपरान्त कुछ समय के लिये ससुराल मे रहते हुए देखे जाते है। श्रीपाल भी अपनी ससुराल मे जब कुछ दिन रह लेता है तब एक दिन अर्धरात्रि के समय उसकी नीद खुल जाती है और विचार करने लगता है कि मैं ससुराल मे पड़ा हुआ हूँ। यहा लोग मुझे 'राज जवाई' कहते हैं। न तो मेरा कोई नाम एव शौर्य-पराक्रम ही जानता है और न मेरे पराक्रमी पिता तथा उनके साम्राज्य के विषय में ही किसी को कोई जानकारी है। यह तो मेरा बड़ा भारी अपमान है। अतः अब तत्काल यहां से चल देना चाहिए।[1] यह विचार कर वह अगले दिन ही सबसे आज्ञा लेकर चल देता है।

बेटी की विदा :

विवाह के बाद बेटी की विदा माता-पिता के जीवन की सर्वाधिक मार्मिक एवं करुण घटना है। भारतीय समाज मे बेटी का जन्म प्रारम्भ से ही उसके माता-पिता के लिये एक बडी भारी धरोहर के रूप मे माना जाता रहा है। एक और तो उन्हे सुयोग्य विवाह-सम्बन्ध के हो जाने तथा पुत्री के स्वर्णिम भविष्य की कल्पना से आल्हाद उत्पन्न होता था, तो दूसरी ओर विवाहोपरान्त विदा करते समय उसके विछोह का असहनीय दुःख भी होता है। किन्तु यह एक ऐसा सामाजिक नियम है कि जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। अपभ्रंश-कवियो ने इस प्रसग को बडा ही करुणाजनक बताया है। मेहेसर चरिउ के एक प्रसंग में अपनी बेटी की विदा के समय राजा अकम्पन का सारा परिवार एव नगर शौकाकुल हो जाता है। पिता उसे अवरुद्ध कण्ठ से शिक्षाए देता हुआ कहता है—"हे पुत्रि, अपना शील उज्ज्वल रखना, पति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करना। कड़ुए एव कठोर वचन मत बोलना, सास ससुर को ही अपना माता-पिता मान कर विनय करना, गुरुजनो को प्रत्युत्तर मत देना, सभी से हसी-मजाक मत करना। घर मे सभी को सुला कर सोना एव सबसे पहले जाग उठना। बिना परीक्षण किए कोई भी कार्य मत करना। ऐसा भी कोई कार्य मत करना, जिससे मुझे अपयश का भागी होना पडे।"

फिर वह अपने जामाता से कहता है—"हमारे ऊपर स्नेहकृपा बनाये रखना तथा समय-समय पर आते-जाते बने रहना। अपनी बेटी सुलोचना तुम्हारे हाथों में सौप दी हैं अत अब उसका निर्वाह करना। राजा उनके आगे भी कुछ कहना चाहता था, किन्तु उसका गला रुध गया, वाणी मूक हो गई और आसुओ के पनारे बहने लगे, फलस्वरूप वह बेचारा आगे कुछ भी न कह सका।[2]

परिवार में पुत्र का महत्व :

भारतीय सामाजिक-परिवार मे पुत्र का स्थान पूर्ण

१. सिरिवाल चरिउ—५।१।

२. मेहेसर चरिउ—७।८-९।

उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि नवीन पीढ़ी का वह कर्णधार होता है। आचार-संहिता के अनुसार पिता को दीक्षा लेने का अधिकार उस समय तक नही रहता जब तक कि उसे पुत्र प्राप्ति न हो जाय। 'सुक्कोमल चरिउ में बताया गया है कि अयोध्या को राजा कीर्तिधवल जिस समय ससार से उदास होकर सन्यास लेने का विचार करता है तभी उसका सुबुद्ध मन्त्री उसे सविधान का स्मरण दिलाता है तथा कहता है कि राजन् यह आपके कुल की परम्परा रही है कि जब तक उत्तराधिकारी पुत्र का जन्म न हो जाय तब तक किसी ने सन्यास नही लिया।''[1]

अपभ्रंश काव्यों मे पुत्र-महिमा का गान कई स्थलो पर किया गया है। 'मेहेसर चरिउ में एक प्रसग मे कहा गया है कि—"पुत्र अपने कुलरूपी मन्दिर का दीपक है, वह अपने परिवार का जीवन है, कुल की प्रगति का द्योतक है, परिजनों की आशा-अभिलाषाओं की साकार प्रतिमा है, कुल के भरण-पोषण के लिये वह कल्पवृक्ष के समान है और वृद्धावस्था में वह माता-पिता को हर प्रकार के सकटों से बचाने वाला है।"[2]

'सुकौसल चरिउ' में एक अद्भुत उदाहरण भी मिलता है। जब राजा सुकौशल संसार से उदास होकर संन्यास लेने का विचार करता है तब पुत्रजन्म के अभाव मे उसको सम्मुख भी राज्य छोड़ने सम्बन्धी बाधा उपस्थित हुई। संयोग से उसकी तीस रानियों में से चित्रमाला नाम की एक रानी, गर्भवती थी अतः वह उसके गर्भस्थ बच्चे को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर तथा उसे नृपपट्ट बांध कर स्वय वनवास धारण कर लेता है।[3]

समाज में कवियों को आश्रयदान :

अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण का अधिकाश श्रेय-श्रेष्ठियों, राजाओं अथवा सामन्तो को है। मध्यकालीन श्रेष्ठि वर्ग एव सामन्त गणराज्य के आर्थिक एव राजनीतिक विकास के मूल कारण होने के कारण राज्य में सम्मानित एवं प्रभावशाली स्थान बनाये हुए थे। समय-समय पर इन्होने साहित्यकारो को प्रेरणाए एव आश्रयदान देकर साहित्य की बड़ी सेवाएं की हैं।

इन आश्रयदाताओं की अभिरुचि बड़ी सात्विक एवं परिष्कृत रूप में पाई जाती है। भौतिक समृद्धियों एवं भोग-विलास के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण मे रह कर भी वे धर्म, समाज, राष्ट्र साहित्य एव साहित्यकारों के प्रति अपने दायित्व को विस्मृत नही करते। महामात्य भरत, उनके पुत्र नन्न एव कमल सिंह सघवी प्रभृति आश्रयदाता इसी कोटि मे आते है।

णायकुमार चरिउ एव जहसर चरिउ तथा तिसट्ठि-पुरिसगुणालकारु जैसे शिरोमणि काव्यो के प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त 'अभिमानमेरु' अभिमानचिह्न काव्यपिशाच जैसे गर्वीले विशेषणो से विभूषित थे। उनकी ज्ञान-गरिमा को देखते हुए सचमुच ही वे विशेषण सार्थक प्रतीत होते है। उनका साहित्यिक अभिमान एव स्वाभिमान विश्व-वाङ्मय के इतिहास मे अनुपम है। किसी के द्वारा अपमान किये जाने पर उस वाग्विभूति ने तत्काल ही अपना राजसी-निवास त्याग दिया और वन मे डेरा डाल दिया। वहाँ अम्मइ और इन्द्र नामक पुरुषो द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा था—"गिरिकन्दराओ मे घास खाकर रह जाना अच्छा, किन्तु दुर्जनों की टेढ़ीमेढ़ी भौहे सहना अच्छा नही। माता की कोख से जन्मते ही मर जाना अच्छा, किन्तु किसी राजा के भ्रूकुचित नेत्र देखना और उसके कुबचन सुनना अच्छा नही, क्योकि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चवरो की हवा से सारे गुणो को उडा देती है, अभिषेक के जल से सारे गुणों को धो डालती है, विवेकहीन बना देती है और दर्प से फूली रहती है। इसीलिये मैने इस वन मे शरण ली है।"[4]

राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज (तृतीय) के महामन्त्री भरत कवि के ज्वालामग्री स्वभाव को जानता था और फिर भी वह उन्हे मान कर अपने घर ले आया और सभी प्रकार का सम्मान एव आश्वासन देकर साहित्य-रचना की ओर उन्हें प्रेरित किया। तिसट्ठिमहापुरिस गुणालकारु' के प्रथम भाग की समाप्ति क बाद कवि पुनः खेद खिन्न हो गया तब भरत ने पुनः कवि से निवेदन किया—हे महाकवि, आप खेद खिन्न क्यो है? क्या काव्य-रचना मे मन नहीं लगता? अथवा मुझसे कोई अपराध बन पड़ा है? या क्या

१. सुकोसल०—३।१८।
२. मेहेसरचरिउ—२।८।१-३।
३. सुकोसल०—४।७।
४. महापुराण—१।३।४-१५।

है फिर आप सिद्ध वाणी रूपी धेनु का नवरसक्षीर क्यो नही करते ?[1] भरत के इस मृदुशील भाषण एवं विनयशील स्वभाव के द्वारा फक्कड एव अक्खड महाकवि बड़ा प्रभावित हुआ और बडी ही आत्मीयता के साथ भरत से बोला—"मैं धन को तिनके के समान गिनता हूं, मैं उसे नही लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हू और इसी से तुम्हारे राजमहल मे रुका हू।[2] इतना ही नही, कवि ने पुन उसके विषय मे लिखा है—"भरतस्वय सन्तजनो की तरह सात्विक जीवन व्यतीत करता है, वह विद्या-व्यसनी है उसका निवास स्थान सगीत, काव्य एव गोष्ठियों का केन्द्र बन गया है। उसके यहा लिपिक ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ किया करते है। उसमें लक्ष्मी एव सरस्वती का अपूर्ण समन्वय है।"[3]

कमल सिंह संघवी गोपाचल के तोमरवशी राजा डूगरसिंह का महामात्य था। उसकी इच्छा थी कि वह प्रतिदिन किसी नवीन काव्य-ग्रन्थ का स्वाध्याय किया करे। अत: वह राज्य के महाकवि रइधू से निवेदन करता है कि हे सरस्वती-निलय, शयनासन, हाथी, घोडे, ध्वजा, छत्र चवर, सुन्दर रानिया, रथ, सेना, सोना चांदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर. ग्राम, बन्धु-बान्धव, सन्तान, पुत्र भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध है सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नही है, किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव सदा खटकता रहता है और वह यह, कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दरमणि नही है। उसके बिना मेरा सारा वैभव फीका-फीका लगता है। अत. हे काव्यरत्नाकर, आप तो मेरे स्नेही बालमित्र है. अत: अपने हृदय की गाठ खोल कर आपसे सच-सच कहता हूं, आप कृपा कर मेरे निमित्त से एक काव्य रचना कर मुझे अनुगृहीत कीजिए।"[4]

कवियों का सार्वजनिक सम्मान :

अपभ्रंश-काव्य-प्रशस्तियों मे विद्वान्-कवियो के सार्वजनिक सम्मानों की भी कुछ घटनाएं उपलब्ध होती है। इनसे सामाजिक अभिरुचियो का पता चलता है। 'सम्मत-गुणणिहाण कव्व से विदित होता है कि महाकवि रइधू ने जब अपने उक्त काव्य की रचना समाप्त की और अपने आश्रयदाता कमल सिंह सघवी को समर्पित किया तब कमल सिंह इतने आत्मविभोर हो उठे कि उसे लेकर वे नाचने लगे। इतना ही नही, उन्होंने उक्त कृति एव कृतिकार दोनों को ही राज्य के सर्वश्रेष्ठ शुभ्रवर्ण वाले हाथी पर विराजमान कर गाजे-बाजे के साथ सवारी निकाली और उनका सार्वजनिक सम्मान किया था।[5]

इसी प्रकार एक अन्य घटना प्रसंग से विदित होता है कि 'पुण्णसवकहा' नामक एक अपभ्रंश कृति की परिसमाप्ति पर साहू साधारण को जब धीरदास नामक द्वितीय पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई तब बड़ी प्रसन्नता के साथ साधारण साहू ने महाकवि रइधू एव उनकी कृति 'पुण्णासवकहा' को चौहानवशी नरेश प्रतापरुद्र के राज्यकाल मे चन्द्रवाडपट्टन मे हाथी की सवारी देकर सम्मानित किया था।[6]

व्यक्तियों के नाम रखने की मनोरंजक घटना :

अपभ्रंश काव्य-प्रशस्तियो मे व्यक्तियों के नाम रखने सम्बन्धी कुछ मनोरजक उदाहरण मिलते हैं। मेहेसर चरिउ नामक एक अप्रकाशित चरितकाव्य के प्रेरक एवं आश्रयदाता साहू णेमदास के परिचय-प्रसग मे कहा गया है कि उसके पुत्र ऋषिराम को उस समय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई है जबकि वह पचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय जिन-प्रतिमा पर तिलक निकाल रहा था। इसी उपलक्ष्य में उस नवजात शिशु का नाम तिलकू अथवा तिलकचन्द्र रख दिया गया।[7]

राजनैतिक तथ्य :

अपभ्रंश-काव्यो के राजनैतिक अवस्था के जो भी चित्रण हुए है वे सभी राजतन्त्रीय है। कवियो ने सहताग राज्य[8] एव पचाग मन्त्रियो[9] के उल्लेख किये हैं। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग. राष्ट्र, खनि सेतु, वन, व्रज एव व्यापार

१. महापुराण—३८।३।६-१०।
. महाकवि पुष्पदन्त पृष्ठ ८१।
३. उपरोक्त—पृष्ठ ८१।
४. सम्मत्तगुण० १।१४।
५. सम्मत्तगुण० ६।३४।
६. पुण्णासव० १३।१२।२।
७. उपरिवत्—१३।११।१३-१४।
८. विशेष के लिये दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४८६-९२।
९. उपरिवत्।

'सप्तांग राज्य' कहलाता है। एवं कार्यारम्भ का उपाय, पुरुष तथा द्रव्य-सम्पत्ति, देश-काल का विभाव, विघ्न-प्रतिकार एवं कार्यसिद्धि रूप पंचाग मन्त्री का होना बताया है कवियो ने इनके विश्लेषण प्रस्तुत नही किये हैं।

दूत :

अपभ्रंश-साहित्य मे दूतो के उल्लेख अधिक आए है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस युग मे युद्धो की भरमार थी और युद्ध के पूर्व दूतो के माध्यम से समस्या सुलझाने का प्रयास किया जाता था। दूतो की असफलता युद्धो के आह्वान की भूमिका बनती थी।

अध्ययन से विदित होता है कि इन कवियो ने प्राय शासनहर नामक दूत के ही अधिक उल्लेख किये है। वह घोडे आदि वाहनो पर सवार होकर शत्रु राज्य की ओर प्रस्थान करता था। उसमे प्रत्युत्पन्नमतित्व का होना अत्यावश्यक था। वह शत्रु देश के वनरक्षक, नगर निवासियो से मित्रता रखता था। शत्रु राजा के दुर्ग राज्यसीमा, आयु और राष्ट्ररक्षा के उपायो से वह सम्यग्रूपेण परिचित रहता था।[1]

राज्य का उत्तराधिकारी :

राज्य के उत्तराधिकारी के निर्वाचन के सम्बन्ध मे स्पष्ट सिद्धान्त नही मिलते। राजतन्त्रीय व्यवस्था मे राजा का बड़ा पुत्र ही राजा का उत्तराधिकारी समझा जाता था। सर्वदा पट्टरानी का पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। वयस्क पुत्र के अभाव मे शिशु अथवा गर्भस्थ बालक को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाता था और उसके योग्य होने तक उसकी माता प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती थी।[2]

शासन :

राजतन्त्रीय व्यवस्था होने पर भी अमरकंकापुरी के राजा पद्मनाथ के भ्रष्ट-आचरण निकल जाने पर प्रजा द्वारा राज्यच्युत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[3] शासन का कार्य यद्यपि राजा ही करता था, किन्तु कभी-कभी उसे जनता की भावना का भी ध्यान रखना पड़ता। भविसयत्तकहा के एक प्रसगानुसार राजा भूपाल जब बन्धुदत्त एव उसके पिता धनपति को कारागार मे डाल देता है तब दूत उसे आकर समाचार देता है—घर-घर मे कार्य बन्द हो गया है, नर-नारी रुदन कर रहे हैं। बाजार मे लेन-देन ठप्प है तथा आपकी मुद्रा का प्रचलन भी बन्द है? अन्त मे राजा को उसे छोड़ना पड़ता है।[4]

व्रत-त्यौहार :

व्रत-त्यौहार मानवजीवन की भौतिक एव आध्यात्मिक समृद्धि के प्रतीक है। जीवन को एक रस जन्य विराग एव निराशा से दूर रखने के लिये इनकी महती आवश्यकता है। अपभ्रंश-साहित्य मे इनके पर्याप्त उल्लेख मिलते है। ऐसे व्रत त्यौहारो मे करवा चौथ, नागपचमी, गौरीतीज, शीतलाष्टमी, सुगन्ध दशमी, मुक्तावली, निर्दुखसप्तमी, दुग्ध एकादशी आदि व्रतो का नाम उल्लेखनीय है।[5]

इसी प्रकार विशेष अवसरों पर विविध पूजाओं के भी उल्लेख आए है जिनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है—गौरीपूजा, गगापूजा, दूर्वादलपूजा, वटवृक्षपूजा, चन्द्रग्रहण पूजा, छठपूजा, द्वादशीपूजा, नन्दीश्वरपूजा, श्री पचमीपूजा, श्रुतपचमी पूजा आदि।[6] (क्रमश)

---

१. उपरिवत्। पृ० ४६१
२. सुकोसल० ४।७।
३. हरिवंस० १२।४।
४. भविसयत्त पृ० ७०, अपभ्रंश भाषा और साहित्य पृ० २७६ से उद्धृत।
५. अप्पसबोह० २।२५।
६. अप्पसंबोह २।१३।

जैन और यूनानी परमाणुवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

□ डा० लालचन्द जैन

जैन-दर्शन के अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद; अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अध्यात्मवाद और परमाणुवाद मूलभूत सिद्धान्त है। इनमे से कतिपय सिद्धान्तो का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। परमाणुवाद भी इसको अपेक्षा रखता है। परमाणुवाद जैन-दर्शन की भारतीय दर्शन को एक महत्वपूर्ण और अनुपम देन है। विश्व के सामने सर्वप्रथम भारतीय चिन्तको ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। अब प्रश्न यह उठता है कि भारत में सर्वप्रथम किस निकाय के मनीषियों ने परमाणु-सिद्धान्त प्रस्तुत किया ? जैकोवी ने इस पर गहराई से विचार करके इसका श्रेय जैनमनीषियों को दिया है। इसके बाद वैशेषिक दार्शनिक कणाद इस परम्परा मे आते है।[1]

पाश्चात्य देशो मे जो दार्शनिक विचारधारा उपलब्ध है उसका बीजारोपण सर्वप्रथम यूनान (ग्रीस) मे ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे हुआ था। ग्रीक-दर्शन के प्रारम्भिक दार्शनिको को वैज्ञानिक कहना अधिक उपयुक्त समझा गया है। इनमे एम्पेडोक्लीज के समकालीन ईसा से पूर्व पाचवी शताब्दी मे होने वाले 'ल्यूसीयस' और डिमाड्रिप्स का सिद्धान्त परमाणूवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके इस सिद्धान्त की जैनो के परमाणुवाद के साथ तुलना प्रस्तुत की जायेगी ताकि अनेक प्रकार की भ्रातियों और आशकाओ का निराकरण हो सके।

भगवान ऋषभदेव जैन धर्म-दर्शन के प्रवर्तक सिद्ध हो चुके है। जैन-धर्म मे इन्हे तीर्थंकर कहा जाता है। इस प्रकार के तीर्थंकर जैन-धर्म में चौबीस हुए हैं। भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। ऋषभदेव की परम्परा से प्राप्त जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों को ई० पू० ५४० मे भगवान महावीर ने संशोधित-परिमार्जित करके नये रूप में प्रस्तुत किया था। तीर्थंकरों के उपदेश जिस पुस्तक में निबद्ध किये गये वे आगम कहलाते है। आगमों में अन्य सिद्धान्तो की तरह परमाणुवाद अत्यधिक प्राचीन है। जैन वांङ्मय मे परमाणु के स्वरूप भेद आदि का सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है। इस प्रकार विवेचन अन्यत्र अर्थात् भारतीय और पाश्चात्य वांगमय में नही हो सका है।

जैन-दर्शन में परमाणु का स्वरूप-परिभाषाएँ :

परमाणु शब्द 'परम' 'अणु' के मेल से बना है। परमाणु का अर्थ हुआ सबसे उत्कृष्ट सूक्ष्मतम अणु। द्रव्यों मे जिससे छोटा दूसरा द्रव्य नहीं होता है वह अणु कहलाता है अत अणु का अर्थ सूक्ष्म है। अणुओ में जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह परमाणु कहलाता है। बारहवे अंग दृष्टिवाद का दोहन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुडों में परमाणु का सर्वप्रथम विवेचन किया है जिसका अनुकरण अन्य आचार्यों ने किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द :

आचार्य कुन्दकुन्द ने परमाणु की निम्नांकित परिभाषा दी है।

(क) परमाणु पुद्गल द्रव्य कहलाता है।[2]

(ख) पुद्गल द्रव्य का वह सबसे छोटा भाग जिसको पुन विभाजित नही किया जा सकता है परमाणु कहलाता है।[3]

(ग) स्कन्धों (छह प्रकार के स्कन्धों) के अंतिम भेद (अर्थात् अति सूक्ष्म-सूक्ष्म को जो शाश्वत्, शब्दहीन, एक अविभागी और मूर्तिक परमाणु कहलाता है।[4]

(घ) जो आदेशमात्र से (गुणगुणी के संज्ञादि भेदों से) मूर्त्तिक है, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं का कारण है, परिणमन स्वभाव वाला है, स्वयं अशब्द रूप है, नित्य है, न अनवकाशी है, न सावकाशी है, एक प्रदेशी है, स्कन्धों का कर्त्ता है, काल संख्या का भेद करने वाला है,[5] जिसमें एक रूप, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श होते

हैं, शब्द का कारण है स्वयं शब्दरहित है, और स्कन्धों से जो भिन्न द्रव्य है वह परमाणु कहलाता है।[६]

(ङ) जो स्वयं ही आदि है, स्वयं ही अत है, चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा जिसे नही ग्रहण किया जा सकता है और जो अविभागी है, वह परमाणु कहलाता है।[७]

(च) जो पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण है वह कारण परमाणु और जो स्कन्धों के टूटने (अविभाज्य अश) से बनता है, वह कार्य परमाणु कहलाता है।[८]

आचार्य उमास्वामी :

उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में अनेक प्रदेश रहित द्रव्य को अर्थात् जिसके मात्र एक प्रदेश होता है उसे अणु कहा है।[९]

(ख) अणुओ की उत्पत्ति स्कन्धों के टूटने से होती है।[१०]

श्वेताम्बरमत में मान्य उमास्वाति ने अपने भाष्य मे कहा है कि परमाणु आदि मध्य और प्रदेश से रहित होता है।[११]

(घ) भाष्य मे यह भी कहा गया है कि परमाणु कारण ही है, अन्त्य है, (उसके अनन्तर दूसरा कोई भेद नही है)। सूक्ष्म है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणवाला है, कार्यलिंग है अर्थात् परमाणुओ के कार्यों को देखकर उसके अस्तित्व का बोध होता है।[१२]

(ङ) परमाणु अबद्ध है अर्थात् वे परस्पर मे अलग-अलग असंश्लिष्ट अवस्था मे रहते है।[१३]

पूज्यपादाचार्य :

तत्वार्थसूत्र के सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि नामक तत्वार्थसूत्र की टीका से परमाणु की निम्नाकितपरिभाषा दी है—

(क) अणु प्रदेश रहित अर्थात् प्रदेश मात्र होता है।[१४]

क्योंकि अणु के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी वस्तु नही है जो अणु से भी अधिक अल्प परिमाण वाली अर्थात् छोटी हो।[१५] अत. पूज्यपाद ने प्रदेश और अणु को एकार्थक माना है।[१६]

(ख) प्रदेशमात्र मे होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो अयन्ते अर्थात्—शब्दो के द्वारा कहे जाते है वे अणु कहलाते है।[१७]

(ग) अणु अत्यन्त सूक्ष्म है। यही कारण है कि वही आदि है, वही मध्य और वही अन्त है।[१८]

भट्ट अकलंकदेव :

परमाणु के स्वरूप का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम अकलंकदेव ने तत्वार्थवार्तिक मे परमाणु की सत्ता सिद्ध करना आवश्यक समझा है।

(१) परमाणु अप्रदेशी होते हुए भी खर-विषाण की तरह अस्तित्वहीन नही है क्योकि अप्रदेशी कहने का अर्थ प्रदेशो का सर्वथा अभाव नही है अप्रदेशी का अर्थ है कि परमाणु एक प्रदेशी है। जिसके प्रदेश नही होते है उनका अस्तित्व नही होता है। जैसे—खरविषाण। परमाणु के एक प्रदेश होता है इसलिए उसका अस्तित्व है।[१९]

परमाणु की सत्ता सिद्ध करने के लिए दूसरा तर्क यह दिया है कि जिस प्रकार विज्ञान का आदि, मध्य और अन्त नही होता है फिर उसकी सत्ता सभी स्वीकार करते है उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित परमाणु की भी सत्ता है। अत आदि मध्य और अन्त रहित परमाणु की सत्ता न मानना ठीक नही है।[२०]

(३) परमाणु के अस्तित्व सिद्ध करने के लिए तीसरा कारण दिया है कि परमाणु की सत्ता है क्योकि उसका कार्य दिखलाई पडता है। शरीर, इन्द्रिय, महाभूत आदि परमाणु के कार्य है। क्योकि परमाणुओ के सयोग से उनकी स्कन्ध रूप मे रचना हुई है। कार्य बिना कारण के नही होता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। अत कार्यलिंग से कारण के रूप मे परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है।[२१] तत्वार्थधिगम-भाष्य मे भी यह तर्क दिया गया है।

इस प्रकार भट्ट अकलंकदेव ने परमाणु का अस्तित्व सिद्ध किया है। ग्रीक और वैशेषिक-दर्शन में परमाणु की स्वतन्त्र सत्ता नही सिद्ध की गई।

जहां भट्ट अकलंकदेव ने पूज्यपादाचार्य का अनुकरण करते हुए परमाणु के स्वरूप का विवेचनकिया है,[२२] वहीं उन्होने श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे मान्य तत्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य में दिया गया परमाणु के स्वरूप का निराकरण भी किया है जो यहां प्रस्तुत है—

(१) परमाणु कथचित् कारण और कथंचित् कार्य स्वरूप है—

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य मे परमाणु को कारण ही ऐसा कहा गया है। भट्ट अकलंकदेव कहते है कि परमाणु को 'कारणमेव' अर्थात् 'कारण ही है' ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि परमाणु एकान्त रूप कारण ही नही है बल्कि कार्य भी है।[२३] उमास्वामी ने स्वय बतलाया है कि परमाणु स्कन्धों के टूटने से बनते है। अतः परमाणु कथंचित् कारण और कथंचित् कार्य स्वरूप है।

(२) परमाणु नित्य और अनित्य स्वरूप है—

कुछ जैन, वैशेषिक और ग्रीक दार्शनिकों ने परमाणु को एकान्त रूप से नित्य ही माना है। भट्ट अकलंक कहते है कि परमाणु को सर्वथा नित्य मानना ठीक नही है क्योकि स्नेह आदि गुण परमाणु मे विद्यमान रहने के कारण परमाणु अनित्य भी है। ये स्नेह, रस आदि गुण परमाणु मे उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। परमाणु द्रव्य की अपेक्षा नित्य और स्नेह-रूक्ष, रस, गध आदि गुणो के उत्पन्न-विनष्ट होने की अपेक्षा अनित्य भी है।[२४] इसलिए परमाणु को सर्वथा नित्य कहना ठीक नही है। दूसरी बात है कि परमाणु परिणामी होते है। कोई भी पदार्थ अपरिमाणी नही होते है।[२५] इसलिए परमाणु कथचित् अनित्य भी है।

(३) परमाणु सर्वथा अनादि नही है—परमाणु को कुछ दार्शनिक अनादि मानते हैं, अकलंकदेव ने इस कथन का खंडन किया है उनका कहना है कि परमाणु को सर्वथा अनादि मानने से उससे कार्य उत्पन्न नही हो सकेगा। यदि अनादिकालीन परमाणु से सघात आदि कार्यों का होना माना जायगा तो उसका स्वभाव नष्ट हो जायगा। अतः कार्य के अभाव मे वह कारण रूप भी नही हो सकेगा। अत. परमाणु अनादि नही है।[२६] दूसरी बात यह है कि अणु भेद पूर्वक होते है, ऐसा तत्वार्थसूत्र मे कहा गया है।

(४) परमाणु निरवयव है—भट्ट अकलकदेव ने भी परमाणु को निरवयव कहा है क्योकि उसमे एक रस, एक रूप और गंध होती है।[२७] अत. द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा ही अकलंकदेव ने परमाणु को निरवयव बतलाया है।

भट्ट अकलकदेव ने अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर परमाणु का स्वरूप प्रतिपादित किया है। परमाणु से द्वयणुक आदि स्कन्धों की उत्पत्ति होती है इसलिए परमाणु स्यात् कारण है।

परमाणु स्यात् कार्य है क्योकि स्कन्ध के भेदन करने से उत्पन्न होता है और वह स्निग्ध, रूक्ष आदि कार्यभूत गुणों का आधार है।

परमाणु से छोटा कोई भेद नही है इसलिए परमाणु स्यात् अन्त्य है। यद्यपि परमाणु मे प्रदेश भेद नहीं होता है, लेकिन गुण भेद होता है, इसलिए परमाणु स्यात् नान्त्य है।

परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमन करता है इसलिए वह स्यात् सूक्ष्म है।

परमाणु में स्थूल कार्य उत्पन्न करने की योग्यता होती है। अतः परमाणु स्यात् स्थूल है।

परमाणु द्रव्य रूप से नष्ट नही होता है इसलिए वह स्यात् नित्य है।

परमाणु स्यात् अनित्य भी है क्योकि वह बन्ध और भेद रूप पर्याय को प्राप्त होता है और उसके गुणो का विपरिणमन होता है।

अप्रदेशी होने से परमाणु मे एक रस, एक वर्ण और दो अविरोधी रस होते है, अनेक प्रदेशी स्कन्ध रूप परिमणन करने की शक्ति परमाणु मे होती है, इसलिए परमाणु अनेक रसो वाला भी है।

इस प्रकार अकलंकदेव भट्ट ने अनेकान्त प्रक्रिया के द्वारा परमाणु का लक्षण निर्धारित किया है।[२८]

जैन परमाणुवाद की विशेषताएं और ग्रीक एवं वैशेषिक परमाणुवाद से उसकी तुलना :

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जैन-परमाणुवाद की निम्नांकित विशेषताए उपलब्ध होती है—

१. जैन-दर्शन मे परमाणु एक भौतिक द्रव्य माना गया है। भौतिक द्रव्य जैन दर्शन में पुद्गल कहलाता है। इसका मूल स्वभाव सड़ना-गलना और मिलना है। परमाणु भी पिंडो (स्कन्धो) की तरह मिलते और गलते है। भट्ट अकलंकदेव ने परमाणु को पुद्गल द्रव्य सिद्ध करते हुए कहा हैकि गुणो की अपेक्षा परमाणु में पुद्गलपने की सिद्धि होती है। परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होते है, उनमें एक, दो, तीन, चार, सख्येय, असंख्येय और अनन्त गुणरूप हानि-वृद्धि होती रहती है। अतः उनमें भी पूरण-गलन व्यवहार मानने में कोई विरोध नहीं है।[२९]

पुद्गल द्रव्य की दूसरी परिभाषा की जाती है कि पुरुष अर्थात् जीव शरीर, आहार, विषय, इन्द्रिय उपकरण के रूप में निगलते हैं, ग्रहण करते है वे पुद्गल कहलाते है। परमाणुओं को भी जीव स्कन्ध दशा में निगलते है। अत. परमाणु पुद्गल द्रव्य है। देवसेन ने अणु को ही वास्तव मे पुद्गल द्रव्य कहा है।[१०]

जैन-दर्शन की तरह वैशेषिक और ग्रीक दर्शन मे भी परमाणु भौतिक द्रव्य माना गया है।

(२) **परमाणु अविभाज्य है**—जैन-दर्शन मे परमाणु को अविभागी कहा गया है। जैन आचार्यों ने बतलाया है कि पुद्गल द्रव्य का विभाजन करते-करते एक अवस्था ऐसी अवश्य आती है जब उसका विभाजन नही हो सकता है। यह अविभागी अंश परमाणु कहलाता है।

ग्रीक[११] और वैशेपिक दार्शनिको ने भी परमाणु को जैन-दार्शनिको की तरह अविभाज्य माना है।

(३) **परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है**—जैन-दार्शनिको ने बतलाया कि पुद्गल द्रव्य के छह प्रकार के भेदो मे परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इससे सूक्ष्म दूसरा कोई द्रव्य नही है।

अन्य परमाणुवादियो ने भी परमाणु को अत्यन्त सूक्ष्म माना है।[१२]

(४) **परमाणु अप्रत्यक्ष है**—परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होते है। ग्रीक और वैशेषिक दार्शनिक भी जैनों की उपयुँक्त बात से सहमत हैं। लेकिन जैनो ने परमाणु को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष माना है। वैशेषिक दर्शन मे भी परमाणु योगियों द्वारा प्रत्यक्ष माना गया है।[33] ग्रीक दर्शन मे इस प्रकार के प्रत्यक्ष की कल्पना नही दी गई है।

(५) **परमाणु सगुण है**—जैन-दर्शन और वैशेषिक दर्शन में परमाणु सगुण माना गया है, इसके विपरीत ग्रीक-दार्शनिकों ने परमाणु को निर्गुण माना है। जैन दर्शन में परमाणु के बीस गुण माने गये है। परमाणु पुद्गल द्रव्य का अंतिम भाग है, इसलिए इसमें एक रस (अम्ल, मधुर कटु, कषाय और तिक्त मे से कोई एक) एक वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत में से कोई एक) एक गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध में से कोई एक) अविरोधी दो स्पर्श (शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरू, मृदु ओर कठोर में में से कोई दो) इस प्रकार परमाणु में कुल पांच गुण पाये जाते हैं। ये गुण परमाणुओं के कार्य में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि जैन-दर्शन में द्रव्य और गुण वैशेषिकों की तरह भिन्न न होकर अभिन्न माने गये है। इसलिए परमाणु का जो प्रदेश है वही स्पर्श का, वही वर्ण का है। इसलिए वैशेषिकों का यह कहना युक्ति संगत नहीं है कि पृथ्वी के परमाणु में सर्वाधिक चारों गुण जल के परमाणुओ मे रूप, रस और स्पर्श, अग्नि के परमाणुओ में और रूपर्श गुण ओर वायु के परमाणु मे स्पर्श गुण होता है।[१४] वैशेपिको का उपर्युक्त कथन इसलिए ठीक नही क्योकि ऐसा स्वीकार करने पर गुण से अभिन्न अप्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा।[१५] जैन-दर्शन मे किसी मे भी गुणों की न्यूनाधिक़ता नही मानी गई है। पृथ्वी आदि चारों धातुओं में परमाणु के उपर्युक्त चारों गुण मुख्य और गौण रूप से रहते है। पृथ्वी में स्पर्श आदि चारो गुण सुख्य रूप से जल मे गध गुण गौण रूप से शेप मुख्य रूप से, अग्नि में गंध और रस गौणता और शेष की मुख्यता और वायु मे स्पर्श गुण की मुख्यता और शेष तीन की गौणता रहती है।[3१]

(६) **परमाणु नित्य है**—जैन वैशेषिक एवं ग्रीक दर्शन में परमाणु नित्य माना गया है, लेकिन जैनपरमाणुवाद की यह विशेषता है कि परमाणु की उत्पत्ति ओर विनाश होता है जब कि ग्रीक और वैशेषिक दार्शनिक परमाणु को उत्पत्ति विनाश रहित मानते है।

जैन परमाणु वाद के अनुसार द्रव्य दृष्टि से परमाणु नित्य है लेकिन पर्याय की अपेक्षा वे अनित्य भी है।

(७) **परमाणु एक ही प्रकार का है**—जैन दर्शन के अनुसार परमाणु एक ही जड तत्व से बने है। लेकिन वैशेषिक परमाणुवाद। के अनुसार चार प्रकार के है—पृथ्वी के परमाणु जल के परमाणु, वायु के परमाणु और अग्नि के परमाणु। जैन परमाणुवाद के अनुसार पृथ्वी आदि चार धातुओं की उत्पत्ति एक जाति के परमाणु से हुई है।

(८) **परमाणु गोल है**—जैन और वैशेषिक दर्शन में परमाणु का आकार गोल बताया गया है, लेकिन ग्रीक परमाणुवादियों का मत है कि परमाणुओं का आकार

निश्चित नहीं होता है । अतः आकार की अपेक्षा उनमें भेद है ।[३७]

(९) सभी परमाणु एक ही तरह के हैं—जैन-दर्शन में सभी परमाणुओं को एक ही तरह का माना गया है । ग्रीक दार्शनिको के मतानुसार परमाणुओं में मात्रागत (Quantity), आकारगत तौल, स्थान, क्रम और बनावट (Shape) की अपेक्ष्य माना गया है ।[३८] वैशेषिकों के अनुसार परमाणुओं में गुणात्मक और परिमाणत्मक इन दोनों की अपेक्षा भेद माना गया है ।[३९] जैन-दर्शन की यह भी विशेषता है कि उसमे परमाणुओ मे गुणमात्रा आकार आदि किसी भी प्रकार का भेद नही माना है ।

(१०) परमाणु आदि-मध्य और अन्तहीन है—जैन-दर्शन मे परमाणु को आदि मध्य और अन्तहीन बतलाया गया है । ग्रीक और दर्शन में परमाणुओं को ऐसा नही माना गया है । ग्रीक दर्शन में कुछ परमाणुओ को छोटा और कुछ बड़ा बतलाया गया है ग्रीक दर्शन मे कुछ परनाणुओं को छोटा और कुछ बड़ा बतलाया गया है ।[४०]

परमाणु गतिहीन और निष्क्रिय नहीं है :

जैन और ग्रीक दर्शन मे परमाणु को वैशेषिकों की तरह गतिहीन और निष्क्रिय नही माना गया है । जैन-ग्रीक दार्शनिको ने परमाणु को स्वभावतः गतिशील और सक्रिय कहा है वैशेषिको ने परमाणुओं मे गति का कारण ईश्वर माना है जबकि जैन और ग्रीक दार्शनिको को ऐसी कल्पना नही करनी पड़ी है ।

परमाणु कार्य और कारणरूप है :

जैन दार्शनिकों ने परमाणु को स्कन्धो का कार्य माना है क्योकि उसकी उत्पत्ति स्कन्धो के तोड़ने से होती है । इसी प्रकार परमाणु स्कन्धो का कारण भी है । लेकिन वैशेषिक और ग्रीक दर्शन मे परमाणु केवल कारण रूप ही है कार्य रूप नहीं ।

भौतिक परमाणु आत्मा का कारण नहीं है :

ग्रीक परमाणुवादियों के अनुसार आत्मा का निर्माण परमाणुओं से हुआ है । लेकिन जैन और वैशेषिक परमाणुवादी ऐसा नहीं मानते हैं । जैनपरमाणुवाद के अनुसार परमाणु शरीर, वचन, द्रव्य मन, प्राणापान, सुख, दुख, जीवन, मरण आदि के कारण हैं । भौतिक परमाणु अभौतिक आत्मा के कारण नही है ।

परमाणु अचेतन है—परमाणु भौतिक और अचेतन अर्थात् अजीब के उपादान कारण होने से जैन-दर्शन में परमाणुओं को जड़ और अचेतन कहा गया है । ग्रीक और वैशेषिक परमाणुवादियो का भी यही मत है ।

परमाणु एक ही भौतिक द्रव्य के हैं :

जैन-दर्शन में परमाणु एक ही प्रकार के भौतिक द्रव्य पुद्गल के माने गये है । ग्रीक परमाणुवादियों का भी यही मत है । लेकिन वैशेषिको ने चार प्रकार के भौतिक द्रव्य के परमाणु माने हैं ।

परमाणु सावयव और निरवयव है :

जैन-परमाणुवाद के अनुसार परमाणु सावयव और निरवयव है । परमाणु सावयव इसलिए है कि उसके प्रदेश होते है । ऐसा कोई द्रव्य ही नहीं हो सकता जो सर्वथा प्रदेश शून्य हो दूसरी बात यह है कि परमाणु का कार्य सावयव होता है । यदि परमाणु सावयव न होता तो उसका कार्य भी सावयव न होना चाहिए । अतः स्कन्धों को सावयव देखकर ज्ञात होता है कि परमाणु सावयव है ।[४१]

परमाणु निरवयव भी है क्योंक परमाणु प्रदेशी मात्र है । जिस प्रकार अन्य द्रव्यों के अनेक प्रदेश होते हैं उस प्रकार परमाणु के नही होते है । यदि परमाणु के एक से अधिक प्रदेश (प्रदेश प्रचय) हो तो वह परमाणु ही नहीं कहलायेगा ।[४२] परमाणु के अवयव पृथक-पृथक नहीं पाये जाते है । इसलिए भी परमाणु निरवयव है ।[४३]

अतः जैन परमाणवादियो ने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा परमाणु को सावयव और निरवयव बतलाया है । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा परमाणु निरवयव है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सावयव है ।[४४] इसके विपरीत ग्रीक और वैशुद्धिक परमाणवादी दार्शनिकों ने परमाणु को निरवयव ही माना है ।

परमाणुकाल-संख्या का भेदक है—जैन-दर्शन के अनुसार परमाणु काल संख्या का भेद करने वाला है । आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में समय रूप जो काल लगता है उसको भेद करने के कारण परमाणु काल अंश का कर्ता कहलाता है । अन्य परमाणुवादियों ने ऐसा नही माना है ।

परमाणु शब्द रहित और शब्द का कारण हैं :

जैन परमाणुवादियों ने परमाणु को शब्द रहित और शब्द का कारण बतलाया हैं। परमाणु शब्दमय इसलिए है क्योंकि वह एक प्रदेशी है। शब्द स्कन्धो से उत्पन्न होता है। परमाणु शब्द का कारण इसलिए है क्योंकि शब्द जिन स्कन्धों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न होता है वे परमाणुओं के मिलने से बने हुए हैं।[46] अन्य परमाणुवादी वैशेषिको और ग्रीक-दार्शनिकों ने ऐसा नही माना है।

जैन परमाणुवाद के अनुसार परमाणु जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा दो प्रकार का होता है।[47] पचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति मे द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु की अपेक्षा परमाणु दो प्रकार और भगवती सूत्र में द्रव्य परमाणु क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु और भाव परमाणु की अपेक्षा परमाणु चार प्रकार का बतलाया गया है। ग्रीक और वैशेषिक परमाणुवाद मे इस प्रकार के भेद दृष्टिगोचर नही होते है।[48]

परमाणुओं का परस्पर संयोग—जैन परमाणुवाद के अनुसार दो या दो से अधिक परमाणुओ का परस्पर बन्ध (संयोग) होता है। यह सयोग स्वय होता है इसके लिए वैशेषिकों की तरह ईश्वर जैसे शक्तिमान की कल्पना नही की गई है। जैन परमाणुवादियो ने परमाणु सयोग के लिए एक रसायनिक प्रक्रिया प्रस्तुत की है, जो निम्नाकित है।[49]

१. पहली बात यह है कि स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

२. दूसरी बात यह है कि जघन्य अर्थात् एक स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु का एक, दो, तीन आदि स्निग्ध या रूक्ष वाले परमाणु के साथ बन्धन नही होता है।

३. समान गुणवाले सजातीय परमाणुओ का परस्पर बन्ध नही होता है। जैसे दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु का दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नही होता है। इसी प्रकार रूक्ष गुण वाले परमाणुओं के बन्ध का नियम है।

४. चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि दो गुण अधिक सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं का परस्पर मे बन्ध हो जाता है। दो से कम और दो से अधिक परमाणु का परस्पर में बन्ध नही होता है।

उपर्युक्त परमाणुओं के परस्पर संयोग प्रक्रिया के संबंध मे जैन-दर्शन की दिगम्बर[50] और श्वेताम्बर परम्परायें[51] एकमत नही है। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि यदि दो परमाणुओं मे से कोई एक भी परमाणु जघन्य गुण अर्थात् निकृष्ट गुण वाला है तो उनमे कभी भी बन्ध नही होता इसके विपरीत श्वेताम्बर मत में दो परमाणुओं में परस्पर मे सयोग तभी नही होगा जब वे दोनों ही जघन्य गुण वाले हों। यदि उन दोनो मे से कोई एक परमाणु जघन्य गुण वाला और दूसरा अजघन्य (उत्कृष्ट) गुण वाला होगा तो बन्ध हो जायेगा।

तीसरे नियम के सबध मे भी दिगम्बरो की मान्यता है कि दो परमाणुओ मे चाहे वे सदृश (समान जातीय वाले हो) या विसदृश्य (असमान जातीय वाले हो) बन्ध तभी ही होगा जबकि एक की अपेक्षा दूसरे मे स्निग्धता या रूक्षत्व दो गुण अधिक हो। तीन-चार-पांच सख्यात-असख्यात-अधिक गुण वालो के साथ कभी भी बन्ध नही होगा। इसके विपरीत श्वेताम्बर मत मे केवल एक अश अधिक होने पर दो परमाणुओ मे बन्ध का अभाव बतलाया गया है। दो तीन, चार आदि अधिक गुण होने पर दो सदृश परमाणुओ मे बन्ध हो जाता है।

जैन परमाणुवाद मे इस शका का भी समाधान उपलब्ध है कि परमाणुओ का परस्पर सयोग होने के बाद किस परमाणु का किसमे विलय हो जाता है? दूसरे शब्दों में कौन परमाणु किसको अपने अनुरूप कर लेता है? इस विषय मे उमास्वाति का मत है कि परमाणुओ का परस्पर मे बध होने के बाद अधिक गुणवाला कमगुणवाले परमाणु को अपने अनुरूप कर लेता है? इस विषय मे उमास्वाति का मत है कि परमाणुओ का परस्पर में बँध होने के बाद अधिक गुण वाला कम गुण वाले परमाणु को अपने अनुरूप (स्वभाव के) कर लेता है।[52]

उपर्युक्त मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय मे मान्य है। लेकिन दोनों में एक भेद यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य सभाष्य तत्वार्थाधिगम भाष्य सूत्र[53] में इस विषय में एक यह भी नियम बतलाया गया है—

१. श्वेताम्बर मत में गुण-गत विसदृशता रहती है तो कोई भी समपरमाणु दूसरे सम वाले परमाणु को अपने अनुरूप कर सकता है अकलंक भट्ट[४८] ने इस नियम को आगम विरुद्ध बतला कर निराकरण किया है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दार्शनिको और चिन्तको ने परमाणु का जितना सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया उतना अन्यत्र उपलब्ध नही है ; वैज्ञानिको का परमाणुवाद भी बहुत कुछ जैन परमाणूवाद से साम्य रखता है। इस पर और भी तुलनात्मक शोध आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

१. देवेन्द्रमुनि शास्त्री . जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृ० १६४-६५।

२. पोग्गल दव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण। नियमसार, गाथा २६।

३. परमाणू चेव अविभागी। कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय, गाथा-७५।

४. सव्वेसि खधाण जो अतो त वियाण परमाणू। सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो ॥ वही, गाथा ७७।

५. आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥
णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खधाण पि य कत्ता पविहत्ता कालसखाण ॥
वही, गाथा-७८ और ८०।

६. (क) एयरसवण्णगध दो फास सद्दकारणमसद्द।
खधनरिद दव्व परमाणुं त वियाणेहि ॥
वही, गाथा-८१।

(ख) एयरसगध दो फास त हवे सहावगुण।
··· ··· ··· ·· ॥
आ० कुन्दकुन्द नियमसार, गाथा-२७।

७. अत्तादि अत्तमज्झ अत्तत णेव इदिए गेज्झ।
अविभागी ज दव्व परमाणू त विणाणाणाहि ॥
आ० कुन्दकुन्द नियमसार, गाथा-२७।

८. धाउचउक्कस्स पुणो ज हेऊ कारणति त णेयो।
खंधाणां अवसाणो णद्दव्वो कज्ज परमाणू ॥
नितमसार, गा०-२५।

९. नाणोः। तत्त्वार्थसूत्र, ५।११।

१०. भेदादणुः, वही, ५।२७।

११. अनादिमध्योऽप्रदेशी हि परमाणु.।
सभाष्यत्वार्थाधिगम सूत्र, ५।११, पृ०-२५६।

१२. कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु.।
··· ··· ··· ···कार्यलिंगश्च ॥ वही, ५।२५, पृ०-२७४।

१३. इति तत्राणवोऽबद्धा··· ··· ···। वही।

१४ अणो प्रदेशा न सन्ति ······प्रदेशमात्रत्वात्।
सर्वार्थसिद्धिः ५।११, पृ०-२०५।

१५. किं च ततोऽल्पपरिमाणभावात्। न ह्यमेरल्पीयानन्योऽस्ति,···। वही।

१६. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा परमाणव। वही २।३८, पृ०-१३८।

१७ प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्याय प्रसवसामर्थ्ये नाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणव.। वही, ५।२५, पृ० २२०।

१८. सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च। वही, ५।२५, पृ० २२०।

१९. ··· ···। प्रदेशमात्रोऽणु न खरविषाणवदप्रदेश इति।
तत्वार्थवार्तिक, ५।११।४, पृ०-४५४।

२०. यथा विज्ञानमादि मध्यान्ताव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथा-अणुरपि इति। वही, ५।११।५, पृ०-४५४।

२१. तेषामणूणामस्तित्व कार्यलिगरवादव्गान्तव्यम्। कार्यलिंग हि कारण।
ना सत्सुऽपरमाणुपु शरीरेन्द्रिय महाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति।
वही, ५।२५।१५, पृ०-४९२।

२२. भेदादणुः। तत्त्वार्थसूत्र, ५।२७।

२३. कारणमेव तदन्त्यमित्यसमीक्षिताभिधानम्,
कथञ्चित् कार्यत्वात्।

२४. नित्य इति चायुक्त स्नेहादि भावेनानित्यत्वात्···।
स्नेहादयो हि गुणाः परमाणौ प्रादुर्भवन्ति,
वियन्ति च ततस्तत्पूर्वक मस्यानित्यमिति।
वही, ५।२५।७, पृ०-४९१।

२५. नित्यवचनमनादि परमाण्वर्यमिति, तन्न किं कारणम्? तस्यापि स्नेहादि विपरिणामाभ्युपगमात् न हि निष्परिणामः कश्चिदर्थोस्ति भेदादणुः इति बचनात्। वही, ५।२५।१०, पृ०-४६२।
२६. निरवयश्चाणुरत एकरसवर्णागन्धः। वही, ५।२५।१३, पृ० ४६२।
२७. तत्त्वार्थवार्तिक न चानादि परमाणुर्नाम कश्चिदस्तिर। वही ५।२५।१६ पृ० ४६२-४६३।
२८. वही, ५।२५।१६, पृ० ४६२-४६३।
२९. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१।२५ पृ० ४३४।
३०. देवसेन : नयचक्र, गाथा १०१।
३१. डब्लु० टी० स्टेट्स . ग्रीक फिलोसफी, पृ० ८८।
३२. वही।
३३. भारतीय दर्शन, सम्पादक डॉ० न० कि० देवराज पृ० ड५ड।
३४. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २६८।
३५. आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वार्थप्रदीपिकावृत्ति, गाथा ७८, पृ० १३३।
३६. वही।
३७. डब्लु० टी० स्टेट्स : ग्रीक फिलोसोफी, पृ० ८८।
३८. वही।
I| उपाध्याय बलदेव भारतीय दर्शन, पृ० २४४।
३९. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा भा० द० रूपरेखा, पृ० २६।
४०. डब्लु टी० स्टेट्स : ग्रीक फिलोसोफी पृ० ६।
४१. वीरसेन धवला पु० १३, खड ५, पु० ३, सूत्र ३२, पृ० २३।
४२. द्रष्टव्य-पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, ५।११।
४३. वीरसेन धवला, पु० १३, खड ५, पु० ३, सूत्र ३२, पृ० २३।
४४. गम्मटसार जीवप्रदीपिका टीका, गा० ५६४, पृ० १००६।
४५. पञ्चास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा ८० पृ० १३७।
४६. सद्दो खधप्पभवो खधो परमाणुसंगसंगघादो।
पुट्टेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो॥
पचास्तिकाय, गाथा-७६।
४७. पद्मप्रभ नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा० २५।
४८. भगवती सूत्र, २०।५ १२।
४९. छण्णद्रव्य तत्त्वार्थसूत्र, ५।३३-३६।
५०. पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि, पृ० २२७-२८९।
५१. डा० मोहनलाल मेहता। जैनदर्शन, पृ० १८५-८६।
५२. बन्धेऽधिकौ पारिणामकौ च। तत्वार्थसूत्र-५।३७।
५३. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ। ५।३६।
५४. बन्धे सत्ति समगुणस्य समगुणः पारिणामिकौ भवति, अधिक गुणो हीठास्येति। वही भट्टाकलकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक, ५।३६।४-५।

—प्राकृत जैन शोध-संस्थान, वैशाली

(टाइटिल २ का शेषांश)

समय से ही वह उक्त संस्था के भी परम सहयोगी हो गए, प्रायः प्रारम्भ में १०-१५ वर्ष पर्यन्त उसके मन्त्री भी बने रहे, और उसकी गतिविधियो एव प्रवृत्तियों में सक्रिय रुचि लेते रहे। इतना ही नही, उन्होंने दिल्ली समाज के अनेक सज्जनों को वीर सेवा मदिर का सदस्य या सहयोगी बनाने में पर्याप्त एवं सफल प्रयत्न किया। मुख्तार सा० की अनेक पुस्तको व ट्रैक्ट आदि के मुद्रण-प्रकाशन की भी व्यवस्था की या कराई। आदरणीय मुख्तार साहब के साथ ला० पन्नालाल जी के जीवन पर्यन्त मधुर संबंध रहे। स्व० बाबू छोटेलाल जी और स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी भी ला० पन्नालाल जी की अमूल्य सेवाओ का आदर करते थे। वीरसेवा मन्दिर के दिल्ली में स्थानान्तरित हो जाने के उपरान्त भी उनके प्रति ला० पन्नालाल जी का प्रेम पूर्ववत् बना रहा।

ऐसे मूक, निःस्वार्थ एवं कर्मठ समाजसेवियों की जैन समाज मे आज अत्यन्त विरलता है। आशा है कि स्व० लाला पन्नालाल जी के कार्यो से प्रेरणा लेकर कोई-न-कोई सज्जन उनकी क्षतिपूर्ति के लिए शीघ्र ही अग्रसर होंगे।

हम अपनी ओर से तथा वीर सेवा मन्दिर परिवार की ओर से वीर सेवा मन्दिर तथा साहित्यकारों के चिर सहयोगी स्व० लाला पन्नालाल जी अग्रवाल के व्यक्तित्व और सेवाओ के प्रति हार्दिक श्लाघा एवं आदरभाव व्यक्त करते हैं।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

श्रावक के व्रत

पंद्मचन्द्र शास्त्री

व्रत का भाव विरति—विरक्तता है। साधुवर्ग संसार-शरीर भोग से निर्विण्ण होता है और श्रावक संसार-शरीर भोगो मे रहते हुए इनमे मर्यादाएँ करता है और अभ्यास-पूर्वक धीरे-धीरे साधु-सस्था तक पहुचाता है। मर्यादा बाँध कर भव-बन्ध कारक पापजनक क्रियाओ का त्याग करना यानी स्थूलरीति से पापो का त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। ऐसी अणुव्रती दशा मे क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो का शमन, इन्द्रिय-जय की प्रवृत्ति भी मुख्य है। वास्तव मे धर्म निवृत्तिमार्ग है, और प्रवृत्ति से उसका सबध केवल आत्मा तक सीमित है। इसका अर्थ ऐसा है कि आत्म-प्रवृत्ति के लिए पर-निवृत्ति आवश्यकीय साधन है। अत श्रावक आत्म-विघातक पाँच पापो के त्याग पर बल देता है और पाप त्यागरूप अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतो को नियमत. पालता है। जिन अणुव्रतो को नियमत पालता है उन अणुव्रतो के सबंध मे यहाँ चर्चा की जाती है, वे इस प्रकार है—

१. अहिंसा-अणुव्रत २. सत्य-अणुव्रत ३ अचौर्य-अणुव्रत ४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत ५. परिग्रह परिणाम अणुव्रत, इन्ही का क्रमश वर्णन किया जाता है।

(१) अहिंसा अणुव्रत—बहुत से लोगों का ऐसा विचार है कि जीवो को उनके मौजूदा शरीर से पृथक् कर देना—मृत्यु को पहुंचा देना ही हिंसा है। और उनके शरीर में आत्मा को रहने देना अहिंसा है। इसका तात्पर्य ऐसा हुआ कि जिन्होने जन्म से आज पर्यन्त किसी जीव के प्राणों का हरण नही किया वे सब अहिंसक है और ऐसे बहुत से आदमी आज मिल भी जाएँगे। पर, मात्र ऐसा ही नही है। जैनाचार्यों ने हिंसा-अहिंसा का जितना सूक्ष्म और विशद विवेचन किया है वैसा विवेचन निश्चय ही किसी अन्य ने नहीं किया। उन्होंने कहा है—

'यत् खलु कषाययोगात् प्राणाना द्रव्य-भावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥'—

कषाय के योग—निमित्त अर्थात् वशीभूत होकर किसी जीव के द्रव्यरूप अथवा भावरूप या दोनो प्रकार के प्राणो का हरण करना—प्राणो को बाधा पहुचाना हिंसा है। भावार्थ ऐसा है कि प्राण दो प्रकार के माने गए है—पाच इन्द्रियाँ, मन-वचन-कायरूप तीनो बलो, आयु और श्वासो-च्छ्वासो मे से किसी एक के हरण करने अथवा किसी एक को घात पहुचाने का नाम हिंसा है—यदि उस करने मे क्रोध, मान, माया अथवा लोभ किसी एक का भी सहकार है। क्योकि बिना कषायो के जाग्रत हुए पाप कर्म नही होता। अत मानव को अपनी कषायो पर अकुश रखना चाहिए। उक्त दश प्रकार के प्राणो को ही दो अपेक्षाओ से (बहिरंग और अंतरंग) द्रव्य प्राण और भावप्राण नामों से कहा गया है। इन दोनों प्रकार के प्राणों की रक्षा करना धर्म है। ऐसा कहा गया है कि—'आत्मन: प्रति-कूलानि परेषा मा समाचरेत्।'—अर्थात् सब आत्माओं को अपने समान ही समझना चाहिए। जब हमे सुई चुभने पर दुख होता है तब दूसरो को भी सुई मे दुख होना अवश्यं-भावी है। जैनाचार्य इसकी अत्यन्त गहराई में चले गए है और उन्होने हिंसा से बचने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि मन से, वचन से, काया से, समरंभ से समारंभ से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, क्रोध, मान, माया, लोभ से या इन्द्रिय पुष्टि के बहाने से भी किसी जीव को कष्ट नही देना चाहिए।

जैन-साधु महाव्रती होते हैं, उनके सभी प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग होता है। पर, श्रावक के हिंसा का त्याग मर्यादा पूर्वक यानी स्थूल रीति से होता है। इसका अर्थ यह है कि श्रावक गृहस्थ होता है और उसे आवश्यक

आजीविकोपार्जन करना होता है। उसके समरभ समारंभ और आरंभो मे प्राणि को पीड़ा सभव है। क्योंकि ससार में कोई भी स्थान जीवों से अछूता नही और श्रावक अपनी आजीविका से अछूता नही। अत: श्रावक को मर्यादा में अहिंसा धर्म का पालन करना होता है और वह इस प्रकार अणुव्रती—स्थूलव्रती कहलाता है। इसका विशेष इस इस प्रकार है—

हिंसा को चार भागो मे विभक्त कर दिया गया है—(१) सकल्पी (२) आरभी (३) उद्योगी (४) विरोधी।

संकल्पी हिंसा—क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत अथवा मनोविनोद आदि के लिए जानबूझ कर किसी जीव के प्राणों का हरण करना, धर्म के नाम पर जीवित पशुओ की बलि चढाना, शिकार खेलना, माँस जैसे निन्द्य पदार्थ के लिए पशुओ तथा अन्य जीवो को मारना अथवा जानबूझ कर उसे परेशान करके उसके मन को कष्ट पहुचाना **संकल्पी हिंसा** है श्रावक इस प्रकार की हिंसा का पूर्णरूप से त्यागी होता है वह मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना, सरभ, समारंभ, आरंभ सभी प्रकार से इसका त्यागी होता है और स्वप्न मे भी इसमें भाग नही लेता।

आरंभी हिंसा—घर गृहस्थी के कार्य श्रावक को करने आवश्यक होते है इनके बिना वह रह नही सकता। इन कार्यों मे जीवो का घात अवश्यभावी है. परन्तु वह इन कामों को देखभाल कर—जीवों को बचा कर करता है, ताकि कोई जीव मर न जाए या किसी जीव को कष्ट न पहुचे। ऐसी हिंसा, (जो अनजान मे हो जाती है) के लिए श्रावक प्रतिक्रमण-आलोचना और प्रायश्चित करता है—उसके मन में दया और करुणा का भाव रहता है।

उद्योगी हिंसा—आरभी हिंसा की भाँति इसे भी समझ लेना चाहिए। व्यापार-उद्योग आदि में अनजान मे होने वाली हिंसा का भी श्रावक त्यागी नही होता। वह ऐसा व्यापार भी नही करता जिसके मूल मे हिंसा हो। जैसे चमडे, शराब आदि हिंसाजन्य पदार्थों का व्यापार अथवा रेशम के कीडे पालने का व्यापार आदि।

विरोधी हिंसा—अपने आचार-विचार अथवा सामाजिक नियम को भग करने वालों अथवा धन-धान्यादि हरण करने वालों का विरोध—मुकाबला करना विरोधी हिंसा है। श्रावक को विरोधी हिंसा का त्याग उस स्थिति मे अहभव है जब कोई धर्मध्वसी, आततायी, चोर आदि उस पर—उसकी सम्पत्ति पर और धर्म आदि पर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से हमला करें। वह उनका निराकरण करेगा—उन्हे भगाएगा। अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना, अन्याय का प्रतीकार करना कर्तव्य कर्म है। इस कर्तव्य का पालन करने मे श्रावक को जागरूक रहना होता है—उसके परिणाम किसी को कष्ट देने के नही होते, अपितु न्यायपूर्वक अपनी और अपने अधिकारों की रक्षा—नीति की रक्षा—धर्म की रक्षा के होते है।

हिंसा से बचने और अहिंसा अणुव्रत की रक्षा के लिए श्रावक के लिए कुछ नियम भी बताए है। उनमे से दोषों के परिहार करने और व्रत को दृढ करने वाली भावनाओ के मनन-चितवन एव पालन करने से व्रत मे दृढता होती है। तथाहि—

'बन्ध - वधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा.।'—अर्थात् बन्धन, ताडन, छेदन, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध ये अहिंसाव्रत के दोष है। यदि व्रती श्रावक पशु आदि के सबध मे उक्त कार्यों को करता है तब भी उसे हिंसा का भागी होना पडता है अर्थात् वह इन दोषों को सदा टालता ही रहे। ताकि किसी को कष्ट न हो। ऐसे ही और भी बहुत से दोप गिनाए जा सकते है। इसके साथ-ही-साथ व्रतीश्रावक मन और वचन की गुप्ति—बशीकरण के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। उसके ऐसा करने से, अन्य जीवो के प्रति कठोर भावो की सभावना नही रहेगी। व्रती को ईर्यासमिति—चार हाथ परिमाण भूमि आदि देख कर चलने का यत्न रखना चाहिए। वस्तुओ के आदान—लेने और निक्षेपण रखने मे जीवो की रक्षा के प्रति जागरूक रहना चाहिए। भोजन को भलीभाँति देखभाल कर करना चाहिए, जल भी शुद्ध निर्दोष और वस्त्रपूत—छना हुआ लेना चाहिए।

२. सत्य-अणुव्रत :

जो नही है या जो जैसा नही है, उसको वैसा कहना झूठ है। ऐसे वचन का स्थूल रीति से त्याग करना सत्य-अणुव्रत है। श्रावक सत्य-अणुव्रत का पालन करता है—वह हास्य में या विनोदभाव से भी कभी गलत नहीं बोलता।

व्यवहार में सत्य के अनेक भेद किए गए हैं—जिन बातों के करने मे धर्म का घात न हो और जो व्यवहार प्रसिद्ध हों, ऐसी बातें भी सत्य मे गर्भित है। जैसे—नाम सत्य, स्थापना सत्य, जनपदसत्य, संभावना सत्य, आदि।

सत्य-अणुव्रती श्रावक सत्य बोलता है पर ऐसा सत्य भी नही बोलता है। कटु-बचन, सत्य भले ही कहा जाय, पर वह दूसरों के दिल दुखाने वाला होने से झूठ ही माना जाता है। पर की प्राण-रक्षा के निमित्त बोला गया असद् (असत्य) रूप वचन भी जीव रक्षा के कारण सत्य है। अत अणुव्रती को अहिंसा की रक्षा के निमित्त ऐसे वचनों को बोलने का भी विधान है। महाव्रती, पर-जीवन की रक्षा के निमित्त असत्-रूप वचन कदापि नही बोलता और ऐसी स्थिति के उत्पन्न होने पर वह मौन रह जाता है।

सत्य बचन को महत्त्व इसलिए भी है कि सत्य, पदार्थ का स्वरूप है। जो द्रव्य या परार्थ जिस रूप है, वह त्रिकाल उसी मूलरूप मे रहेगा—उसकी पर्यायें भले ही परिवर्तन-शील स्वभाव वाली हो। इसलिए जब तक हम सत्य पर पर नही पहुंचेगे, तब तक हम हित-अहित का बोध न होगा, हम ग्राह्य एव अग्राह्य मे मे भेद भी न कर सकेंगे—हमें दुखों से मुक्ति भी न मिल सकेगी। अत. आत्म-लाभ की दृष्टि से भी हमें सत्य व्रत लेना उचित और उपयोगी है। व्रत में दृढ़ता के लिए निम्न दोषो से भी बचते रहना चाहिए। यथा—

'मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकार मन्त्रभेदा.।'

किसी को मिथ्या उपदेश न दें, किसी के गुप्त रहस्यो को सार्वजनिक रूप से प्रकट न करें, झूठे पत्र तैयार न करें। इन बातों से हम सत्यव्रत की रक्षा कर सकते है।

३. अचौर्य अणुव्रत :

प्रमाद—कषाय यानी, क्रोध, मान, माया और लोभ के वश मे होकर किसी की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लेना चोरी है। इस पाप का स्थूल रीति से त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रती को ऐसा कोई कार्य या व्यापार भी नही करना चाहिए, जिसमे अनतिकता या मिलावट का समावेश हो। असली घी मे नकली मिला कर बेचना और दाम असली के लेना आदि धोखाधड़ी के सभी कार्य पर अधिकार हरण करने के कारण चोरी में संमिलित हो जाते है ऐसे पाप का त्याग करना ही उचित है : इस अणुव्रत के धारी का कर्तव्य है कि वह चोरी का प्रयोग किसी को न सिखाए, चोरी से आई वस्तुओं का आदान-प्रदान न करे, राज्याज्ञा के विरुद्ध आचरण न करे, हीनाधिक तौल-माप न करे, मिलावट न करे, आदि :

ब्रह्मचर्याणुव्रत :

पुरुषवेद या स्त्रीवेद के उदय से एक दूसरे के साथ रमण करने के भाव को अब्रह्म कहा गया है। रमण करे या न करे, मन में भावमात्र होना भी ब्रह्मचर्य का भग है। इस पाप से आशिक निवृत्ति लेने वाला श्रावक ब्रह्मचर्याणुव्रती कहलाता है। वह अपनी विवाहिता स्त्री, (और स्त्री विवाहित-पुरुष) के सिवाय अन्य किसी के प्रति रमण के भाव नही रखता। वह एक दूसरे मे राग बढाने वाली बातो को न सुनता है और न सुनाता है, उसके अंगों को भी बुरे भावों से नही देखता। पहिले भोगे हुए भोगों की याद भी नही करता। गरिष्ट भोजन भी नही करता और अपने शरीर को सजाता भी नही है : भाव ऐसा है कि मन को अब्रह्म की ओर ले जाने वाला कोई कार्य नही करता।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत :

राग या लोभ के वशीभूत होकर धन-धान्य आदि का संग्रह, परिग्रह कहलाता है। वास्तव में मूर्च्छा यानी ममत्व-भाव ही परिग्रह है। लोग पदार्थों का सग्रह तब ही करते है, जब उन्हें पदार्थों के प्रति राग या लोभ होता है। जो लोग अपनी आवश्यकताओ मे कृशता करके उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए—यथावश्यक सचय कर उसका उपयोग करते है, वे परिग्रह परिमाणाणुव्रती है, ऐसे व्रती पदार्थों की मर्यादा भी निश्चित कर लेते है और वे मर्यादित पदार्थ आवश्यकताओं की कृशता की सीमा में होते है। एक व्यक्ति जब अधिक सग्रह कर लेता है तो दूसरे अभावग्रस्त और दुखी हो जाते है। राष्ट्रो के पारस्परिक युद्ध भी परिग्रह-सचय की दृष्टि में ही होते हैं। इसलिए सुख-शान्ति के इच्छुकों को यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है।

दिग्व्रत :

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ईशान आदि चतुष्कोण, ऊर्ध्व और अधो दिशाओं मे आने-जाने की मर्यादा

बाँध लेना, कि मैं जीवन भर इस मर्यादा का अतिक्रम नहीं करूँगा। परिमाणकृत क्षेत्र से (मन-वचन-काय, संरंभ, समारंभ-आरंभ, कृत-कारित और अनुमोदनापूर्वक) किसी प्रकार का संबंध न रखना दिग्व्रत है। इससे अणुव्रतो की रक्षा में सहायता मिलती है।

देशव्रत :

दिग्व्रत की मर्यादा मे, काल एवं स्थान की दृष्टियो की अपेक्षा से, संकोच कर लेना देशव्रत कहलाता है। जैसे कि मैं अपने ग्रहण किए हुए दिग्व्रतो में अमुक, घडी, घण्टा, दिन अथवा महीनों तक इतने क्षेत्र का संकोच करता हू। आदि

अनर्थदण्ड त्याग :

जिन कार्यों से अपने और पराये किसी का लाभ नही होता हो, अपितु जीवों के घात का प्रसग आता हो या पदार्थों का अप-व्यय होता हो ऐसे कार्यों के त्याग को अनर्थदण्डविरत कहते है। व्रती श्रावक स्नान के लिए उतना ही जल प्रयोग में लाएगा, जितने मे उसको पानी की बर्वादी न करनी पडे। जैसे बहुत से लोग बैठे-बैठे जमीन को कुरेदते रहते हैं, तिनका तोडते या चबाते रहते है, और मार्ग गमन के समय छडी से व्यर्थ मे पौधों को तोडते चलते है : आदि ऐसे सभी कार्य छोडने चाहिए।

सामायिक :

समय आत्मा को कहते है . आत्मा में होने वाली क्रिया सामायिक है : अथवा समताभावपूर्वक होने वाली क्रिया सामायिक है। मनुष्य संसार सबंधी क्रियाएँ हर समय करता है, उसे कुछ काल आत्मा की—अपनी क्रिया करनी चाहिए। क्योकि आत्मा ही सार है—दूसरे की क्रियाओं से लाभ नही। अत जो श्रावक प्रात, मध्याह्न, सायं किसी मन्दिर, वन सामायिक भवन या गृह के एकान्त स्थान में बैठ कर आत्म-चिन्तवन करते हैं, वे सामायिक-व्रती होते हैं : सामायिक का उत्कृष्ट काल मुहूर्त और मध्यम व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रोषधोपवास व्रत :

उपवास शब्द का अर्थ आत्मा के निकट—आत्मामें निवास करना है। और आत्म-वास में भोजन आदि वाह्य क्रियाओं का त्याग देना आवश्यक है अत परिपाटी में सामायिक में निमित्तभूत होने से नियमित काल के लिए आहारादि का त्याग प्रोषध या प्रोषधोपवास नाम पा गया है। श्रावक को निर्जल उपवास से पहिले और पिछले दिन एक-अशन ही करना चाहिए। इससे सहन-शक्ति बढ़ती है : यदि परिणामों में कलुषता बढ़ जाय तो प्रोषध करना और न करना एक जैसा है परिणामों में निर्मलता रखना उपवास का परम लक्ष्य है, इसमें शरीर आदि से ममत्व भी छोडना आवश्यक है · उपवास के दिन बाह्य आरंभजनक क्रियाओं का त्याग भी आवश्यक है।

भोगोपभोग परिमाण :

ऊपर परिग्रह परिमाण व्रत को बता आए हैं : किए हुए परिमाण मे भोग-उपभोग संबंधी पदार्थों के सेवन की मर्यादा बाँधना—परिग्रह परिमाणव्रत में सीमा का संकोच करना, श्रावक को मुनि पद तक पहुंचाने मे सहायक होता है और इससे तृष्णा तथा ममत्व भाव के त्याग को वल मिलता है।

अतिथि संविभाग व्रत :

जिसके आने की कोई तिथि नही होती—उसे अतिथि कहते है। प्राय इस श्रेणी मे साधु-साध्वी आते है। साधारणतया गृहस्थ भी—जैसे प्रतिमाधारी त्यागी-व्रती भी इसमे ग्रहण कर लेने चाहिए। श्रावक का कर्तव्य है कि वह अतिथियों की सेवा करे। उन्हे आहार, वसतिका आदि से सतुष्ट करे . इससे धर्म सरक्षण को बल मिलता है और प्रभावना व स्थितिकरण मे सहायता मिलती है।

उक्त प्रकार श्रावक के व्रतो का सक्षेप है। इसके साथ ही श्रावक का कर्तव्य है कि वह सप्त कु-व्यसनो से दूर रहे तथा प्रतिदिन श्रावक के षट्कर्मो का पालन करे। प्रात. उठने के बाद और रात्रि को शयन से पूर्व अपने दोषो की आलोचना करे और प्रायश्चित्त लेकर नियम करे कि कल वह उन दोषो से वचने की कोशिश करेगा जो दोष उसे आज लग गए है : इसके बाद पचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए अपने दैनिक कार्यो मे प्रवृत्त हो और यदि शयन का समय है तो सोए। श्रावक को अन्य अनेक सत्कार्यों का सदा ध्यान रखना चाहिए और सदा ही निम्न प्रकार की भावना के अनुसार व्यवहार करना चाहिए—

'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।''

× × ×

क्षेम सर्वप्रजानां, प्रभवतु वलवान् धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्ष चौर मारीक्षणमपिजगतां मास्म भूज्जीव लोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।

—वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

जरा सोचिए !

१. क्या कोई इस योग्य है ?

दुखी बहुत देखे, अभावग्रस्त भी मिले, पर उन जैसा अनूठा और बात का धनी आज तक न देखा। लाठी के सहारे, चिथडो से आच्छादित, कमर झुकी, मुख पर झुर्रियाँ फिर भी स-तेज। सहसा मेरी ओर बढ़े और दीवार के सहारे मेरे पास ही बैठ गए—मौन।

मैंने पूछा—बाबा क्या बात है, दुखी से दिखाई देते हो। क्या कोई कष्ट है या कुछ आवश्यकता है ? बताओ।

बोले—बेटा, क्या कहू ? मेरी माँगने की आदत नहीं, मैं जैनी हूं। फिर कैसे मागू और किससे मांगू ? क्या कोई इस योग्य हैं जो मुझे कुछ दे सके, और जिससे मै ले सकू ?

मैंने कहा—कोई बात नही। आवश्यकता पडने पर सभी मांगते है। फिर देने वालो की कमी भी तो नही। लोग आज भी हजारो लाखो की सख्या मे देते है। आप कहिए तो ? आपका वचन यथाशक्ति पूरा कराने का प्रयत्न करूँगा।

वे बोले—बहुत दिनो की बात है। किसी पहुचे हुए सन्त ने मुझे बताया था कि ससार मे किसी से कुछ मत मांगना। यदि मागना ही हो तो चार की शरण जाना—'अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवलि पण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि।' अर्थात् अरहत, सिद्ध, साधु और धर्म की सरण जाना। यदि अधिक आवश्यकता पड जाय तो किसी जैनी (मद्य-मास-मधु त्यागी और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण व्रतो के निरतिचारपालक) की सहायता ले लेना—वह भी तुम्हारा मनोरथ पूरा कर सकेगा।

बाबा ने आगे कहा—जब मैं समर्थ था और मेरे हाथ-पांव चलते थे तब मिहनत मजदूरी करके न्याय की कमाई से गुजारा चलाता रहा। जो बचता था वह जोड़ता रहा, वह भी अब पूरा हो गया। ये तो तुम जानते ही हो कि न्यायपूर्वक अर्जित धन से किसके कोठी और महल बने है और कौन लाखो-करोड़ों का धनी हुआ है ?

अब साक्षात् अरहंत नही, सिद्धों तक मेरी पहुच नहीं, साधु मुझे मिलेंगे कहाँ ? धर्म मेरे साथ है और धर्मात्मा जैनी की खोज मे हू।

मैने कहा—बाबा, ऐसी कौनसी बात है आप दुखी न हो। अभी तो जैनी लाखो की सख्या में जिन्दा है—आपकी व्यवस्था बन जाएगी।

बाबा ने कहा—बेटा, जिन्हें तुम जैनी कह रहे हो, उन्हें मेरी और जिनेन्द्रदेव की आँखो से देखो—शायद मैं ही तो भ्रम मे नही ! मुझे तो अष्टमूलगुणधारी दाता नजर नही आते। वे आगे बोले—दातारों में कितने है जो मद्य-मांस-मधु के त्यागी है, कितने हैं जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण व्रतों को निरति चार पालते है ? या जिनके अनछने जल और रात्रि भोजन का त्याग है ? देव दर्शनादि आवश्यकों के पालक कौन हैं ?

बाबा की बात सुन कर मैने दूर तक सोचा। मेरी दृष्टि मे ऐसा व्यक्ति नही आया जो जिनेन्द्र और बाबा की परिभाषा में जैन हो और जिससे बाबा की कुछ सहायता कराई जा सके। फिर भी मैंने बाबा से कहा—बाबा, ऐसे लोग होंगे जरूर। मैं तलाश करके बताऊंगा।

बाबा ने उत्तर दिया—यदि कोई मिले तो उससे कुछ सहायता मँगा कर रख लेना मै फिर हाजिर हो जाऊँगा। इतना कह कर बाबा अन्तर्धान हो गए।

मैं अवाक् रह गया ? इतना कठोर नियम-पालक। धन्य है ऐसे लौह पुरुष को।

जरा सोचिए ! उक्त परिभाषा मे गर्भित किसी निरतिचार जैनी को और उसका नाम पता दीजिए ताकि जरूरत पड़ने पर बाबा के लिए कुछ सहायता मँगाई जा सके।

२. धर्म संस्थानों का रजिस्ट्रेशन क्या है ?

धर्म और धर्म-संस्थाएँ स्वय मे ऐसे केन्द्र है जो स्वयं ही मानवो का रजिस्ट्रेशन करते हैं—इनके आश्रितों को अन्य किसी लौकिक रजिस्ट्रेशन की आवश्यकता नहीं

होती—इनके आश्रित व्यक्ति अपने आचरण से सहज ही मानवता के प्रतीक बन जाते हैं।

हमें आश्चर्य होता है जब कोई व्यक्ति स्वभावतः रजिस्ट्रेशन करने वाले धर्म या धर्म-सस्थान के लौकिक रजिस्ट्रेशन की चर्चा चलाता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति मन में विविध शकाएँ होती है—कि इसके मन मे अवश्य कोई अनैतिकता का भूत सवार है। या तो यह सस्था के प्रति दूसरे के द्वारा भय-उत्पादन से शकित हैं या स्वयं ही भयावह है, जो लौकिक न्यायालय के सहारे की ताक में है।

उस दिन एक व्यक्ति मिले। बोले—हमे अपने धार्मिक न्यास का रजिस्ट्रेशन कराना है। मैं अवाक् रह गया थोडी देर बाद मैंने ही उनसे कहा—धर्म और धर्म-सस्थानो का आत्मा से तादात्म्य संबंध है। धर्म तो व्यक्ति का स्वय मे रजिस्ट्रेशन है। धर्म मानवता की रजिस्ट्री करता है। मानव धर्मं से तनिक भी च्युत हुआ कि वह पाप कर्म से जकड लिया गया इसमे किसी दूसरे न्यायालय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जब किसी व्यक्ति के मन में अनैतिकता का प्रवेश होता हे तब धर्म और धर्म सस्थान दोनो ही स्वत: विघटित हो जाते है—वे अधर्म का रूप ले लेते है, उनकी रक्षा का प्रश्न ही नही उठता। लोक मे आज हम जिन्हे धार्मिक संस्थान मानने लगे हैं वे सर्वथा ईट चूने और सीमेन्ट के ढेर और चांदी सोने के टुकड़े मात्र है—उनकी रक्षा करके हम धर्म या धार्मिक न्यास की रक्षा नही कर सकते जब कि हम धर्म और मानवता-शून्य हों।

वे बोले—आप तो पुण्य-पाप की बात पर आ गए। मैं तो बाह्य-सम्पत्ति के संरक्षण की बात कर रहा हूँ कि भविष्य में वह सुरक्षित रहे।

मैंने कहा—यदि किसी को झगडा करना ही हो—और यदि उसकी नीयत खराब हो तो झगड़ा अवश्य करेगा। वह रजिस्ट्रेशन होने पर भी अधिकार कर लेगा और आप बचा न सकेंगे। वहाँ तो कानून मे कानून है और साथ में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत भी है। वह अपने पक्ष में बहुमत सिद्ध करने के लिए अपने सदस्यो का बाहुल्य भी कर सकता है, उन्हे पदो आदि के प्रलोभन भी दे सकता है, जैसी कि मनोवृत्ति आज राजनैतिक पार्टियों मे स्पष्ट ही चल रही है, आदि :

पहिले बुजुर्गों ने अनेकों संस्थाएँ खड़ी की उनके भौतिक रजिस्ट्रेशन भी कराए। वे रजिस्ट्रेशन क्या काम आए? लोग कानूनो मे उलझ गए और आज स्थिति यह है कि न वे लोग रहे और ना वे संस्थाएँ ही रही। जो रही भी उनमे कई तो व्यक्तियो के कमाने खाने मे ही सीमित हो गई। सो यह तो समय का फेर है। जब धर्मी के मन से धर्म निकल जाता है तब रजिस्ट्रेशन आदि सभी यूँ ही धरे रह जाते है। अत धर्म और धार्मिक भावना की कद्र करना ही सबसे बडा रजिस्ट्रेशन है—इन बाह्य रजिस्ट्रेशनों मे कुछ नही रखा। बस वे चुप हो गए।

वास्तविकता क्या है? धर्म-सस्थानो की रक्षा मे धर्म-भाव मुख्य कारण है या बाह्य—लौकिक रजिस्ट्रेशन? जरा सोचिए!

३. ऊर्ध्व व मध्यलोक तथ्य है!

'जैनी' जिनदेव का भक्त होता है। वह 'जिन' की वाणी का ज्ञाता और उपदेश का पालक भी होता है। देव-शास्त्र-गुरु तीनों ही रत्न उसके अपने होते है और वह उनकी सभाल करता है। जो लोग कुदेवों की उपासना करते हों, जिन वाणी के रहस्य को न जानते हों और गुरुओं में नि स्पृहता के दर्शन न करते हो—वे इन रत्नों की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ ही होंगे।

आज स्थिति ये है कि अनादि परम्परागत धर्म और त्रिलोक-महल, जिन्हे शताब्दियो तक तीर्थंकर और परम्परागत आचार्य सभालते रहे—सरक्षण देते रहे, अब खण्डहर होने की बाट जोहने लगे है। और हम ऐसे निर्मम है जो इनकी ओर कनखियो तक से निहारने को तैयार नही—सर्वथा मुख मोड़े बैठे है और कहीं पर प्रकाशित निम्न पंक्तियों को भी सुख से पढ रहे है—

"ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक संबंधी वर्णन तो बाद के आचार्यों ने जो छद्मस्थ थे उस समय के इस विषय के विद्वानो की मान्यतानुसार अपने शास्त्रों में किए हैं।"
"छद्मस्थ आचार्यों द्वारा लिखी बात आधुनिक वैज्ञानिक

खोजो से गलत हो जाने से जैन धर्म का कुछ नही बिगड़ता।" "जब हमारे विद्वान् मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक संबधी अपनी शास्त्रीय मान्यताओ को आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के मुकाबले मे प्रमाणित करने मे असमर्थ है, तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय व उनकी टीकाओ का पढ़ाना बन्द कर दिया गया है।"

हमारे यहाँ देव-शास्त्र-गुरु को रत्न-सज्ञा दी गई है। इस समय इनमे से वीतराग देव का सर्वथा अभाव है और गुरु भी अगुलियो पर गिनने लायक कुछ ही होगे—अधिकाश मे तो लोगो की अश्रद्धा जैसी ही हो चली है। अब तो केवल शास्त्र ही स्थितिकरण के साधन है, जो उक्त प्रकाशनों जैसे साधनो से मिथ्या होने लगेगे। और लोग जो अश्रद्धा के कगार पर खडे है—गड्ढे मे गिर पड़ेगे और यह सबसे बडा बिगाड होगा।

यदि भूगोल सबधी जैन-रचना को मिथ्या माना जायगा तो 'जैन' का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा—न नन्दीश्वर द्वीप होगे न उनमे स्थित प्रतिबिम्बो के पूजक ही होंगे। जैसे—

(१) जैन भूगोल के मिथ्या मानने पर विदेह क्षेत्र का अभाव होगा जिससे वहाँ के विद्यमान बीस तीर्थंकर असिद्ध होंगे। आप बीस तीर्थंकर-पूजा न करेगे ?

(२) सुमेरु पर्वत का अभाव होगा, तब तीर्थंकरो का जन्म कल्याणक अभिषेकोत्सव असिद्ध होगा।

(३) क्षीर-समुद्र का अभाव होने से जल—जो अभिषेक के लिए आया होगा—वह भी न होगा।

(४) इन्द्रादि देवगण (ऊर्ध्वलोक) के अभाव मे अभिषेक किसने किया होगा ?

(५) समवसरण देव रचते है, देवो के अभाव मे वह रचा न गया होगा तब तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि कहाँ से हुई होगी ?

(६) देवरचितअर्धमागधी भाषा के अभाव मे दिव्य-ध्वनि का इस भाषा मे होना भी सिद्ध न होगा।

(७) इन्द्र की सिद्धि न होने से गणधर की उपलब्धि भी सिद्ध न होगी और गणधर के अभाव मे दिव्य-ध्वनि भी नही होगी। ऐसे मे तीर्थंकरो का कोई भी उपदेश सिद्ध न हो सकेगा।

इतना ही क्यो ? जैन भूगोल और ऊर्ध्वलोक की मान्यता के अभाव मे तीर्थंकरो के जीवन चरित्र के सँबंध मे भी विवाद खडा हो जायगा। यतः जब स्वर्ग नही, तो तीर्थंकर के जीव का वहाँ होना और वहाँ से चयकर माता के गर्भ मे आने का प्रसग ही नही और गर्भ मे न आने से पैदा भी न हुए। तथा देवगति के अभाव मे भगवान पार्श्वनाथ पर कमठजीव (देवयोनि) द्वारा और महावीर पर 'सगम' देव द्वारा उपसर्ग भी नही। ऊर्ध्वलोक के अभाव मे सिद्धशिला (मुक्त जीवों का स्थान) भी सिद्ध न हो सकेगा.. मुक्ति भी समाप्त हो जायगी। और भी बहुत से विरोध खडे होगे।

हमारी दृष्टि मे जैन आगम सर्वथा तथ्य है। अमेरिकी वैज्ञानिको की मान्यता हो चली है कि चन्द्र अनेक होने चाहिए—वे खोज मे लगे है. खोज होने दीजिए। वास्तव मे खोज कभी पूरी नही हो पाती क्योकि वस्तु अनन्त धर्म वाली है और अनन्त को अनन्त ज्ञान ही जान पाता है।

समाज का लाखो रुपया जो दिखावट और यश-अर्जन मे अथवा किन्ही सीमित हाथो मे अधिकार के लिए, इधर-उधर घूमता दिखाई देता है उसे वास्तविक 'ज्ञान-ज्योति' (ज्ञानप्राप्ति—शोध) मे लगाये जाने की आवश्यकता है—बुझने वाली, अस्थायी किसी 'ज्ञान-ज्योति' मे लगाने की नही।

ऊर्ध्व और मध्य लोक की रचना के बारे मे लोग विद्वानो से पूछते है। आखिर, जैन-विद्वान् तो उतना ही बता सकेगे—जितना वे जानते हो। क्या समाज ने कभी विद्वानो को साइन्स के एक्सपर्ट बनाने के साधन जुटाए है ? कोई ऐसी वैज्ञानिक रिसर्च शोधशाला खोली है जो जैन भूगोल पर शोध करे ! क्षमा करे, समाज की दृष्टि तो आज भी मिट्टी-पाषाण, भाषा-लिपि, और स्वतः मे सिद्ध—स्पष्ट साहित्य ग्रन्थो को कुरेदने—उनमे इतस्ततः विभिन्न जोड़-तोड़ बिठाने वाले शोधकर्ताओं और तथाविध शोध-प्रबन्धो को तैयार करने कराने की बनी हुई है। कोई उनमें छन्द-अलकार की खोज मे लीन है तो कोई व्यक्तित्व और कृतित्व म P.hd. चाहता है और कोई पुरुषो की लम्बाई-चौड़ाई ही ढूढता है। आगम के मौलिक तथ्यों को उजागर करने-कराने वाले तो विरले ही है।

मेरी दृष्टि से लोक-रचना और तत्त्वो के तत्त्व पर शोध किए बिना—मात्र आगम को मिथ्या बताने से कुछ हाथ नही आएगा। अपितु, रहा सहा जो है वह भी खो जाएगा। कृपया लोक रचना की पुष्ट-शोध कराइए और सोचिए।

४. ज्ञान-प्रागार और शोध-संस्थान ?

जैन-धर्म और दर्शन स्व-पर स्वरूप को दिखाने वाले जीवित शोध-सस्थान थे। इनके माध्यम से भेद-विज्ञान का पाठ पढ़ाया जाता था और पढ़ाने वाले शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और गुरु कहलाते थे। शोध-सस्थानो की यह परम्परा तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से महावीर पर्यन्त अविच्छिन्न रूप मे चली आती रही—कभी कम और कभी अधिक। तत्त्वार्थसूत्र मे बतलाए गए साधुओ के भेदो मे गिनाए गए तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, साधु, मनोज्ञ और अणुव्रती श्रावक सभी इन माध्यमो से ऊँची-ऊँची पदवियो को पाते और स्व-पर कल्याण करते-कराते रहे। पर, तीर्थंकर महावीर के बाद गौतम, जम्बू, सुधर्मा तथा अन्य मान्य आचार्यों और श्रावकों के उपरान्त धीरे-धीरे इस परम्परा मे धूमिलता आती गई। फिर भी इनका चलन विद्यालयो, मन्दिरो और पुस्तकालयो के रूप मे जारी रहा—इनके माध्यम से स्व-पर भेद विज्ञान का पाठ चालू रहा। गुरु गोपालदास वरैया, पूज्यवर्णी गणेशप्रसाद जी आदि जैसे उद्भट विद्वान भी तैयार होते रहे।

आज स्थिति यहाँ तक पहुंच गई है कि विद्यालय, विद्यालय न रहे। वे ईट-पत्थरो के आगार मात्र रह गए और गुरु, गुरु न रहे वे कर्मचारी श्रेणी में जा पड़े। यह सब भौतिकता का प्रभाव है जो धन के लोभ और धन के प्रभुत्व में क्रमशः पनपता रहा। पढाने वाले विद्वान् धर्म-ज्ञान जैसे धन को पैसे लेकर बेचने लगे और भौतिक-विभूति वाले उसको खरीदने के आदी बन गए। कैसी बिडम्बना चालू हुई ? जिनवाणी के सेवक कर्मचारी और तत्सबधी कुछ न करने वाले स्वामी होकर रह गए—जैसा कि सरकारी और लौकिक चलन है। बस यही से पतन का श्रीगणेश हुआ—दृष्टि मे बदलाव आया—धर्म नियमो मे राजनीति प्रविष्ट हुई जिसे कि नही होना चाहिए था।

इस भौतिकता का प्रभाव यहाँ तक बढा कि बडे-बड़े भवन बनते रहे, उनके भौतिक रजिस्ट्रेशन होते रहे, सरकारी मान्यताएँ मिलती रही। उनमे शोध-कार्य चले, और कहने को कुछ सफल भी हुए। पर वास्तव मे कुछ हाथ न लगा। जो भौतिक शोधे हुई वे ग्रन्थो, मन्दिरों और मठो तक ही सीमित रह गई—स्व-पर भेद विज्ञान से उनका कोई प्रयोजन नही। मानव आज भी पर मे लीन—भेद-विज्ञान शून्य है- उसे व्यावहारिक बातचीत का ढंग भी नही आया है। देव-शास्त्र-गुरु की पूजा तो दूर : वह आचार-विचार से भी भ्रष्ट हो चला है।

यह सब क्यो हुआ ? इसमे कारण, दास-प्रथा को कायम रखने की मनोवृत्ति है या धर्म-ज्ञान की विक्री की प्रवृत्ति या कुछ न करके भी अधिकारित्व जताने की भावना कारण है ! जरा सोचिए और पतन के कारणो को रोकिए।

—सम्पादक

(आवरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

दूसरी प्रतिमा मे केवल शासन देवी अम्बिका का सिर प्राप्त हुआ है, जो पूर्णत. घिस गया है।

जिन प्रतिमा का पाश्र्व भाग :

संग्रहालय मे जिन प्रतिमा के पार्श्व भाग से सबधित तीन कलाकृतिया सग्रहीत है। प्रथम भाग मे जैन प्रतिमा का दायाँ पार्श्व भाग है। जिस पर अंकित जिन प्रतिमा भिन्न प्राय. है। दाई ओर गज व्याल बाई ओर मालाधारी यक्ष एव नृत्यरत यक्षी का शिल्पांकन है।

दूसरी प्रतिमा जैन मूर्ति का बाँया भाग है। जिसका दायाँ पार्श्व भग्न है। दोनों ओर अभिषेक कलश सहित गजराज, जिन प्रतिमा यक्ष, गन्धर्व एव मालाधारी छत्रावली आदि का आलेखन है।

तीसरी प्रतिमा जिन प्रतिमा का बायां भाग है। जिसमे छत्रावली, वादक, नर्तक, यक्ष, गन्धर्व तथा कलश लिए हुए हाथियों का शिल्पांकन है।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय गूजरी महल, ग्वालियर (म० प्र०)

संग्रहालय, ऊन में संरक्षित जैन प्रतिमाएँ

☐ नरेशकुमार पाठक

ऊन पश्चिमी निभाड़ मे जैन मूर्ति कला एवं स्थापत्य कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां प्रसिद्ध सुवर्णभद्र तथा अन्य तीन संतों को नमन पर जिन्होंने चेलना नदी के तट पर स्थित पावागिरि शिखर पर निर्माण प्राप्त किया था।[1] संग्रहालय में कुल नौ जैन प्रतिमाएं हैं। ये सभी कलाकृतियां हल्के काले रंग के पत्थर पर निर्मित है। कलाक्रम के आधार पर १२वी १३वी शती की हैं एवं ऊन के खण्डहरों से प्राप्त हुई है।

शान्तिनाथ :

पद्मासन मुद्रा मे निर्मित शान्तिनाथ का कमर से नीचे का भाग प्राप्त हुआ है। पैरो पर रखा हुआ दाहिना हाथ भी खडित है। पादपीठ पर भगवान शान्तिनाथ का ध्वज चिह्न हिरण तथा शखाकृतियो के मध्य में मूर्ति का स्थापना लेख उत्कीर्ण है। लेख का पाठ इस प्रकार है—

सवत् १२१२ वर्षे देवचंद्र सुत (श्री) पाल: प्रणमीत नित्य···

पाश्र्वनाथ :

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पद्मासन मे निर्मित संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं मे सबसे सुन्दर और आकर्षक प्रतिमा है। मूर्ति के सिर पर कुन्तलित केशराशि का आलेखन है। वक्ष पर 'श्री वत्स' चिह्न सुशोभित है। पैरो के नीचे भाग मे प्रभावाली नागफणमौलि भग्नप्राय है। अलकरण उच्च स्तरीय है।[2]

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ :

यह तीर्थंकर प्रतिमा पद्मासन मुद्रा मे निर्मित है। पत्थर के क्षरण के कारण प्रतिमा की कलात्मकता नष्ट हो गई है।

गोमुख यक्ष :

एक शिल्पखण्ड पर गोमुख यक्ष का शिल्पांकन है। बाए पार्श्व मे चामरधारी और दाएँ पार्श्व मे गज, सिंह एव व्यालाकृतियो का आलेखन मनोहारी है।

अम्बिका :

भगवान नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की यह प्रतिमा आशाधर और नेमिचन्द्र द्वारा वर्णित प्रतिमा लक्षणों के अनुरूप है जिनमें अम्बिका त्रिभग मुद्रा में शिलांकित है। जो अपनी दाहिनी गोद मे प्रियंकर को लिए है। बाई ओर की खडी प्रतिमा द्वितीय पुत्र शुभकर की है। दाए चामरधारी खडा है। चामरधारी के हाथ व पैर एवं मुंह भग्न अवस्था में हैं। अम्बिका, पारम्परिक आभूषणों से कानो में कुण्डल, गले मे माला बाजूबन्ध आदि से युक्त है। ये आलेखन आंशिक रूप में दिखाई दे रहे हैं। यह प्रतिमा निर्मित के समय काफी सुन्दर रही होगी।[3] (शेष पृष्ठ ३२ पर)

---

१. आधुनिक इतिहासकार ऊन के पास बहने वाली नदी को चेलना नदी मानते है तथा पावागिरि को आधुनिक ऊन से समीकृत करते हैं।

२. सम्भवत: इस प्रतिमा का कमर से ऊपर का भाग इन्दौर संग्रहालय मे सरक्षित तीर्थंकर प्रतिमा का ऊर्ध्व भाग होना चाहिए जो ऊन से प्राप्त हुआ है।

३. इन्दौर व विदिशा संग्रहालय में भी इस प्रकार की स्थानक अम्बिका की प्रतिमा संरक्षित है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल—**डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक—**श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा

दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३५ : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९८२

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'अनेकान्त' के जन्मदाता की स्मृति में

'अनेकान्त' और वीर सेवा मन्दिर के जनक, स्वनामधन्य स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर की इसी दिसम्बर मास में मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन १०५वीं जन्म जयन्ती थी और २२ दिसम्बर को उनकी १४वीं पुण्यतिथि थी। वर्तमान शती के इस महापुरुष के ९१ वर्ष के दीर्घ जीवन-काल का बहुभाग, साधिक ७० वर्ष, जैन-धर्म-संस्कृति-साहित्य-समाज की एकनिष्ठ सेवा मे व्यतीत हुआ। इस सम्पादकाचार्य ने, विशेषकर 'अनेकान्त' के माध्यम से, जैन पत्रकारिता को अत्युच्च स्तर प्राप्त कराया। इस समालोचना सम्राट की साहित्य-समीक्षाएं निर्भीक, विस्तृत, तलस्पर्शी तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक होने के कारण अद्वितीय होती थीं। पुरातन साहित्य की शोध-खोज के क्षेत्र मे मुख्तार सा० ने अभूतपूर्व मान स्थापित किये। वह उच्चकोटि के ग्रन्थ-परीक्षक, टीकाकार एवं व्याख्याकार भी थे और समाजसुधार के उद्देश्य मे उन्होंने अनेकों सुविचारित एव उद्बोधक लेख-निबन्धादि भी लिखे। वह सुकवि भी थे और उनकी 'मेरी भावना' तो अमरकृति बन गई तथा बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़ गई। पुरातन आचार्यों की कृतियों की खोज एवं शोध तथा प्रकाशन की दिशा में उनके प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे। 'पुरातन जैन वाक्य सूची', 'जैनग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह', 'जैन लक्षणावली', जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूचियां प्रभृति उनके द्वारा नियोजित एवं सम्पादित सन्दर्भग्रन्थ शोधार्थियों के लिए अतीव उपयोगी रहे है और रहेगे। प्रातः स्मरणीय स्वामी समन्तभद्राचार्य के मुख्तार साहब अनन्य भक्त थे और उनके साहित्य के तलस्पर्शी अध्येता एवं व्याख्याता थे। राष्ट्रीय चेतना के प्रति सजग रहने के कारण उन्होंने सदैव शुद्ध खादी का प्रयोग किया।

'अनेकान्त' और 'वीर सेवा मन्दिर' अपने इस साहित्य-तपस्वी जनक के सजीव स्मारक है। स्व० मुख्तार सा० की अप्रकाशित कृतियों के प्रकाशन तथा प्रकाशित किन्तु अप्राप्य कृतियों के पुन प्रकाशन की आवश्यकता है। श्रद्धेय मुख्तार सा० की उपलब्धियां एवं सेवाएं अविस्मरणीय है।

हम उनकी इस १०५वी जन्म-जयन्ती एव १४वीं पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में उनके प्रति अपनी तथा वीर सेवा मन्दिर एवं अनेकान्त परिवार की ओर से विनयावनत स्मरणाञ्जलि अर्पित करते हैं।

ज्योति निकुञ्ज, —डा० ज्योति प्रसाद जैन
चारबाग, लखनऊ

अपनी बात—

'अनेकान्त' के वर्ष ३५ की अन्तिम भेंट प्रस्तुत करते हुए हमें सन्तोष है कि सभी प्रसंगों में 'अनेकान्त' का स्वागत किया गया है—कई सराहना सूचक संदेश भी मिलते रहे है जिसका समस्त श्रेय सहयोगी-सम्पादक मंडल, विद्वान्-लेखक, प्रकाशक एव संस्था की कमेटी को जाता है—सम्पादक तो भूलों के लिए क्षमा याचक और निमित्त मात्र है। कई प्रसग ऐसे भी आते हैं जिनमें लेखनी फूँक-फूँक कर चलानी पड़ती है फिर भी स्खलित हो जाता है। पाठक और संबंधित महानुभाव इसके लिए क्षमा करें।

जिनेन्द्र देव की आराधना हमें शक्ति दे कि हम भविष्य मे भी बिना किसी पक्षपात के वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन कराने मे समर्थ रह सकें और 'अनेकान्त' अधिक से अधिक उपयोगी बन सभी को सुख-समृद्धि का स्रोत बना रह सके। —सम्पादक

राजस्थान के इतिहास में जैनों का योगदान

☐ इतिहासमनीषी, डा० ज्योतिप्रसाद जैन

राजस्थान का इतिहास मध्यकालीन भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है। इस प्रदेश मे उस लगभग एक सहस्र वर्ष के काल मे अनेक राजपूत राज्यवंशों एव राजपूत राज्यों के प्रभुत्व के कारण ही वह प्रदेश राजपूताना कहलाया। सामान्य इतिहास के पाठक उनमे से प्रमुख राजपूत राज्यवशो और राजपूत नरेशो के नामादि और कतिपय कार्यकलापों से ही परिचित होते है और उनकी यह धारणा बन जाती है कि राजस्थान का इतिहास राजपूतों का ही इतिहास है, वे ही उस प्रदेश के इतिहास के एक मात्र निर्माता है। वस्तुतः, राजपूताने मे स्वय राजपूत एक अल्पसख्यक जाति है और उस प्रदेश की संपूर्ण जनसख्या का एक बहुत बडा भाग राजपूतेतर लोग है। राजपूताने की सपूर्ण जनसख्या को दो भागों मे बाट सकते है—एक तो सभ्य सभ्रान्त एव अपेक्षाकृत अर्वाचीन निवासी है। इनमे गहलोत, चौहान, कछवाहा, राठौर, होडा आदि वशो के राजपूत, बनिये या वैश्य जो प्राय. ओसवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल, श्रीमाल, पोरवाल, बघेरवाल, हूमड, नरसिंह राजपुरा आदि है और अधिकांशत: जैन धर्मावलम्बी रहे है, कायस्थ, चारण या भाट और ब्राह्मण प्रमुख है। दूसरे, राजपूताने के आदिम निवासी अर्धसभ्य जगली, पहाडी, या कृषक जातिया है। इनमे भील, मीने, मेव, जाट, मेढ़ आदि प्रमुख है। राजस्थान के इतिहास के निर्माण मे इन दोनो ही वर्गो की राजपूतेतर जातियों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। राजपूताने का इतिहास इन जातियो का भी उतना ही है, जितना कि स्वय राजपूतो का है।

जैन धर्मावलम्बी मूना नेणसी की मध्यकालीन 'ख्यात' सूरजमल मिश्रण का 'वशभास्कर' (१९वी शती ई०) भाटों और चारणो की विरुदावलियां, जैन पडित ज्ञानचन्द्र की सहायता से रचित कर्नल जेम्सटाड का राजस्थान, जोधपुर के मुंशी देवीप्रसाद का इतिहास, प० गुलेरी जी का ग्रंथ, विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'भारत के प्राचीन राजवंश' म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का 'राजपुताने का इतिहास', आदि ग्रथ राजस्थान इतिहास के प्रधान साधन है। इन ग्रन्थो मे यद्यपि प्रमुख राजपूत राज्यवशों एवं रजवाड़ों के आश्रय से ही राजस्थान के ऐतिहासिक विवरण दिए गए है, तथापि उनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त इतिहास मे राजपूतो के अतिरिक्त जैनी बनियो, चारण, भाटो, कायस्थो तथा ब्राह्मणो का और भील, मीना आदि आदिम जातियों का भी बडा हिस्सा रहा है। सामान्य इतिहास पुस्तको मे अवश्य ही इन राजपूतेतर लोगो का प्राय. कोई उल्लेख नही रहता, अतः सामान्य पाठक भी राजस्थान के इतिहास मे इन जातियो के महत्यपूर्ण योगदान के ज्ञान से वचित ही रहते है। मध्यकालीन इतिहास के एक माने हुए विशेषज्ञ प्रो० के० आर० कानूनगो के लेख 'दी रोल ऑफ नान राजपूत्स इन दी हिस्टरी ऑव राजपूताना (मार्डन रिव्यू फर्वरी ५७ पृ० १०५) मे भी राजपूताने के इतिहास मे राजपूतों के अतिरिक्त जिन चारण, वैश्य और कायस्थ तथा भील, मीना, मेव, मेढ नामक राजपूतेतर जातियों का प्रमुख योगदान रहा है, उन पर सक्षिप्त प्र [illegible]श डाला है।

उपरोक्त जातियो मे से चारण या भाट तो राजस्थान की एक विशिष्ट जाति है और प्रायः उसी प्रदेश में सीमित है। वह जाति राजपूत युग की एक महत्वपूर्ण एवं दिलचस्प विशेषता है। राजपूतों के साथ उसका चोली-दामन का साथ रहा है। चारण या भाट राजपूती सभ्यता और सस्कृति के अभिन्न अंग रहे है। कायस्थ और वैश्य, दोनो जातियों की प्रशंसा और प्रतिष्ठा भी खूब हुई है और निन्दा भी काफी की गई है। अपनी प्रशासकीय एवं व्यापारिक बुद्धि के कारण वे अपरिहार्य रहे हैं और भारतवर्ष में

सदैव एवं सर्वत्र विद्यमान रहे हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन मे तथा उस प्रदेश के इतिहास के निर्माण में उन दोनों जातियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

डॉ० कानूनगो के शब्दो मे "राजपूतों मे सामान्यतया शारीरिक बल की ही प्रधानता रहती थी, युद्ध और शाति दोनो ही अवसरो के उपयुक्त बुद्धि का उनमे प्रायः अभाव रहता था। मेवाड के राणा कुंभा और सांगा, जयपुर के मानसिंह और जयसिंह द्वय, जोधपुर के दुर्गादास और कोटा के जालिमसिंह इस नियम के इने गिने अपवाद ही है। राजपूत तो मुख्यतया एक छीन-झपट करने वाला योद्धा था, शासन प्रबन्ध की योग्यता का उसमे अभाव था। राजपूती इतिहास के पीछे जो कुछ बुद्धि दृष्टिगोचर होती है वह अधिकांशतया वैश्यो एव कायस्थों की और कुछ अशों में ब्राह्मणों की है। राजपूताने का यथार्थ इतिहास तब तक नही लिखा जा सकता जब तक कि इन राजपूतेतर लोगो के जिन्होंने राजपूत राज्यों के ऊपर शासन किया था और जिनके हाथ में उनका सपूर्ण नागरिक प्रशासन था, पारिवारिक आलेखो की भली-भांति शोध-खोज नही की जाती। इतिहास ने अब तक केवल राजपूतों को जो गौरव प्रदान किया है, उसके एक बड़े भाग के न्याय अधिकारी ये लोग थे। राजपूत संगीत आदि का तो प्रेमी होता था, किन्तु हिसाब-किताब प्रशासकीय, योग्यता, उद्योग और मितव्ययिता का उसमें प्रायः अभाव ही होता था। इसके विपरीत वैश्य, और कायस्थ में ये सब गुण तो होते ही थे, अवसर पड़ने पर वह सफल योद्धा और कूटनीतिज्ञ भी सिद्ध होते थे। इसके अतिरिक्त राजपूत नरेश राजनीतिक एव आर्थिक विभागों में किसी अन्य राजपूत के परामर्श पर प्राय. कभी भी भरोसा नहीं करते थे। अतः राजपूत राज्यो मे राज्य के प्रधान या मुख्यमन्त्री का पद अनिवार्य रूप से वैश्य या कायस्थ के हाथ मे रहता था। अधिकांश राजपूत जागीरदारों कामदार भी वैश्य या कायस्थ ही होते थे। नैणसी मूता की बात के अनुसार राजपूतों मे एक उक्ति प्रचलित थी कि 'यदि अपने भाई को प्रधान बनाओ तो इससे अच्छा है कि राज्य से हाथ धो बैठो।' यह उक्ति राजपूतों की बुद्धिमत्ता को चरितार्थ करती है। विचक्षण एव विश्वासी वैश्य आदि को प्रधान पद पर नियुक्त करने का एक और भी कारण था। रणयात्रा के समय यदि स्वयं राजा या युवराज सेना का नायकत्व नही करता था, तो अन्य राजपूत सरदार किसी राजपूतेतर प्रधान की अधीनता में तो सहर्ष कार्य कर सकते थे किन्तु अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी कुल के मुखिया का सेनापति होना कभी भी स्वीकार नही कर सकते थे। प्रत्येक ठिकाने में भी यही दशा थी। कर्नल टाड द्वारा उल्लिखित कोठारी भीमजी महाजन अपरनाम बेगू ही राजपूताने मे इस बात का अकेला उदाहरण नही था कि जन्म से वनिये की दुकान मे आटा तोलने वाला व्यक्ति दोनों हाथो मे तलवारे सूतकर राजपूतो की बहादुरी को भी लज्जित कर सकता था और शत्रु की पंक्तियों को तोड़ कर युद्धभूमि मे वीरगति प्राप्त कर सकता था।'

राजपूताने के इन वैश्य अथवा जैन वीरों में सर्वप्रथम भामाशाह का कुटुम्ब उल्लेखनीय है। सपूर्ण राजस्थान मे भामाशाह का नाम आज भी उसी स्निग्ध स्नेह और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है जैसे कि महाराणा प्रताप का। वह कापडिया-गोत्रीय ओसवाल जैनी महाजन भारमल का पुत्र था। भारमल को महाराणा सागा ने रणथम्भौर के अत्यन्त महत्वपूर्ण दुर्ग का दुर्गपाल नियुक्त किया था, और वह उस पद पर तब तक आरूढ रहा जब तक कि उस दुर्ग पर कुमार विक्रमाजीत के अभिभावक के रूप मे उसके मामा बूदी के सूरजमल हाडा का अधिकार नही हो गया। भारमल के दोनों पुत्र, भामाशाह और ताराचन्द्र दुर्धर योद्धा एवं निपुण प्रशासक थ। वे दोनों ही हल्दीघाटी के प्रसिद्ध युद्ध मे महाराणा प्रताप की अधीनता मे वीरता पूर्वक लड़े थे। राणा प्रताप ने महासनीराम के स्थान में भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया और ताराचंद्र को गोद्वार प्रदेश का अध्यक्ष बनाया था। महाराणा की विपन्नावस्था मे भामाशाह ने सम्राट अकबर के मालवा के सूबे पर आक्रमण किया और वहां से बीस लाख रुपया और बीस हजार अशर्फी लूटकर महाराणा को अर्पित कर दी। अकबर के अत्यन्त विचक्षण राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ मंत्री अब्दुर्रहीम खानखाना ने नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा भामाशाह को फुंसलाने और मुगल सम्राट की सेना में आ जाने के लिए जी तोड़ प्रयत्न किया, किन्तु भामाशाह

तानाजी मालसुरे नहीं था, जो कि शिवाजी का सर्वाधिक वीर एवं विश्वस्त सेनापति होते हुए भी कुछ काल के लिए अपने स्वामी का परित्याग करके मुसलमान बन गया था। मुगलों के साथ होने वाले राणा प्रताप के अन्तिम युद्धो मे भामाशाह ने चूडावत और शेखावत सरदारों के साथ, विशेषकर दिवर की लड़ाई मे, प्रमुख भाग लिया था। राणा अमर सिंह के समय मे भी २६ जनवरी सन् १६०० ई० मे अपनी मृत्यु पर्यन्त, वीर भामाशाह मेवाड़ का प्रधान बना रहा। मरते समय उसने अपनी पत्नी को यह आदेश दिया था कि वह उसकी मृत्यु के बाद महाराणा को वह पोथी सौंप दे जिसमे भामाशाह ने मेवाड़ के भूमिस्थ खजानो का ब्यौरा लिख रखा था और जिनका रहस्य उसके स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी व्यक्ति नही जानता था। डॉ० कानूनगो कहते है कि उस प्रसिद्ध मराठा राजनीतिज्ञ नाना फाडनीस के प्रतिपक्ष मे यह कितना श्रेष्ठ एवं उदात्त उदाहरण है। नाना फाडनीस ने राजकीय कोष का विपुल धन छुपा रखा था और उसे उसने अपने निजी लाभ के लिए ही व्यय किया था और मरते समय उस खजाने की विवरण पुस्तिका भी वह विरसे के रूप मे अपनी विधवा को ही सौंप गया था।

भामाशाह का छोटा भाई ताराचन्द प्रसिद्ध योद्धा था। उसकी शूरवीरता एवं रणकौशल की कीर्ति चहुं ओर फैल गई थी। उस तूफानी युग के किसी भी राजपूत वीर की अपेक्षा इस जैन वीर ने जीवन का अधिक आनन्द, वैभव और गौरव के साथ उपभोग किया। अपने निवास स्थान सदुरी में उसने एक विशाल उद्यान के मध्य अत्यन्त सुदर भवन (बारादरी) और एक बावडी निर्माण कराई थी। उक्त बावडी के निकट स्वयं ताराचद की, उसकी चार पत्नियों की, उसकी कृपापात्र खवास की, छः नर्तकियों की और सपत्नीक उसके संगीताचार्य की सुन्दर प्रस्तर मूर्तिया स्थापित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस जैनी ओसवाल बनिए ने वैभवपूर्ण जीवन-यापन की कला में उस काल के मुगल अमीरो को भी मात दे दी थी। भामाशाह की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्र जीवाशाह राणा अमरसिंह के प्रधान बने उनके उपरान्त उनके पुत्र अक्षयराज राणा कर्णसिंह के समय में मेवाड राज्य के प्रधान रहे।

महाराणा राजसिंह प्रथम के समय संघवी दयालदास राज्य के प्रधान थे। जिन दिनों सम्राट औरंगजेब के साथ राजपूतो के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध चल रहे थे उस काल में संघवी दयालदास राणा राजसिंह के दाहिने हाथ और प्रधान स्तम्भ इसी प्रकार के थे जिस प्रकार कि महाराणा प्रताप के लिए भामाशाह रहे थे। दयालदास के पिता महाजन राजू थे जिनके पूर्वज सिसोदिया क्षत्री थे। शांतिपूर्ण जैनधर्म मे दीक्षित होने के उपरान्त वे वणिको की ओसवाल जाति मे समाविष्ट हो गए थे। संघवी दयालदास के वीरतापूर्ण एव राजनीतिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य-कलाप, इतिहास-प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने राजसमुद्र झील के तट पर विपुल द्रव्य व्यय करके श्वेतमर्मर का अत्यन्त भव्य आदिनाथ जिनालय निर्माण कराया था। मेहता अगरचन्द के पूर्वज सिरोही राज्य के देवरावशी चौहान शासक थे। एक प्रसिद्ध जैन संत ने उसमे से एक जैनधर्म मे दीक्षित कर लिया था अत. उसके वंशज ओसवाल जाति मे समाविष्ट हो गए, जो राजस्थानी जैन वणिको की एक प्रमुख जाति थी। अगरचन्द्र मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के प्रधान थे। उनके पश्चात उनके पुत्र देवीचन्द्र राज्य के प्रधान बने।

सेठ जोरावलमल बाफना का परिवार राजपूताना का धन कुबेर परिवार था। अमेरिका के प्रसिद्ध धनकुबेर राकचाइल्ड परिवार से उनकी तुलना की जाती है। इनके पूर्वज मूलतः परिहार राजपूत थे। ब्राह्मण धर्म का परित्याग करके जैनधर्म मे दीक्षित होने के कारण उन्होने वणिक वृत्ति अपना ली थी और ओसवाल जाति में सम्मिलित हो गए थे। जब कर्नल जेम्सटाड मेवाड़ के पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त होकर आए तो उन्होंने तत्कालीन नरेश महाराजा भीमसिंह को यह परामर्श दिया था कि वे अपने दीवालिया राज्य की साख एवं आर्थिक स्थिति का पुनरुद्धार करने के लिए इन्दौर से सेठ जोरावरमल को आमन्त्रित करें। अत. घाटे का सौदा होते हुए भी जोरावरमल ने उदयपुर में अपनी गद्दी स्थापित कर दी। असहाय महाराजा ने सेठ जी से कहा कि आप मेरे राज्य का समस्त प्रशासकीय एव राजकीय दाय अपनी कोठी से भुगतान करें और राज्य की समस्त आय आपके यहाँ जमा

होती रहेगी। सेठ ने मानो जादू कर दिया। थोड़े ही समय में मेवाड़ राज्य के घाटे के बजट को उन्होंने पर्याप्त बचत के बजट में परिवर्तित कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होने महाराणा की विपुल व्यय-साध्य गया जी की तीर्थ-यात्रा की भी पूर्ति कर दी और राणा के ऊपर जो भारी आभार थे उनसे भी उन्हें मुक्त करा दिया। राणा के ऊपर अकेले स्वयं जोरावरमल का ही बीस लाख रुपये ऋण था। सेठ जोरावरमल बाफना की यह प्रशंसनीय सफलता इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जो व्यक्ति एक व्यापारिक संस्थान का उत्तमता के साथ प्रबंध कर सकता है, वह एक राज्य की अर्थव्यवस्था को भी सफलता पूर्वक सम्हाल सकता है तथा एक नम्र वणिक उन न्याय-विरोधी तत्वों का तथा राज्य के भ्रष्टाचारी कर्मचारियो का, जो कि भूमि एवं व्यापार से होने वाली राजकीय आय के राजकीय कोष में प्रवाहित होते रहने मे बाधक होते हैं, सफलतापूर्वक दमन करने मे जबर्दस्त सिद्ध हो सकता है।

मेवाड़ की राजनीति मे गाधी वंशजो ने भी महत्वपूर्ण भाग लिया। सोमचन्द्र गाधी ने षडयत्र द्वारा भीमसिंह के समय मे प्रधान पद प्राप्त किया था और छल-बल से ही वह उस पर आरूढ़ रहा। उसमे राजनीतिक दूरदर्शिता एवं कूटनीतिक योग्यता भी पर्याप्त थी। बहुत समय तक उसने मराठों को मेवाड मे घुसने नही दिया और राजपूताने में मराठो के प्रभुत्व की जीत का प्रतिरोध करने मे भी सफल रहा। अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए उसने चूडावतों और शक्तावतों की वंशगत प्रतिद्वन्द्वता की अग्नि को और अधिक भड़काया। फलस्वरूप रावत अर्जुनसिंह चूड़ावत के महलों में ही सोमचन्द्र का वध कर दिया गया। उसके पुत्र सतीचन्द्र ने चूडावतो से पिता की हत्या का बदला लेने के उन्मत्त प्रयत्न मे मेवाड़ के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

मेवाड़ में ही नही, मारवाड़ में भी इन राजपूतेतरों, अर्थात् जैन बनियों ने पर्याप्त महत्वपूर्ण भाग लिया था। महाराज जसवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात जब राठौर दुर्गादास विश्वासघाती औरंगजेब की सेनाओ के व्यूह को भेदकर शिशुमहाराज अजितसिंह को लेकर दिल्ली से निकले थे उस भयंकर युद्ध में जैन वीर मुहताविसन राजपूतों के साथ ही साथ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। राठौर दुर्गादास के प्रधान परामर्शदाताओं, सहायको और सरदारों मे आसकरन, रामचन्द्र, दीपावत, खेमती का पुत्र सावतसिंह, जगन्नाथ का पुत्र हेमराज आदि भंडारी देसीय जैन वीर थे। इन लोगो की सहायता से ही राजस्थान ने औरगजेब कालीन लम्बे राजपूत युद्ध में मुगल साम्राज्य के छक्के छुडा दिये थे। भडारी खीमती महाराज अजितसिंह का अत्यन्त विश्वासी सामन्त था। सैयद बन्धुओं के साथ महाराज के कूटनीतिक संबंध उसी के द्वारा निष्पन्न हुए थे। अजमेर पर अधिकार होने पर अजितसिंह ने उस महत्वपूर्ण दुर्ग मे भंडारी विजयराज और मुहनोत सांगों की नियुक्ति की थी। अहमदाबाद के बाहर महाराजा अभयसिंह ने हैदरकुली खा की बर्बर सेना पर आक्रमण किया था तो उन्होंने अपनी सेना के दक्षिण पक्ष का सेनाध्यक्ष भडारी विडैराज को नियुक्त किया था और वाम पक्ष स्वय अपने छोटे भाई राजकुमार बख्तसिंह को सौपा था। मध्य भाग का नेतृत्व स्वयं महाराज कर रहे थे, और उनकी सहायता जो प्रधान सेनानायक और सरदार कर रहे थे उनमे भडारी वश के गिरधर, रतन, डालो, धनस्थ, विजेराज सेतासियोत, सामलदास लूनवत, अमरोदेवावत, लक्ष्मीचन्द्र, माईदास, देवीचन्द्र, सिघवी अचल, जोधमल और जीवन, मुहतावंश के गोकुल, सुन्दर दासोत, गोपालदास, कल्यानदासोत, देवीसिंह, मेघसिंह, रूपमालोत तथा मोदी पाथल, टीकम आदि प्रमुख वणिक जैन वीर थे।

इसी प्रकार अम्बर (जयपुर), बीकानेर, कोटा, बूदी, अलवर, सिरोही आदि राजस्थान के अन्य राजपूत राज्यों मे भी न केवल समृद्ध व्यापारी वर्ग, नगरसेठ, राज्यसेठ आदि के रूप मे वणिक जाति उन राज्यो की आर्थिक उन्नति और समृद्धि का प्रधान साधन रही वरन् प्रधान, दीवान, मत्री, दुर्गपाल, जिलाधीश, सेनानायक आदि अनेक उच्च राजकीय पदो पर रह कर उनके प्रशासन, राजनीतिक जीवन मे भी उनके योगदान महत्वपूर्ण रहे है। इतिहास का अर्थ मात्र राजा-महाराजाओं की जय-पराजय

(शेष पृष्ठ ६ पर)

ब्रह्मजिनदास की तीन अन्य रचनाएं

□ श्री अगर चन्द नाहटा

डा० प्रेमचन्द रांवका का शोधप्रवंध "महाकवि ब्रह्मजिनदास व्यक्तित्व एव कृतित्व" के नाम से श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा सन् ८० में प्रकाशित हुआ है। जिसके सम्बन्ध मे मेरा एक लेख 'अनेकान्त' जनवरी-मार्च ८२ के अक मे प्रकाशित हो चुका है।

अभी-अभी उस नागौर के भट्टारकीय ग्रन्थ-भण्डार की सूची का पहला भाग डा० प्रेमचन्द जैन के सम्बन्धित 'सैण्टर फॉर जैन स्टडीज, यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान' जयपुर द्वारा सन् ८१ मे प्रकाशित हुआ है। इसमें नागौर के उक्त भण्डार की १८६२ प्रतियों की विषय-विभाजित सूची दी गई है। जबकि मूल-भण्डार में १५ हजार हस्तलिखित प्रतियां व दो हजार गुटके होने का उल्लेख है अर्थात् समस्त प्रतियों की सख्या को देखते हुए यह करीब दसवें भाग की ही सूची है।

प्रकाशित सूचीपत्र को सरसरी तौर मे देखने पर बहुत सी असावधानियां भी ज्ञात हुई, जिनके सम्बन्ध में यथावसर प्रकाश मे लाया जाएगा। यहां तो केवल 'ब्रह्म जिनदास' की रचनाओं का इस सूची मे उल्लेख है, उन्हीं के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए इस शोध-प्रवन्ध में जिन रचनाओं का उल्लेख नहीं हुआ है उन्हीं का विवरण प्रकाशित किया जा रहा है।

उक्त सूची मे 'ब्रह्म जिनदास' की ११ रचनाओं का विवरण है। इनमे मे पहले की ६ हिन्दी की एव अन्तिम २ सस्कृत की बतलाई गई है।

१. न. ३६८ अनन्तव्रत-कथा, गाथा १७२ पत्र-५ हिंदीभाषा
२. न. ३६२ आकाश पचमी कथा, गा० १२० पत्र-४ "
३. न. ३६३ अक्षय दशमी व्रतकथा, गा० ३११ पत्र-४ "
४. न. ४०८ दश-लक्षण कथा, पत्र-३ "
५. न. ४२३ निर्दोष-सप्तमी कथा, गा० १०६ पत्र-१५ "
६. न. ४३२ पुष्पाजलि कथा, गा० १६१ पत्र-४ "

वास्तव मे इनकी भाषा गुजराती, राजस्थानी है, पर इस भाषा से हिन्दी अलग है पर बहुत से विद्वान नहीं समझ पाते।

अब मै सुगन्ध दशमी कथा जिसका उल्लेख करना लेखक से छूट गया है, पर नागौर भण्डार सूची मे इसका जो विवरण दिया है, वह मैं नीचे दे रहा हूं।

न. ४६१ सुगन्ध दशमी कथा—ब्रह्मजिनदास। देशी कागज। पत्र सख्या ८। आकार १३॥ × ८॥" दशा सुन्दर पूर्ण। भाषा हिन्दी। लिपि नागरी। ग्रन्थ सख्या-२६०८। रचनाकाल-×। लिपिकाल-आश्विन कृष्णा १० मंगलवार स० १६४५।

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

का विवरण नहीं होता, वह तो राजा-प्रजा, शासक वर्ग और जनता, संपूर्ण जाति का इतिवृत्त होता है। राजस्थान का इतिहास भी राजस्थान के राजपूतों का ही नहीं वरन् राजपूतेतर जातियों का भी इतिहास है, जो उसके सास्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के साधक एव अंग नहीं थे और इसमे संदेह नहीं है कि इन जातियों में राजस्थान की ओसवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल आदि वैश्य जातियों, जो संयोग से अधिकांशतः जैनधर्मावलंबिनी थी, प्रमुख रही है। आज जबकि मध्यकालीन राजपूत योद्धा एक किस्से-कहानियों की वस्तु रह गया, उसकी दुनिया बिल्कुल उलट-पुलट गई है, राजस्थान से विकसित ये वणिक जातियाँ अपनी साहसिक व्यापारिक प्रवृत्तियों द्वारा राजस्थान की आत्मा को नवीन युग के नवीन वातावरण मे भी सजीव बनाए हुए है।

नोट—विशेष जानकारी के लिए देखिए भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हमारी पुस्तकें—'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' (द्वि. स.) तथा 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं।'

—चार बाग, लखनऊ

खोज करने पर विदित हुआ कि प्रस्तुत सुगन्ध दशमी कथा सन् १९६६ में डा० हीरालाल जैन सम्पादित एव भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'सुगन्ध दशमी कथा' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ५१ से ६४ तक मे प्रकाशित भी हो चुकी है। डा० हीरालालजी ने इसकी भाषा स्पष्टत गुजराती बतलाई है। और नव भाषो-ढालो मे यह विभक्त है। इसके आदि अन्त के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे है—

आदि—

पच परम गुरु, पच परम गुरु। प्रणमेपु।
सरस्वति स्वामीणमि विनवु सकल कीरति गुणसार।
भुवन कीरति गुरु उपदेस्यु करस्यु रास निरभर।
सुगध दशमि कथा रुवडी, ब्रह्म जिनदास भणे सार।
भवियण जन सबोधवा, जिमि होइ पुण्य विस्तार।

अन्त—

श्री सकलकोरति प्रणमिजइ, मुनि भुवन कीरति भवतार।
रास कियो मे निरमलो, सुगध-दशमि सविचार ॥४२॥
पढ़ै गुणै जे साभलै, मनि धरइ अति भाव।
ब्रह्म जिनदास भणे सवडो, ते पामै सुख-ठाव ॥४३॥

आश्चर्य है कि १९६६ मे रचित इस रचना का उल्लेख भी डा० रावका ने नही किया।

अब सस्कृत की इन दो रचनाओं का विवरण नागौर भण्डार सूची से दिया जा रहा है जिनका उल्लेख उक्त शोध-प्रबध मे, सस्कृत के दिए हुए ग्रन्थों की सूची मे नही है।

, ४३६ बकचूल कथा—ब्रह्म जिनदास देशी कागज। पत्र सख्या-५। आकार १०॥×४१॥"। दशा प्राचीन। पूर्ण। भाषा संस्कृत। लिपि नागरी। ग्रन्थ संख्या २७२६। रचना काल-×। लिपिकाल-×। विशेष-श्लोक सख्या १०६ हे।

८६२—होल रेणुका चरित—पं० जिनदास। देशी कागज। पत्र सख्या-४६। आकार १०॥।×५"। दशा-जीर्ण-क्षीण। पूर्ण। भाषा सस्कृत। लिपि नागरी। ग्रन्थ सख्या-१५७३। रचनाकाल-×। लिपिकाल-×।

नागौर भण्डार सूची का अभी पहला भाग ही छपा है। अत: अन्य आगे के भागो मे भी ब्रह्म जिनदास की और रचनाएँ हो सकती है। इसी तरह अन्य भण्डारों की सूचियों में भी इस कवि की अन्य बहुत-सी रचनाएँ मिलेगी। कई रचनाओ के नाम तो मैने देखे भी है पर नोट नही किए। न अन्य भण्डारो की प्रकाशित सूचियां देखने का ही समय मिला है। अतः मेरा तो यही लिखना है कि नागौर भण्डार के प्रकाशित उक्त शोध-प्रबन्ध को पूरा नही समझा जाय और कवि की अन्य रचनाओ व प्रतियो की खोज जारी रखी जाय, जिससे नई जानकारी प्रकाश मे आती रहे।

वास्तव मे तो कवि ने लम्बे काल तक साहित्य-सृजन किया है। अत. छोटी-बड़ी शताधिक रचनाए प्राप्त होगी। उनका एक सग्रह-ग्रन्थ हमारे 'समय सुन्दर कवि कुसुमाजलि' की तरह प्रकाशित होना चाहिए। जिससे कवि की रचनाओं का समुचित मूल्याकन हो सके।

यहा यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हू कवि की रचनाओं की भाषा हिन्दी लिखी व मानी जाती है पर वास्तव मे वह तत्कालीन राजस्थानी व गुजराती ही है क्योंकि कवि का विचरण क्षेत्र ये दोनो प्रान्त रहे हे और उसमे भी गुजराती का प्रभाव अधिक है।

डा० हीरालाल जैन ने सुगन्ध दशमी कथा की प्रस्तावना पृष्ठ २० ब्रह्म जिनदास ने ३७ रचनाओ के नाम दिये है उनमे से—

१. बागश्री २. जोगी ३. जीवदया ४. श्रेणिक ५. करकुण्डु ६. प्रद्युम्न ७. कलश दशमी ८. मद्रसप्तमी भ. अष्टाह्निका १०. श्रावण द्वादशी ११. श्रुति स्कध के नाम डा० रावका के शोध-प्रबन्ध मे नहीं पाए जाते उनकी प्रतियो की खोज होनी चाहिए। इस तरह खोजने पर और भी बहुत-सी रचनाओं के नाम प्राप्त होने सम्भव है क्योंकि कवि ने दीर्घ आयु पाई सस्कृत एव गुजराती मे छोटी-मोटी अनेको रचनाएँ करते ही रहे है। जिन प्रदेशो मे कवि का विचरण अधिक हुआ है उन प्रदेशों एव आस-पास के भडारो मे तथा कवि के गुरू सकलकीर्ति का भण्डार एव प्रभाव जहा अधिक रहा होगा वहा भी खोज की जानी चाहिए।

७. न. ४६२ लब्धि-विधान गाथा १६६ पत्र-५ हिंदी भा. व्रत कथा
८. न. ४६१ सुन्ध दशमी कथा गा. × पत्र-८ ,,
९. नं. ९१३ सम्यक्त्वरास पत्र-३ ,,

(शेष पृ० १२ पर)

(गतांक से आगे)

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक चित्रण

डा० राजाराम जैन

लोकाचार एवं अन्ध विश्वास

भारतीय-जीवन मे लोकारूढियों एव अन्ध विश्वासो का अपना विशेष महत्व रहा है। इष्टजनों के स्वागत अथवा विदाई के समय उनके प्रति लोक विश्वासो के आधार पर श्रद्धा-समन्वित भावना से कुछ कर्तव्यकार्य किये जाते है। इनमें दही, सरसों (सिद्धार्थ), दूर्वादल एवं मंगल कलश जैसी उपकरण सामग्रियो का प्रयोग किया जाता था।

महाकवि पुष्पदन्त ने चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय यात्रा से लौटने पर लिखा है कि "—उस समय जनसमूह आनन्द विभोर हो उठा, राजमार्ग केशर से सींच दिया गया, कपूर की रंगोली पूरी जाने लगी, दूर्वादल, दही एव सरसो से स्वागत की तैयारी की जाने लगी'। सर्वत्र वन्दनवार सजाये जाने लगे।" मेहेसर चरिउ 'मे मगलाचार, मन्त्राचार, गीत-नृत्य आदि की भी चर्चाए आई है[२]।

शकुन-अपशकुन

शकुन-अपशकुन जन-जीवन की आस्थाएव विश्वास के प्रमुख तत्व है। अपभ्र श काव्यो मे उनके प्रसग प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। स्त्री का दाया एव पुरुषो का बाया नेत्र फरकना, बाल खोले हुए स्त्री का रोना, कौए का विरस बोलना, सियार का रोना, या लगडा कर चलना, गधे का रोना, नक्षत्रो का टूटना, मृग का दायी और भागना इन्हे कवियो ने अपशुकन की कोटि मे रखा है[३]।

स्वप्न मे धरती का कम्पन, मूर्ति का हिलना, आकाश मे कबन्ध का नृत्य, राजछत्र का टूटना, दिशाओं का जलना दिखाई देना आदि को अपशुकन कहा गया है[४]।

मेहेसर चरित मे एक प्रसंग में कहा गया है कि सुलोचना जब अपने प्रियतम मेघेश्वर के साथ ससुराल के लिये प्रस्थान करती है तब मार्ग मे गगा तट पर विश्राम करती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह स्वप्न देखती है कि एक कल्पवृक्ष गिर रहा है, और उसे कोई सम्हालने का प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरे स्वप्न में वह नाना मणिरत्नों से लदे हुए जहाज को समुद्र मे डूबते हुए देखती है। प्रातःकाल जब वह अपने प्रियतम से इन स्वप्नो का फल पूछती है तब मेघेश्वर उन्हें दुःख स्वप्न कह कर भयकर भविष्य की भूमिका बतलाता है[५]।

'सिरिवाल चरिउ' मे एक स्थान पर शुभ-स्वप्न की चर्चा आई है। चम्पानरेश अरिदमन की महारानी कुन्दप्रभा रात्रि के अन्तिम प्रहर मे दो स्वप्न देखती है। प्रथम मे वह सुवर्णांचल का दर्शन करती है और दूसरे मे फलो से लदे हुए कल्पवृक्ष का। वह प्रातःकाल ही अपने पति से स्वप्नफल पूछती है तो पति उसे शीघ्र ही सुन्दर पुत्ररत्न की प्राप्ति की सूचना देता है[६]।

आमोद-प्रमोद

अपभ्र श-काव्यो मे आमोद-प्रमोद एव मनोरंजन की दो प्रकार की प्रथाएँ देखने को मिलती है, एक तो वे, जिनका सम्बन्ध राजघरानो से था और दूसरी वे, जिनका सम्बन्ध जन-साधारण से था।

राजघरानो मे नृत्यगान-गोष्ठिया आखेट जल-क्रीड़ा तथा उपवन-क्रीडा प्रधान है। नृत्य-गान दोनों ही प्रकार के होते थे, शास्त्रीय भी एव लौकिक भी। पुष्पदन्त ने सगीत के भेद-प्रभेदो की भी चर्चा की है[७] जो भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र अध्याय (४, ५, ११) से पूर्णतया प्रभावित है। स्वयम्भूकृत पउमचरिउ मे भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते है[८]।

जन-साधारण मे दोलाक्रीड़ा, रासलीला चर्चरी, द्यूत-क्रीड़ा, साले-सालियों से हसी-मजाक आदि के उल्लेख मिलते है। नट-प्रदर्शन के प्रसग भी प्राप्त होते है। पुष्पदन्त ने लिखा है कि नागकुमार द्यूतक्रीड़ा में बड़ा दक्ष था, उसने उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति से मा के गहने बनवाये थे[९]। हरिवश चरित में वस्त्राहरण का उल्लेख भी मिलता है[१०]।

आर्थिक परिस्थितियां

अपभ्रंश-काव्यों में प्रायः समृद्ध समाज का ही वर्णन मिलता है। अतः दीन-हीन एव दरिद्रता प्रताड़ना से पीड़ित जन इसमें क्वचित् कदाचित् ही दिखाई पड़ते हैं।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी कई मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं। महाकवि रइधू ने 'हरिवश चरिउ' के द्वारका-दहन प्रकरण मे बताया है कि जब द्वारका अग्नि की भयकर लपटो मे व्याप्त थी तब कृष्ण एव बलदेव नगर के बाहर चले जाते है। चलते-चलते वे एक बन मे पहुचते है। वहा कृष्ण को भूख सताने लगी। बलदेव उनकी व्याकुलता देख कर तड़प उठते है और उन्हे एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठाकर समीपवर्ती किसी नगर से अपने सोने के कड़े के बदले मे पुआ खरीदकर ले आते है[११]।

'धण्णकुमार चरिउ' मे प्राप्त एक प्रसगानुसार धन्य-कुमार एक ईधन सहित बैलगाड़ी के बदले मे भेड़े खरीदता है तथा उन्ही भेड़ो के बदले मे पुनः पलग के चार पाये खरीद लेता है। धण्णकुमार चरिउ मे ही एक अन्य प्रसग के अनुसार धन्यकुमार अपने पिता से ५०० दीनारे लेकर व्यापार प्रारम्भ करता है तथा सर्वप्रथम उनसे ईंधन भरी एक बैल गाडी खरीदता है[१२]।

मजदूरी के बदले मे वस्तु के देने का उल्लेख मिलता है। अकृतपुण्य नामक एक मजदूर अपनी मजदूरी के बदले मे चने की पोटली प्राप्त करता है[१३]।

उक्त प्रसगो से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

१. वस्तुओ के बदले मे वस्तुओं का क्रय
२. मजदूरी के बदले मे अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुओ का प्रदान तथा
३. सिक्कों के बदले मे वस्तुओ का क्रय।

बेची जाने वाली बाजार की वस्तुओं में मिलावट

बाजारों मे बेची जाने वाली अच्छी वस्तुओं मे पुरानी एवं कम कीमत वाली वस्तुओं की मिलावट की इक्की-दुक्की चर्चा भी अपभ्रंश-काव्यो मे आती है। पउमचरिउ के अनुसार जब हनुमानजी किष्किन्धापुरी के बाजार मे निकलते है तब उन्होने एक दूकान पर तेल मिश्रित घी देखा था[१४]।

द्रव्य-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के साधन

सोना, चांदी आदि द्रव्य सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के आज जैसे साधन बैंक आदि उस समय न थे। अध्ययन करने से पता चलता है कि लोग उसे जमीन या दीवाल में गाड़कर या पलग के पायों आदि मे बन्दकर रखतें थे। धण्णकुमार चरिउ के एक प्रसंग मे बताया गया है कि उसने बाजार से जो पलंग के पाये खरीदे थे और घर पर उसकी मा जब उन्हें साफ करने लगी तब उनमे से उसे अनेक कीमती मणि-रत्नो की प्राप्ति हुई साथ ही एक शुभ्र-पत्र भी मिला जिसके अनुसार पत्रवाहक को उस नगर का राज्य मिलना था[१५]।

ग्रन्थों का प्रतिलिपि कार्य

अपभ्रंश काव्यो मे ग्रथ प्रणयन का जितना महत्व है उतना ही महत्व ग्रन्थो की प्रतिलिपियो का भी मानाँ गया है, क्योंकि मुद्रणालयों एव लिखने सम्बन्धी सुकर-सामग्रियों के अभावो में प्रतिलिपि कार्य बड़ा ही श्रमसाध्य समय साध्य एव धैर्य का कार्य माना गया है।

धण्णकुमार चरिउ[१६] मे इसीलिए त्यागधर्म के अन्तर्गत आर्थिक सहायता देने के साधनो मे 'ग्रथ-प्रतिलिपि' को भी स्थान दिया गया है। पुष्पदन्त ने महामात्य भरत के राज-महल मे ग्रथ प्रतिलिपियों की चर्चा की है[१७]। सोलहकारण-पूजा एव जयमाला मे भी कवि रइधू ने ग्रथ प्रणेता एव ग्रन्थ के प्रतिलिपिक को समकक्ष रखा है[१८]।

प्रतिलिपिक भी यह कार्य बड़ी श्रद्धा एव अभिरुचि के साथ करते थे क्योंकि उन्हे यह साहित्य-सेवा भी थी तथा आजीविका का साधन भी।

मध्यकालीन समुद्र यात्रा

अपभ्रंश काव्यों से विदित होता है कि मध्यकाल मे विदेशो से भारत के अच्छे सम्बन्ध थे। यातायात के साधनों मे जलमार्ग प्रमुख था। सार्थवाह बड़े-बडे जहाजों अथवा नौकाओ मे व्यापारिक सामग्रिया भरकर कुंकुमद्वीप, सुवर्ण-द्वीप, हसद्वीप, रत्नद्वीप, गजद्वीप, सिंहलद्वीप आदि द्वीपों में जाकर लेन-देन का व्यापार करते थे।

समुद्री-यात्राओं का विशेष वर्णन करने वाले दो काव्य प्रमुख है भविसयत्त कहा एव सिरिवाल चरिउ। इन रच-नाओं के कथानक इतने सरस एवं मनोरंजक हैं कि उनकी लोकप्रियता का पता इसीसे लग जाता है कि विभिन्नकालों एवं विभिन्न भाषाओ मे इन पर दर्जनों रचनाए लिखी गईं।

महाकवि रइधू ने श्रीपाल की विदेश यात्रा के बहाने यात्रा के लिए अत्यावश्यक सामग्री, विदेशों में ध्यान देने

योग्य बातों एव समुद्री-यात्रा की कठिनाइयों, आदि का वर्णन किया है। धवल सेठ जब समुद्री-यात्रा का आरम्भ करता है तब उसके पूर्व वह अपने साथ चलने के लिए दस सहस्र सुभटों को निमन्त्रित करता है तथा ध्वजा, छत्र, लम्बे-लम्बे बांस, बड़े-बड़े वर्तन, ईधन, पानी, बारह वर्ष तक के लिए सभी साथियो के लिए अनाज, विविध-खाद्य, तिल-तेल, चन्दन आदि सामग्रिया तैयार करता है[१९]।

जहाज मे बैठते समय यात्री अपने सिर पर लोहे की टोपी धारण करते थे तथा मुद्गर एवं बांस के डण्डे आदि हाथ मे धारण करते थे[२०]। यह सम्भवतः समुद्री जन्तुओं एव अन्य भयंकर पक्षियों से सुरक्षित रहने के लिए किया जाता होगा। इसके लिए यात्रियों को रात्रि-जागरण भी करना होता था।

समुद्री-यात्रा के समय अन्य कई कठिनाइयों की भी चर्चा आई है। इनमें सर्वाधिक कठिनाई समुद्री डाकुओं के आक्रमण से होती थी। समुद्री डाकू सामूहिक रूप में बड़ी भयकरता के साथ आयुधास्त्रों के साथ मालवाहक जहाजों पर आक्रमण करते थे। धवल सेठ अपने साथियों के साथ गाता-नाचता एव विविध मनोरजन करता हुआ जब चला जा रहा था। जहाज भी वेग के साथ आगे बढ़ा जा रहा था तभी पीछे से भयकर आवाज सुनाई दी लोग निर्णय नही कर सके समुद्री जानवरों ने आक्रमण किया था या डाकुओ ने[२१]।

आखेट-क्रीड़ा

आखेट-क्रीड़ा की आयोजनाएँ प्रायः राज परिवारों में देखने को मिलती है। राजा लोग सदल बल जंगलों में जाते थे तथा वहाँ सिंह, बाघ, जंगली भैसे एवं हिरण का शिकार करते थे। जसहर चरिउ के अनुसार राजा यशोमति मृगया हेतु १५०० कुत्तों के साथ जाता था[२२]।

भोजन

अपभ्रंश-काव्यों में भोजनों की चर्चा आहारदान, विवाह अथवा अन्य उत्सवों के अवसर पर आई है। कवि स्वयम्भू ने इन खाद्य-पदार्थों के उल्लेख इस प्रकार लिखे हैं—भात, खीर, सोयवति, घेउर, मंडा, ईख, गुड़, नमक, मूंग की दाल, विविध प्रकार के कूर, सालज, माइणी, माइन्द आलय, पिप्पली, गिरियामलय, असलक, मलूर, रिर्मटिका, कचोर, वासुत, पेड़व, पापड़, केला, नारियल, दही, करमर, करवद, खोले (शर्वत), वक, वाइङण, कारेल्ल, मही, वघारी हुई बडी आदि।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश कवियों ने मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू को लेकर उन पर हर दृष्टिकोण से गहन विचार किया है। वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य मध्यकालीन भारत का एक जीवित प्रामाणिक चित्र है जो कालदोष से आच्छन्न हो गया और जिस पर गम्भीर एव तुलनात्मक शोध कार्य अत्यावश्यक है। उसके अभाव में मध्यकालीन भारतीय इतिहास एवं सस्कृति मे प्रामाणिकता एवं पूर्णतया नही आ सकती।

—महाजन टोली नं० २, आरा (बिहार)

सन्दर्भ सूची

१. महापुराण० १।२६२
२. मेहेसर० ७।६
३. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० ३-६।
४. उपरिवत्।
५. मेहेसर चरिउ-७।१२
६. सिरिवाल०-३।२
७. महाकवि पुष्पदन्त-पृष्ठ १७३
८. अपभ्रंश भाषा और साहित्य-पृष्ठ २७८
९. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृष्ठ २७८
१०. हरिवंश० १२।१२।१-४
११. हरिवंश० ६।११
१२. धण्णकुमार० २।५-६
१३. उपरिवत्-३।६
१४. पउमचरिउ २।१६७
१५. धण्णकुमार० २।७
१६. धण्णकुमार० ४।१६
१७. महापुराण० सन्धि २१ पुष्पिका
१८. शास्त्रभक्ति पत्र
१९. सिरिवाल० ५।१३।१-३
२०. सिरिवाल० ५।२०।२-४
२१. उपरिवत् ५।२१।१-१०
२२. जसहर चरिउ।

"जिला संग्रहालय खरगोन में संरक्षित जैन प्रतिमाएं"

मार्गदर्शक : नरेशकुमार पाठक

जिला संग्रहालय खरगोन की स्थापना मध्यप्रदेश पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा जिला पुरातत्व संघ खरगोन के सहयोग से सन् १९७४ में की गई। यहां पर जिले के विभिन्न स्थानों से प्राप्त लगभग ५५ कलाकृतियों को एकत्रित कर जिलाध्यक्ष कार्यालय खरगोन के सामने के उद्यान में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय की ये प्रतिमाएं हिन्दू व जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्यारह प्रतिमाओं का संग्रह है। जिनमें अधिकांशतः खरगोन जिला के प्रसिद्ध जैन तीर्थ-स्थल ऊन (पावागिरि सिद्ध क्षेत्र) से प्राप्त हुई है। तथा एक चोली ग्राम से इस संग्रहालय को उपलब्ध हुई है। संग्रहित प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

चन्द्रप्रभु:—

संगमरमर के पत्थर पर निर्मित आठवें तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभु पद्मासन (स० क्र० ३१) की ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केशराशि, कर्णचाप एवं वक्ष पर श्रीवत्स का आलेखन है। चौकी पर भगवान चन्द्रप्रभु का ध्वज लांछन चन्द्रमा अंकित है। दुर्भाग्य से प्रतिमा का प्राप्ति स्थान अज्ञात है। परन्तु यह खरगोन जिले के किसी स्थान से ही मिली होगी। पादपीठ पर १९वीं २०वीं शती ईस्वी की देवनागरी लिपि मे लेख उत्कीर्ण है। लेकिन पत्थर के क्षरण के कारण अपठनीय है।

मल्लिनाथ:—

संग्रहालय में ऊन से प्राप्त (सं० क्र० १२) उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिनाथ की ध्यानस्थ मुद्रा में शिल्पांकित मूर्ति का मुख व वितान भग्न है। चौकी पर उनका शासन देवता, यक्ष, कुबेर एवं खण्डित अवस्था में यक्षी अपराजिता का आलेखन मनोहारी है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित १३वीं शती की यह प्रतिमा निर्मित के समय अवश्य ही सुन्दर रही होगी।

पार्श्वनाथ:—

सोप स्टोन पर निर्मित तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ (स० क्र० ३०) का सिर भग्न है। वक्ष पर श्रीवत्स सुशोभित है। अठारहवीं शती की इस प्रतिमा की कलात्मक अभिव्यक्ति सामान्य है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ:—

संग्रहालय में लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमा से सबंधित तीन प्रतिमाएँ सरक्षित है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित १३वी शती ईस्वी सन् की ये सभी प्रतिमाएँ ऊन से प्राप्त है। प्रथम (स० क्र० ११ ध्यानस्थ मुद्रा मे अंकित तीर्थंकर के सिंहासन पर अस्पष्ट यक्ष-यक्षी प्रतिमा अंकित है। वितान में मालाधारी विद्याधर युगलो का अकन है।

दूसरी प्रतिमा मे (सं० क्र० १६) भव्य आसन पर चार लघु तीर्थंकर प्रतिमाएँ अंकित है। जिनमे दो कायोत्सर्ग एवं दो पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अंकित है। वितान में विद्याधर युगलो का आलेखन मनोहारी है।

तीसरी प्रतिमा (स० क्र० २२) काफी खण्डित अवस्था में है। पत्थर के क्षरण के कारण मूर्ति की कलात्मकता समाप्त हो गई है।

अम्बिका:—

भगवान नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की दो प्रतिमाएँ संग्रहालय में संरक्षित है। प्रथम काले स्लेटी रंग के पत्थर (सं० क्र० ४) पर निर्मित द्विभुजी प्रतिमा ऊन से प्राप्त हुई है। देवी के हाथो मे बीजपूर तथा गोद में अपने लघु पुत्र प्रियंकर को लिये हुए है। पादपीठ पर दोनों ओर परिचारक एव पूजक प्रतिमाएँ अकित है।

ऊन से ही प्राप्त दूसरी प्रतिमा मे शासनदेवी अंबिका भव्य ललितासन में बैठी हुई शिल्पांकित है। (स०क्र०१५) देवी के पीछे आम्र लुम्बी का आलेखन है। गोद मे अपने लघु पुत्र प्रियंकर को लिए हुए है । देवी के आयुध भग्न

हैं। पादपीठ पर दोनों ओर चामरधारी प्रतिमाओं का आलेखन आकर्षक है। कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों प्रतिमा १३वी शती ईस्वी की है।

गोमेद-अम्बिका:-

तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष गोमेद, यक्षी अंबिका स्थानक मुद्रा में शिल्पांकित यह प्रतिमा ऊन से प्राप्त हुई है। पीछे कल्पवृक्ष (आम्र-लुम्बी) का आलेखन आकर्षक है। (सं० क्र० २) दोनो के हाथ में बीजपूर ऊपर दोनों ओर दो लघु जिन प्रतिमाएं एव वृक्ष पर आठ अन्य जिन प्रतिमाओं का शिल्पांकन है। १३वी शती ईस्वी की यह प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से परमार कालीन शिल्पकला के अनुसार है।

सर्वतोभद्रिका:-

चोली से प्राप्त हुई इस प्रतिमा के चारों ओर तीर्थंकर प्रतिमाओं को अकित किया गया है। (स० क्र० ५१) इस प्रकार की प्रतिमाओं को किसी तरफ देखा जाय तीर्थंकर के दर्शन हो जाते हैं। जिससे मानव का कल्याण होता है। इसीलिए चारों तरफ मूर्तियों वाली प्रतिमाओं को सर्वतो-भद्रिका की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतो-भद्रिका के चारों ओर तीर्थंकर प्रतिमाओं का अंकन है। जिन्हें लांछन के अभाव में पहिचानना कठिन है। किन्तु सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं में चार विशिष्ट तीर्थंकरों की प्रतिमाएं अधिक-तर बनाई जाती रही है। यथा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। अतएव इस सर्वतोभद्रिका की चारों प्रतिमा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की हो सकती है।

जिन प्रतिमा वितान

जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित इस (सं०क० ४४) शिल्पखण्ड में त्रिछत्रावली, अभिषेक करते हुए ऐरावत, दुन्दुभि-वादक एवं कलश लिए हुये विद्याधर युगलों का आलेखन किया गया है।

—केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर

(पृष्ठ ७ का शेष)

१०. नं. ४३६ वंक चूल कथा श्लोक-१०६ पत्र-५ संस्कृत
११. नं. ८६२ होल रेणुका चरित्र पत्र-४४६ ,,

इनमें से लब्धि-विधान व्रत कथा का दूसरा नाम 'गौतम स्वामी रास' बतलाया गया है। पद्य संख्या १३२ दी है। नंबर २३ समकित अष्टांग कथा रास। पहले तो मैंने सोचा कि नाम के अनुसार नंबर २३ नागौर भण्डार में जो समकित रास है, वही यह होगा पर उसकी पद्य संख्या ८२६ बतलायी गई है वह इससे भिन्न ही मालूम देता है क्योंकि ३ पत्रों मे इनके २६ पद्य शायद ही लिखे गये है।

नं० ३० में पुष्पाजलि रास के विवरण में पद्य संख्या १३४ बतलायी है, जबकि नागौर भण्डार सूची में १६१ हैं। नं० ३१ आकाश पंचमी कथा में छन्द संख्या ६४ बत-लाई है। जबकि नागौर सूची मे गाथा १३० है। नं० ३४ में निर्दोष सप्तमी कथा रास के छन्द की संख्या ८५ लिखी है, जबकि नागौर भण्डार सूची में गाथा १०६ है। नं० ३५ अक्षय दशमी रास की छन्द संख्या ८६ है, जबकि नागौर भंडार सूची में गाथा १११ है। नं० ३६ दशलक्षण व्रत कथा रास की छन्द संख्या ८२ बतलायी गई है। नागौर सूची में नहीं दी है। नं० ३८ अनन्त व्रत रास में छन्द १२५ लिखी गई है, जबकि नागौर सूची में गाथा १७२ है। अर्थात् सभी रचनाओ मे पद्य सख्या न्यूनाधिक है। अतः मिलान करना जरूरी है।

लगता है नागौर भण्डार का सम्यक्त्व रास, संभवतः डॉ० शंवका के लिखित नं० ५५ समकित-मिथ्यात्व रास होगा, जिसकी पद्य संख्या ७० है। खोज करने पर विदित हुआ कि यह रास "राजस्थान के जैन सत" नामक परिशिष्ट में छपा है।

उपरोक्त रचनाओं मे २ अर्थात् संस्कृत रास बंकचूल व होल-रेणुका चरित्र का लेखक ने ब्रह्म जिनदास के संस्कृत ग्रंथो मे उल्लेख नही किया है। पर गुजराती या हिन्दी रचनाओं में उल्लेख है। जिनमे से न० २५ होली रास के पद्य १४६ है और नं० २८ बंकचूल रास का विवरण देते हुए लेखक ने लिखा है कि "यह कृति अधूरी मिली है। इसमें बंकचूल का आख्यान है। जिसमें सम्यक्त्व के नियमों के पालन से देव गति प्राप्त की गई है। रास का प्रारम्भ वस्तु छंद हैं।" पर वास्तव में सम्यक्त्व के नियमों का नही, कुछ अन्य नियमो के ग्रहण करने का सुफल इसमें बतलाया है।

—नाहटों की गवाड, बीकानेर

मासल की जैन मूर्तियां

—प्रो० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम

'मासल' यह भंडारा जिले में पवनी से लगभग १५ किलोमिटर दूर एक छोटा सा गांव है। यहां श्री संपत मोतीराम भाग-भणारकर नामक एक मछेरे के आंगन में लगभग ५० वर्षों से, तीन जैन मूर्तियां धूप, वर्षा में धूल खा रही अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रही हैं। हरी छटा वाले काले रंग के पत्थर की बनी यह मूर्तियां कलात्मक एवं पुरातत्व की दृष्टि से बेजोड़ है। किंतु प्रचार के अभाव में अभी तक पुरातत्व प्रेमियों का विशेष कोई ध्यान आकर्षित नही कर पाई है। इसमें से दो मूर्तियां जो एक जैसी हैं खड़ी या खड्गासन में है। तीसरी मूर्ति मात्र ध्यान मुद्रा में बैठी हैं। इनका नीचे वर्णन प्रस्तुत है।

ध्यान मुद्रा में बैठी मूर्ति पादपीठ सहित २' २" ऊची है। पादपीठ दो इच ऊंचा है जो आकार मे वर्तुलाकार प्रतीत होता है। ध्यान मुद्रा मे बैठी इस मूर्ति के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स चिन्ह बना है। ग्रीवा की त्रिवली, नासाग्र, दृष्टि, मूर्ति के मुखमडल पर शांति और वैराग्य का भाव दर्शाते है। कान कंधो पर टिके है, जो महापुरुष लक्षणो में से एक है। भौहें लचीली एवं लंबी हैं। सिर के केश परम्परागत अंगुष्ठ मात्र कुंचित है जो चार समान जूड़ो में बंटे हैं।

प्रस्तुत मूर्ति का पादपीठ छोटा होने से दोनो ओर पांव बाहर निकलते दिखाई देते है। दोनों हाथ एक दूमरे के ऊपर रखे हैं। दाहिना हाथ जो ऊपर रखा है में वर्तुलाकार चक्र है तथा इसको माध्यमिका टूटी है। हाथ-पांव तथा पेट के मध्य जो शेष जगह है उसमे मूर्ति को धोते समय जल संग्रहित न हो इसलिए, नाभी के निचले हिस्से में एक छेद बना है। यह सहजता से दिखाई नही देता। इससे होता हुआ जल बिना किसी रुकावट के बाएं पांव से होता हुआ सीधा दाहिने पांव के ऊपर से बाहर निकल जाता है। यह मूर्ति सर्वांग है। मूर्ति का मुख तथा अंग सौष्ठव अत्यंत आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है, उंगलियां तक बहुत बारीकी से मूर्ति के आकार के अनुपात में बनाई गई हैं।

पादपीठ दो इंच ऊंचा है, आसन मे कमल का चिन्ह बना है। जो घिस जाने से अभी मद्य चषक जैसा प्रतीत होता है। यह निश्चित ही कमल है अतः इसे इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा कहना उचित होगा। संभवतः यह मूर्ति उपासना हेतु निर्मित की गई थी, इसकी वजह से इसकी सुंदरता और सौदर्य बोध पर विशेष ध्यान दिया गया है। दोनों गालो, होठों एव गले को बच्चों ने हाथ लगा-लगा कर खुरदरा बना दिया है। शेष पॉलिश की स्निग्धता अब भी कायम है। अन्य दोनों मूर्तियां लगभग एक जैसी है। दोनो आठ इच चौडे पत्थर पर बनी है एक २' ६" और दूसरी २' १०" ऊची है। यह दोनो प्रतिमाएं सिंहासन पर कायोत्सर्ग या खड्गासन मे अधिक सुघड़ और सौम्य हैं, जिन्हें घिस कर यथेष्ट चिकना बनाया गया है।

सिंहासन मे सिंहयुगल का अंकन सूक्ष्मता और सुन्दरता से किया गया है। बीच मे कलश रखा है, जिस पर पात्र ढका है। जैन ग्रंथों में वर्णित लांच्छनो के अनुसार यह मूर्ति १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ की है। श्वेताम्बर पथीय इसे स्त्री मानते है तो दिगंबरो के अनुसार यह पुरुष है।

प्रस्तुत प्रतिमा के हाथ लम्बे, घुटनों तक लटक रहे हैं तथा हथेलियों पर कमल पुष्प या चक्र का अंकन है। मूर्ति पूर्णतः नग्न है और इसकी आंखें वन्द हैं। वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह बना है। सिर पर तीन छत्र है।

सिंहासन के पादमूल में दाए ओर हाथ के नीचे एक छोटी पुरुष प्रतिमा है। इसके एक हाथ में अंकुश सदृश कोई वस्तु है, दूसरे हाथ में वर्तुलाकार कोई वस्तु है। इसके पीछे एक पुरुष प्रतिमा उकेरी है जो तीर्थंकर के हथेलियों तक पहुंचती है। इस प्रतिमा के कण्ठ में माला,

कानों में कुण्डल हैं। दाहिने हाथ की वस्तु स्पष्ट नही है, दूसरा हाथ नीचे की और है। बाएं ओर एक बैठी स्त्री प्रतिमा है जिसके आसन पर मत्स्य (Fish) का अंकन है। इसका एक हाथ आसन पर है तो दूसरा हाथ कंधे पर। उसके पीछे खड़े पुरुष का बायां हाथ नीचे की ओर है तो दायां हाथ सभवत. कमल उठाकर इस ढंग से रखा है कि तीर्थंकर के हथेली को छूने लगे। प्रतिमा की ग्रीवा त्रिवली युक्त है, कान कधे पर लटक रहे है तथा सिर पर बाल तीन समान जूडो में बटे हैं। सिर पर उष्णीष है। सिर के पीछे प्रभावलय का अकन है जिसे चार वर्तुलाकार रेखाओं से दर्शाया गया है। कधे के दोनो ओर दो उड़ते हुए विद्याधर अकित है जिनके हाथों में सनाल कमल है। दोनों की केश रचना एवं कान के आभूषण एक जैसे है। विद्याधर वे मनुष्य होते हैं, जो साधना या तपस्या के फलस्वरूप आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध कर लेते थे। अन्यत्र इन्हें तीर्थंकर के मस्तक पर चंवर डुलाते हुए पाया जाता है।

तीर्थंकर के सिर पर छत्रावली है जिस पर गजलक्ष्मी आसीन है। इसके दोनों ओर अलकृत हाथी सूड से कुंभ उठाए लक्ष्मी के सिर पर अभिषेक कर रहे है। लक्ष्मी धन-धान्य आदि सर्व प्रदात्री देवी मानी गई है। इसे अभिषेक लक्ष्मी भी कहते है। शुंग काल से ही यह देवी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण इन तीनों संप्रदायों को मान्य थी। तीर्थंकर माता के स्वप्नो में अभिषेक लक्ष्मी की भी गणना है।

ग्रीवा की त्रिवली, मुखमंडल की सौम्यता और चमकते हुए पॉलिश की स्निग्धता ये सब मिलकर इन मूर्तियो का काल गुप्तोत्तर युग को सिद्ध करते है।

तीर्थंकर की कुल सख्या चौबिस है। आज की विचार धारा के अनुसार इनमें केवल तीन को—नेमि, पार्श्व तथा महावीर को सत्य सृष्टि के पुरुष होना स्वीकार किया जाता है।

उक्त तीनों मूर्तिया लगभग ५० वर्ष पूर्व, घर के आगन में खुदाई करते समय मिली थीं। तब से अभी तक यह मूर्तियां श्री भाणरकर के आंगण की शोभा बढ़ा रही है। दिन भर बच्चे इन मूर्तियों से लिपट-लिपट कर खेलते हैं। मकान मालिक इन्हे 'ऋषी-मुनी' कहते हैं तो गांव वाले 'उघडा (नंगा) देव' कहते है। इन मूर्तियों के पिछवाड़े ही हेमाड़पथी मंदिर की जगती और कुछ स्तंभ बिखरे पड़े हैं, जो यहा मंदिर होने के प्रमाण प्रस्तुत करते है। इससे लगकर ही तालाब है, जिसके किनारे भी अनगिनत हिंदू धर्म से संबधित मूर्तिया बिखरी पड़ी है।

आज भी पवनी के इर्द-गिर्द प्राचीन अवशेष यथेष्ट मात्रा में देखे जा सकते है। मासल से तीन किलो मीटर दूर तेलोता खैरी नामक एक छोटा-सा गाव है जहां प्राचीन अवशेष 'कप स्टोन' (Cap stone) देखे जा सकते हैं। इसके तीन-चार किलोमीटर दूर निपानी पिपल गांव नामक एक और गाव मे भी इसी प्रकार के अवशेष है। इन दोनो के बीच तथा पवनी के चारो ओर बृहदाश्म (Megaithic stone C!rocie) वर्तुल देखे जा सकते है। इन दोनों प्रकारों मे शव दफनाए जाते थे।

पवनी प्राचीनकाल से ही हीनयान बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहा का जगन्नाथ स्तूप तो गौतम बुद्ध की अस्थियो पर बनाया गया था। अड़म से कुछ रोमन सिक्के भी प्राप्त हुए है, जिससे यहा विदेशी धर्म यात्रियों तक के आने का प्रमाण मिलता है। पवनी के परिसर मे अनेक विहार तथा स्तूपों के अवशेष यथेष्ट मात्रा में मिले है। भिवापूर, चांडाला, सातभोकी, कोरंभी आदि जगहो पर कई प्राचीन गुहाए है। इतना ही नही यह स्थान प्राचीन व्यापारी मार्ग पर भी था।

बौद्ध धर्म के अवनति के पश्चात् इस परिसर में हिंदू तथा जैनधर्म पथियो ने अधिकार कर लिया। मासल से कुछ ही दूर पद्मपूर तथा भडारा में भी जैन अवशेष पाये जाते है।

यह मूर्तियां तथा पवनी का प्रदेश अभी तक अप्रचारित एव अनेक पुरातत्व प्रेमियों, पर्यटको के लिए अनजान है। पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की इस महत्वपूर्ण परिसर के प्रति उपेक्षा खटकती है। गांवों में इतनी अधिक मूर्तियां पड़ी हैं कि यहां एक विशाल संग्रहालय एवं दर्शनीय स्थल का रूप दिया जा सके।

बेझनबाग, नागपुर-४४०००४

परिणामि-नित्य

युवाचार्य महाप्रज्ञ

आंधी चल रही है। उसमे जितनी शक्ति आज है। उतनी हो कल होगी, यह नही कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नही है और जो आज है उसका आने वाले कल में होना जरूरी नही है। इस दुनिया में एकरूपता के लिए कोई अवकाश नही है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद है वे कभी काले रहे है। जो आज काले है, वे कभी सफेद होने वाले है। वे एकरूप नही रह सकते। केवल बाल ही क्या दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नही रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणों के कारणों पर गहराई से विचार किया है, अन्तर्बोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धात की स्थापना की। उसका नाम है—"परिणामि-नित्यत्ववाद"।

इस सिद्धात के अनुसार विश्व का कोई भी तत्व सर्वथा नित्य नही है। कोई भी तत्व सर्वथा अनित्य नही है। प्रत्येक तत्व नित्य और अनित्य—इन दोनो धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणनमन-शून्य नही होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नही होता। इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप मे उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप मे बदल जाता है। इस अवस्था मे प्रत्येक तत्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों धर्मों का ससवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों परिणमन के आचार बनते है और ध्रौव्य उसका अन्वयीसूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति में भी रहता है और व्यय की स्थिति में भी रहता है। वह दोनो को अपने साथ जोड़े हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार ही नही हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है वह भी पहली बार ही नही हो रहा है। उससे पहले वह अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अनित्य का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नही हुआ। ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता मे कोई अन्तर नही आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नही होती। इस बिन्दु को पकडने वाले "कूटस्थ नित्य" के सिद्धात का प्रतिपाद करते है। अस्तित्व के समुद्र मे होने वाली ऊर्मियो को पकड़ने वाले "क्षणिकवाद" के सिद्धात का प्रतिपादन करते है। जैन दर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा मे देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धात का प्रतिपादन किया।

भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा—"आत्मा नित्य है या अनित्य! पुद्गल नित्य है या अनित्य!" उन्होने एक ही उत्तर दिया, "अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। इस अपेक्षा से वे नित्य है। परिणाम का क्रम कभी अवरुद्ध नही होता, इस दृष्टि से वे अनित्य है। समग्रता की भाषा मे वे न नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है।

वत्त मे दो प्रकार के धर्म होते है—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्व की स्थिति और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते है। सहभावी धर्म "गुण" और क्रमभावी धर्म "पर्याय" कहलाते है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नही हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थ-नित्यवादियो से पूछा, "पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा! कहा देखा! कब देखा! किस रूप में देखा! कोई बताये तो सही।" उन्होंने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियो से पूछा कि वे बताए तो सही कि द्रव्य-शून्य पर्याय किसने देखा! कहा देखा! कब देखा! किस रूप मे देखा! अवस्था-अवस्थावान और अवस्थावानविहीन अवस्थाएँ—ये दोनों तथ्य घटित नही हो सकते। जो घटनाक्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थायी तत्व है। घटना-क्रम उसी में चल

रहा है। वह उससे बाहर नही है। तालाब में एक कंकर फेंका और तरगें उठी। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शात था, वह क्षुब्ध हो गया, तरगित हो गया। तरंग जल में है। जल से भिन्न तरग का कोई अस्तित्व नहीं है। जल मे तरंग उठती है इसलिए हम कह सकते हैं कि तालाब तरंगित हो गया। तरगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान मे घटित होती है। जलाशय नही है तो जल नही है। जल नहीं है तो तरग नहीं है। तरंग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरग न हो—ऐसा भी नहीं हो सकता। जल का होना तरंग होने के साथ जुड़ा हुआ है। जल और तरंग—दोनों एक-दूसरे मे निहित है—जल मे तरग और तरग मे जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य को कहा देख पाते है। हम देखते है पर्याय को। हमारा जितनाज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मै उसे नही जान सकता। मै उसके अनेक पर्यायों मे से एक पर्याय को जानता हूं और उसके माध्यम से यह जानता हू कि यह मनुष्य है। जब आख से उसे देखता हू तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायो के आधार पर उसे मनुष्य कहता हूं। कान से उसका शब्द सुनता हू, तब उसे शब्द पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हू। उसकी समग्रता को कभी नही पकड़ पाता। आम को कभी मै रूप-पर्याय में जानता हू, कभी गन्ध-पर्याय से और कभी रस पर्याय से। किन्तु सब पर्यायो से एक साथ जानने आदि का मेरे पास कोई साधन नही है। गध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सदर्भ मे मै कहता हूं कि मै द्रव्य को नही देखता हूं, केवल पर्याय को देखता हूं और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हूं।

हमारा पर्याय का जगत् बहुत लम्बा-चौड़ा है और द्रव्य का जगत् बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के बलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के पटल मे छिपा हुआ है। उसका बोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए संभव नहीं है।

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आंतरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी बात नही है। परिणमन का क्रम निरंतर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का आयाम है। वह परिणमन का आतरिक हेतु है। इसलिए प्रत्येक अस्तित्व में व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमन शील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इद्रियो की पकड़ में नही आता, इसलिए अस्तित्व में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की इन्द्रिय-ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नहीं की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तो से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते है और उसके कार्य-कारण की व्यवस्था करते है। कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बिमारी नही, चोट नही, आघात नही और कोई म[illegible] वाला भी नही, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, [illegible]का मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवर्तन है। जीवन मे उसकी आतरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म से पहले क्षण मे ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण मे नही मरता, वह फिर कभी नही मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए, फिर उसकी मृत्यु नही हो सकती। बाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्यवस्था बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा में होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते है। किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सूक्ष्म विकास या प्रलय—जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ से घटित होता है। काल दोनों का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओं में बाहरी निमित्त भी अपना योग

देते है। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व में स्वय सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनो स्तर पर होता है। पानी मे चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश मे बादल मडराये और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कन्ध मिले और बादल बन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व मे ही होते है। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते है, वे सब वैयक्तिक होते है। पाच अस्तिकाय (अस्तित्व) है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय मे स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल मे स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनो प्रकार के परिवर्तन होते है। इसका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है। किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सब इन दो द्रव्यों के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवो ने अपने शरीर के रूप मे उपस्थित रूपायित किया है। इसे इन शब्दो मे भी प्रस्तुतत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे है वह या तो जीवच्छरीर है या जीवों द्वारा त्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश राशि) होता है। पुद्गल को छोडकर शेष चार अस्तित्वों का प्रचय स्वभावत: अविभक्त है। उसमे सगठन और विभाजन नहीं होता। पुद्गल का प्रचय स्वभाव मे अविभक्त नही होता। उसमे सगठन और विघटन—ये दोनो घटित होते है। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओ के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप में रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते है। वास्तविक अर्थ में सामुदायिक परिणमन पुद्गल में ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही है। जगत् के नानारूप उसी के माध्यम से निर्मित होते है। यह जगत् एक रंगमंच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपों मे परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमें जीव का योग भी होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमें परिवर्तित होने की क्षमता नही होती, वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए नही रख सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप मे परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है एक परमाणु अनन्तगुना काला है। वही परमाणु एक गुना काला हो जाता है। जो एक गुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नही आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमे भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणों और अनन्त घटनाओ मे किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनन्त परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनन्त न हो तो अनतकाल मे वह अपने अस्तित्व को बनाए नही रख सकता।

अस्तित्व मे अनत धर्म होते है, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास मे घी है? इसका उत्तर होगा घास मे घी है, किन्तु व्यक्त नही है। क्या दूध मे घी है? दूध मे घी है, पर पूर्ण व्यक्त नही है। दूध को बिलोया या दही बनाकर बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य मे "ओघ" और "समुचित"—ये दो प्रकार की शक्तियां काम करती है। "ओघ" नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। कारण कार्य के अनुरूप ही होता है। कारण अव्यक्त रहता है, कार्य व्यक्त होता है। अब आप पूछे कि घास मे घी है या नही? तो उत्तर होगा—"ओघ" शक्ति की दृष्टि से है, किन्तु "समुचित" शक्ति की दृष्टि से नही है। पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चारों मिलते है। गुलाब के फूल में जितनी सुगध है, उतनी ही दुर्गंध है। किन्तु उसमे सुगंध व्यक्त है और दुर्गंध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कड़वी है। किन्तु उसमें मिठास व्यक्त है और कड़वाहट अव्यक्त। सडान में जितनी दुर्गंध है, उतनी ही सुगंध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर के बाहर जा रहा था। मंत्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई, उसमें जल भरा था। वह कूड़े-करकट से गदा हो रहा था। उसमें मृत पशुओं के कलेवर सड़ रहे थे। दूर तक दुर्गंध फट

रही थी। राजा ने कपड़ा निकाला और नाक को दबा लिया। कितनी दुर्गंध आ रही है ! राजा ने मंत्री की ओर मुड़कर कहा। मंत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा, महाराज ! यह पुद्गलों का स्वभाव है। उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभंगी से मंद कर दिया। बात वहीं समाप्त हो गई। कुछ दिनों बाद मंत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पिया। पानी तुम कहां से लाते हो ? इच्छा होती है कि एक गिलास और पीऊं। मैं तुम्हें अभिन्न मानता हूं, किन्तु तुम मुझे वैसा नही मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो मुझे कभी नही पिलाते। "मंत्री मुस्कराया और बोला, "महाराज ! यह पानी उस खाई से लाता हूं, जहां आप ने नाक-भौं सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी।" राजा ने कहा, "यह नहीं हो सकता। यह पानी उस खाई का कैसे हो सकता है !" मंत्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने उसका प्रमाण चाहा। मंत्री ने उस खाई का पानी मंगवाया। राजा की देखरेख में सारी प्रक्रिया चली और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगंधित हो गया जैसा राजा ने मत्री के घर पिया था। केवल पानी ही क्या, हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र बदलता ही रहता है, वस्तुएं बदलती हैं। "ओघ" शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगन्धमय या दुर्गन्धमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नही कह सकते। एक नीम के पत्ते में वे सारे धर्म विद्यमान है जो दुनिया में होते हैं। किन्तु "समुचित" शक्ति की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसके आधार पर देखें तो नीम अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित है। राजा बोला, "मंत्री ! पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगन्ध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं में बहुत सारी बातें घटित होती हैं। उनमें ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी एक है। ऊर्जा परिणमन से ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्यसंहृति और शक्ति के समीकरण के सिद्धांत की व्याख्या परिणामिनित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से पहिले वैज्ञानिक जगत् में यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में नही बदला जा सकता। दोनों स्वतंत्र हैं। किन्तु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धांत बदल गया। यह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति— ये दोनों भिन्न नहीं, किन्तु एक ही वस्तु के रूपान्तरण हैं। एक पौंड कोयला में और उसकी द्रव्य संहृति को शक्ति में बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त धारा मे वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमें अनन्त शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् में जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत् है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति में ले जाया जा सकता है, जहां उसकी स्थूलता समाप्त हो जाये, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहिता समाप्त हो जाये और उसे शक्ति के रूप में बदल दिया जाये।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते हैं तब द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है ? आदमी कोई द्रव्य नहीं है। आदमी है कहां ? आप सारी दुनिया में ढूंढें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नहीं मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नहीं है। वह एक पर्याय है। दुनिया में जितनी वस्तुओं को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्याय हैं। हम पर्याय को देख रहे हैं, द्रव्य हमारे सामने नहीं आता।

(शेष पृ० २३ पर)

अज्ञानता

☐ ले० बाबूलाल जैन (वक्ता)

चाहे दूसरे कोटि भी उपाय करो पर बिना अज्ञानता को छोड़े राग, द्वेष, मोह नहीं मिटेगा। इसीलिए यह कीमती बात है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नही होता। सम्यक्चारित्र अर्थात् कषाय का छुटना। सम्यक्-दर्शन क्या है—अपने को अपने रूप देखना। बंध क्या है? संसार क्या है? भीतर की यह अज्ञानता ही सब कुछ है। हमने क्या किया? इस अज्ञानता को तो भीतर रखी और जब घर में रहे तो वह स्त्री पुत्रादि के साथ जुड गई तब यह भासित हुआ कि ये मेरे हैं, यही मेरे लिए सब कुछ है। फिर उपदेश मिला कि मन्दिर जाया करो। जब मन्दिर आए तो अज्ञानता तो घर छोड़कर आए नहीं वह साथ-साथ मन्दिर आ गई तब यहां वह जुड़ी भगवान के साथ और यह दिखाई दिया कि यही तरण-तारण है। यही सुख देने वाला है, यही सब कुछ है। शास्त्र पढ़ने बैठे तो अज्ञानता उसमें जुड़ गई, तब उसके शब्दों में अटक गए, या खूब शास्त्र पढ़कर पंडित बन गए। अहंकार पैदा हो गया, या सोचा चलो कुछ तो पुण्य का बंध होगा। वह अज्ञानता अब पुण्य बंध के साथ जुड़ गई और पुण्य बंध पर दृष्टि रहने से निज तत्व की प्राप्ति मुश्किल हो गई इस पुण्य को पाप समझकर चलो तब अंतर धक्का लगेगा और 'स्व' पर दृष्टि जाएगी। वास्तव में ये पुण्य सार्थक नहीं है, जब इसका उदय आता है तो व्यापार में और अधिक फंसा देता है, रोटी खाने में हैरान, पूजा करने मे हैरान, शास्त्र पढ़ने में हैरान तो यह पुण्य का नही पाप का ही उदय है। खैर, आगे चले, जब मुनि बनते हैं और वह अज्ञानता साथ रह जाती है तो पहले उसके कारण लड़के बच्चों में अपनापन था अब सेठों में, भक्तों में, पिच्छी कमण्डलु में अपनापन आ गया। अज्ञान तो अब भी अपना काम किए बिना नहीं रहेगा। पहले गृहस्थ भेष में अपनापन था अब मुनि भेष में आ गया। जंगल में गए तो वहां स्थान में अपनापन आ गया कि अमुक जगह बड़ी अच्छी है, बड़े काम की है। वैष्णवों की कथा है कि बाबाजी ने जंगल में, अनाज बोया, गाय बांधी, लगान न देने पर राजा द्वारा सजा मिली जब उसने विचार किया कि इस सब झमेले की जड़ क्या है, घर-बार सब छोडने पर भी ये अड़ंगा क्या हुआ तब बहुत सोचते-सोचते उसकी समझ में आया—अरे सब कुछ तो छोड़ दिया पर मूल बात वह अपनापन तो छोड़ा ही नहीं जो सबसे पहले छोड़ना था। वहां घर तो छोड़ आया पर यहां खेत में अपनापन मान लिया तो बाहर का क्षेत्र बेशक बदल गया पर भीतर में अपना मानने वाला जो बैठा है वह तो वहीं का वहीं है, उसे तो घर से यहां भी साथ ही ले आया हूं। इसीलिए कह रहे है कि इस अज्ञानता को साथ लेकर तू चाहे जहां चला जा, यह साथ जाएगी तो वहां जिस किसी के भी साथ में जुड़ेगी वही तुझे उल्टा दिखाई देने लगेगा। तब छोड़ना क्या है? उस बाहरी वस्तु को नहीं, पदार्थ को नहीं, वह तो पर है ही उसे क्या छोड़ेगा। छोड़ना तो उस अज्ञानता को है जो तेरी अपनी नहीं है जिसे तू ने अपना रखा है और उस अज्ञानता को छोड़ने के बाद वही घर रहेगा वही स्त्री-पुत्रादि रहेंगे पर, पहले तुझे वे ही सब कुछ दिखाई देते थे अब लगेगा अरे! ये तो पर है: मैं इनमें कहां फंसा हुआ हूं। चीज तो वहीं है पर अन्दर की अज्ञानता छोड़ने से वही दूसरे रूप मे दिखाई देने लगती है। दूसरे रूप से मतलब सच्चे रूप में, पहले उसी वस्तु को गलत रूप मानता था। मन्दिर में आता अज्ञानता को छोड़कर तो अब दिखाई देने लगा कि जिनेन्द्र के माध्यम से मुझे अपनी चेतन आत्मा के दर्शन करने हैं। बार-बार जिनेन्द्र की तरफ देखता है तो एक धिक्कार फिर अन्दर से आती है कि वे तो अपने आप में लीन हैं और तू बाहर में घूम रहा है। तू उनकी तरह भीतर में लीन क्यों नहीं हो जाता? उस धिक्कारता के आने पर उसके अन्दर पुरुषार्थ जागृत होता है। धक्का लगता है तो नींद टूटती है।

अब जिस वस्तु से सम्बन्ध जुड़ता है वह ज्ञान का ही जुडता है अज्ञान का नही। पर पदार्थ को देखता है तो वह सुन्दर या असुन्दर प्रतिभासित नही होता उसमें राग द्वेष का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और फिर भी जितना राग-द्वेष होता है उसे अपनी कमजोरी ही मानता है। असल में देखा जाए तो यह शरीर तो राग करने का बिल्कुल स्थान ही नही है, शरीर तो इतनी खोटी चीज है कि ये तो ममत्व के बिल्कुल ही योग्य नही है। इसलिए ये मूल बात यही है कि उस अज्ञानता को छोड दे। उसे साथ लेकर यदि समवसरण मे भी जायगा तब भी कल्याण होने का नहीं है। यदि अपने स्वभाव को ठीक कर ले तो वह जहां रहे वहां मन्दिर हो जाए और अगर अज्ञानता न छोड़े तो मन्दिर भी अखाड़ा हो जाता है।

उस अज्ञानता को मेटने के लिए हम शास्त्र पढ़ते है परन्तु शास्त्र हमारी अज्ञानता मेट नही सकता, शास्त्र तो केवल हमें हमारी अज्ञानता का बोध करा सकता है, मेटनी तो वह हमें स्वय को ही है। पण्डित व त्यागी को तत्व की प्राप्ति इसीलिए दुर्लभ हो जाती है क्योंकि पडित समझता है कि मै जान गया और त्यागी समझता है कि मै हो गया। तत्व की प्राप्ति तो उसे हो जो यह समझे कि मै कुछ भी नही जानता और मै कुछ भी नही है जो समझे कि मैं कुछ हो गया वह तो हो ही गया फिर भीतर जाकर क्या करे खोज ? तो शास्त्र-ज्ञान व व्रतों मे अहंकार होने से व्यक्ति अपने को नही जान पाता और अपने को न जानने से शास्त्र-ज्ञान व व्रतों में अहकार होता है। अज्ञानी अपने को फिर भी जल्दी जान सकता है क्योंकि वह समझता है कि मैं कुछ नही जानता।

सारे द्वादशांग के उपदेश का जोर उस अज्ञानता को मेटने पर है क्योंकि वह अज्ञानता ही प्रत्येक वस्तु को उल्टा दिखाती है और फिर हम सोचते हैं कि उस वस्तु या व्यक्ति को सीधा कर दें। अरे ! उसे तू क्या सीधा करेगा। वह तो सीधा ही है, उल्टा तो तू है, तू अपनी उस अज्ञानता को मेट कर सीधा हो जा। आपने को ठीक करना है पर को नही।

शास्त्र तो अज्ञानता का बोध कराता है, कहता है कि ये शरीर तुझे अपना लगता है क्या ? यदि अपना लगता है तो समझना अज्ञानता है। अब शरीर में अपनेपने की अज्ञानता का बोध तो हमें शास्त्र ने करा दिया पर इतने मात्र से शरीर मे अपनापन तो छूटा नही, वह तो जब हम छोड़ेंगे तभी छूटेगा। दूसरा काम शास्त्र करता है एक प्यास, तड़प व छटपटाहट पैदा करने का। वह कहता है जबकि तत्व को जान लेने से तेरा एक अद्वितीय रूप हो जाएगा। सारे संसार का अनादि काल का तेरा दुख मिट जाएगा तब इसके भीतर मे एक जिज्ञासा पैदा होती है कि कैसे अपने को समझू व जानू। शास्त्र ने तो जिज्ञासा पैदा कराके छोड दिया अब अपने को जानना तो हमे स्वय ही है। गुरू भी ये ही दोनों काम करता है, अज्ञानता का बोध कराने का व तड़पन पैदा करने का। यदि शास्त्र अज्ञानता मेट सकता होता तो ११ अग ६ पूर्व का पाठी अज्ञानी कैसे रह जाता ? हम ये चाहे कि राग द्वेष तो हमारा मिट जाए और अज्ञानता बनी रहे तो ये तो होने का ही नह है। द्वीपायन मुनि ने कितनी तपस्या की, लोगों ने उन्हें उठा कर फेंक दिया, उन पर थूक दिया और उन्होंने उफ नही की पर भीतर मे अज्ञानता बनी रही चिनगारी सुलगती रही और एक दिन वह आग बनकर भभक उठी। अतः यदि अन्दर की अज्ञानता न जाए और बाहर में कितना भी उपसर्ग व परीषह सहन करे तब भी वह कार्यकारी नही है।

इसलिए मूल बात उस अज्ञानता को छोड़ने की है और वह हमारे अपने कारणसे हुई और अपनेही कारण से छूटेगी। किसी दूसरेके कारणसे होती तो उसके छोडनेसे छूट जाती पर ऐसा नही है। पागल कपडे फाड रहा है और हम चाहते हैं कि ये न फाड़े और हम उसे रोक रहे है तो उस रोकने का भी क्या फायदा है ? अरे ! वो कपडा फाड़ना बन्द करेगा तो अन्य और कुछ गडबड करेगा, कुछ तोडने फोड़ने लगेगा इसलिए हमारा पुरुषार्थ उसको उन क्रियाओं से रोकने मे नही वरन् उसका पागलपन मेटने में है। आचार्यों ने कहा कि होना चाहिये मिथ्यादृष्टि का सारा आचरण मिथ्याचरित्र है। अब वह सम्यक्चारित्र कैसे हो ? वह तो मिथ्यादर्शन के मेटने से ही होगा, क्रिया को बदली करने से तो होगा नहीं। मूल भूल को मिटाना चाहिए। ×

जैन साहित्य में कुरुवंश, कुरुजनपद एवम् हस्तिनापुर

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन

हरिवंश पुराण में कुरुवंश सम्बन्धी विवरण—

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण मे कुरुवश को सोमवंश के अन्तर्गत वर्णित किया गया है, तदनुसार षट्खण्ड पृथ्वी के स्वामी भरत ने चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्र का अभिषेक किया और स्वयं अतिशय कठिन आत्मरूप परिग्रह से युक्त एव कठिनाई से निग्रह करने योग्य इन्द्रिय रूपी मृगसमूह को पकड़ने के लिए जाल के समान जिन-दीक्षा धारण कर ली[1]। राजा अर्ककीर्ति के स्मितयश नाम का पुत्र हुआ। अर्ककीर्ति उसे लक्ष्मी दे तप के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुआ। स्मितयश के वल, वल के सुबल, सुबल के महाबल, महाबल के अतिवल, अतिवल के अमृतवल, अमृतवल के सुभद्र, सुभद्र के सागर, सागर के भद्र, भद्र के रवितेज, रवितेज के शशि, शशि के प्रभूततेज, प्रभूततेज के तेजस्वी, तेजस्वी के तपन, तपन के प्रतापवान, प्रतापवान् के अतिवीर्य, अतिवीर्य के सुवीर्य, सुवीर्य के उदितपराक्रम, उदितपराक्रम के महेन्द्रविक्रम, महेन्द्रविक्रम के सूर्य, सूर्य के इन्द्रद्युम्न, इन्द्रद्युम्न के महेन्द्रजित्, महेन्द्रजित् के प्रभु, प्रभु के विभु, विभु के अविध्वस, अविध्वस के वीतभी, वीतभी के वृषभध्वज, वृषभध्वज के गरुडाङ्क, और गरुडाङ्क के मृगाङ्क आदि अनेक राजा सूर्यवंश में उत्पन्न हुए। ये सब राजा विशाल यश के धारक थे और पुत्रों के लिए राज्यभार सौंप तप कर मोक्ष को प्राप्त हुए। भरत को आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष गए। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि से अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ। फिर अस्सी राजा मोक्ष गए, परन्तु उनके बीच मे एक-एक राजा इन्द्र पद को प्राप्त होता रहा। सूर्यवश में उत्पन्न हुए कितने धीरवीर राजा अन्त में राज्य का भार छोड़कर तप का भार धारण कर स्वर्ग गए गए और कितने ही मोक्ष गए। भगवान् ऋषभदेव के बाहुवली पुत्र थे, उनसे सोमयश नामक पुत्र हुआ। वह सोमयश सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्त्ता हुआ। सोमयश के महाबल, महाबल के सुबल और सुवल के महाबली पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर सोमवंश में उत्पन्न अनेक राजा मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव का तीर्थ पृथ्वी पर पचास लाख करोड़ सगर तक अनवरत रहा। इस तीर्थकाल मे अपनी दो शाखाओं सूर्यवंश और चन्द्रवश मे उत्पन्न हुए इक्ष्वाकुवशीय तथा कुरु वशीय अनेक राजा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए[2]।

हरिवंश पुराण के त्रयोदश पर्व के एक उल्लेखानुसार सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ, फिर उसी इक्ष्वाकुवंश मे सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए। उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवश आदि अन्य वंश प्रचलित हुए[3]। जो इक्ष्वाकु क्षत्रियों

(पृष्ठ १८ का शेषांश)

वह आंखों से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हैमचन्द्र ने इन शब्दों में प्रकट किया था—

अपर्यायं वस्तु समस्यमान—
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

—हम अभेद के परिपार्श्व मे चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार से शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व में चलें तो द्रव्य लुप्त हो जायेगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बडी हो जायेगी। भेद अभेद को निगल जायेगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत् मे जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व मे जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी मे नहीं है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल में है, उतनी किसी में नही है। हमारे जगत् में व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है। × × ×

में वृद्ध तथा जाति-व्यवहार को जानने वाले थे, उन्हें लोक-बन्धु भगवान् ऋषभदेव ने रक्षाकार्य में नियुक्त किया। जो कुरुदेश के स्वामी थे, वे कुरु, जिनका शासन उग्र था, वे उग्र और जो न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे, वे भोज कहलाए। इनके अतिरिक्त प्रजा को हर्षित करने वाले अनेक राजा और भी बनाए गए। उस समय श्रेयान्स और सोम-प्रभ आदि कुरुवंशी राजाओं से यह भूमि सुशोभित हो रही थी[४]।

हरिवंश पुराण के ४५वें पर्व में कुरुवंशी राजाओं की विस्तृत परम्परा का वर्णन हुआ है। तदनुसार शोभा में उत्तर कुरु की तुलना करने वाले कुरुजाङ्गल देश के हस्ति-नापुर (हस्तिनपुर) नगर में जो आभूषणस्वरूप श्रेयान्स और सोमप्रभ नामके दो राजा हुए थे, वे कुरुवश के तिलक थे, भगवान ऋषभदेव के समकालीन थे और दानतीर्थ के नायक थे। उनमें सोमप्रभ के जयकुमार नाम का पुत्र हुआ। वह जयकुमार ही आगे चलकर भरत चक्रवर्ती के द्वारा 'मेघ-स्वर, नाम से सम्बोधित किया गया। जयकुमार से कुरु पुत्र हुआ, कुरु के कुरुचन्द्र, कुरुचन्द्र के शुभकर और शुभ-कर के धृतिकर पुत्र हुआ। तदनन्तर कालक्रम से अनेक करोड़ राजा हुए और अनेक सागर प्रमाण तीर्थंकरों का अन्तराल काल व्यतीत हो जाने पर धृतिदेव, धृतिकर, गङ्गदेव, धृतिमित्र, धृतिक्षेम, सुव्रत, व्रात, मन्दर, श्रीचन्द्र और सुप्रतिष्ठ आदि सैकड़ों राजा हुए। तदनन्तर धृतपद्म, धृतेन्द्र, धृतवीर्य, प्रतिष्ठित आदि राजाओं के हो चुकने पर धृतिदृष्टि, धृतिद्युति, धृतिकर, प्रीतिकर आदि हुए। तत्-पश्चात् भ्रमरघोष, हरिघोष, हरिध्वज, सूर्यघोष, सुतेजस, पृथु और इभवाहन आदि राजा हुए। तदनन्तर विजय, महाराज और जयराज हुए। इनके पश्चात् उसी वंश मे चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार हुए, जो रूपपाश से खिंचकर आये हुए देवों के द्वारा सम्बोधित हो दीक्षित हो गए थे। सनत्कुमार के सुकुमार नाम का पुत्र हुआ। उसके बाद वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वकेतु और वृहद्ध्वज नामक राजा हुए। तदनन्तर विश्वसेन राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम ऐरा था। इन्हीं के पंचम चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए। इनके पश्चात् नारायण, नरहरि, प्रशान्ति, शान्तिवर्द्धन, शान्तिचन्द्र, शशाङ्क और कुरु राजा हुए। इत्यादि राजाओं के व्यतीत होने पर इसी वंश में सूर्य नामक राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम श्रीमती था। उन दोनों के भगवान् कुन्थुनाथ उत्पन्न हुए, जो तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे। तदनन्तर क्रम-क्रम से बहुत से राजाओं के व्यतीत हो जाने पर सुदर्शन नामक राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम मित्रा था। इन्हीं दोनों के सप्तम चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ हुए। तदनन्तर अन्य राजाओं के हो चुकने पर इसी वंश मे पद्ममाल, सुभौम और पद्मरथ राजा हुए। उनके बाद महापद्म चक्रवर्ती हुए। उनके विष्णु और पद्म नामक दो पुत्र हुए। तदनन्तर सुपम, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्र, विचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानत, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रत-धर्मा, धृतधारण, महासर, प्रतिसर, शर, पाराशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण, योजनगंधा के भर्ता शन्तनु और शन्तनु के राजा धृतव्यास पुत्र हुए। तदनन्तर धृतधर्मा, धृतेदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान और धृत हुए। धृत के धृतराज नामक पुत्र हुआ। उसकी अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नामक तीन स्त्रियां थी, जो उच्चकुल में उत्पन्न हुई थी। उनमे अम्बिका के धृत-राष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से ज्ञानिश्रेष्ठ विदुर ये तीन पुत्र हुए। भीष्म भी शन्तनु के ही वंश में उत्पन्न हुए थे। धृतराज के भाई रुक्मण उनके पिता थे और राज-पुत्री गंगा उनकी माता थी। राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो नय-पौरुष से युक्त तथा परस्पर एक-दूसरे के हित करने में तत्पर थे। राजा पाण्डु की स्त्री का नाम कुन्ती था। जिस समय राजा पाण्डु ने गन्धर्व विवाह कर कुन्ती से कन्या अवस्था में सम्भोग किया था, उस समय कर्ण उत्पन्न हुए थे और विवाह करने के बाद युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम ये तीन पुत्र हुए। इन्हीं पाण्डु की माद्री नामकी दूसरी स्त्री थी। उससे नकुल और सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही पुत्र कुल के तिलकस्वरूप थे और पर्वत के समान स्थिर थे। युधिष्ठिर को आदि लेकर तीन तथा नकुल और सहदेव ये पांच पाण्डव कहलाते थे[५]।

आदि पुराण में उल्लिखित कुरु जनपद—आदि पुराण में कुरु[६] और कुरुजाङ्गल इन दो राज्यों का उल्लेख आया

है। आदि पुराण के ४३वें पर्व में कुरुजाङ्गल की निम्न-लिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं—

१. कुरुजाङ्गल देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों की खान है।

२. यह देश स्वर्ग के समान है अथवा स्वर्ग मे भी इन्द्र के विमान के समान है।

३. कुरुजाङ्गल देश में स्थित हस्तिनापुर नगर सब प्रकार की सम्पदाओं से विचित्र है तथा वह समुद्र में लक्ष्मी की उपत्यका को झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृह के समान जान पड़ता है।

असग कवि विरचित शान्तिनाथ पुराण के त्रयोदश सर्ग में कुरुदेश तथा उसमें स्थित हस्तिनापुर नगर का विस्तृत वर्णन मिलता है। तदनुसार कुरु देश मे निम्न-लिखित विशेषाए दृष्टिगोचर होती हैं—

१. यह लक्ष्मी से उत्तरकुरु की शोभा जीतता है।

२. साधु पुरुष यहां याचकों को कभी नही रोकते है।

३. वहां के मनुष्यों में विरह तथा मूर्खजनो की सगति नही देखी जाती है।

४. अशोक वृक्षावलि के पल्लवो से मुक्त यहां के सरोवर मूंगा के वनों से युक्त ज्ञात होते है।

५. यहां की स्त्रियां नाना प्रकार के बेल-बूटो से प्रसाधन करती है तथा काम से उज्ज्वल से शोभा रमणीक हैं।

६. यहां के मनुष्यों की बात ही क्या, वनवृक्ष भी सत्पुरुषों के आचरण का पालन करते है।

७. उस देश के तालाबों में राजहंस निवास करते है।

८. वहां के ब्राह्मण निर्दोष तलवार धारण करने वाले उत्तम राजाओं की सेवा करते हैं।

९. उस देश के उत्तम राजा जगत् के दरिद्र्यजनित दुःख को दूर करते हैं।

१०. वहां की नारियां बर्फ के समान शीतल जल धारण करती हैं।

११. वहां का जन समूह विपत्तियों के अंश से रहित फलश्री से युक्त तथा समीचीन आचार-विचार में स्थित हैं।

१२. वहां ऊंचे-ऊंचे पर्वत हैं। उन पर्वतों पर धव तथा देवदारु के वृक्ष एवं लताएं हैं, एवं सिंह आदि बड़े-बड़े जीव हैं।

१३. वहां के लोग सज्जन, उदारहृदय, उज्ज्वलता के आधार, भीतर से निष्कपट एवं महापराक्रम से युक्त हैं।

कल्पसूत्र के अनुसार ऋषभ के सौ पुत्रों में इक्कीसवें का नाम कुरु था, जिनके नाम पर कुरु नामक राष्ट्र प्रसिद्ध हुआ, किन्तु आदि पुराण के अनुसार बाहुबलि पुत्र सोमप्रभ ही इस नगर के राजा थे और उनकी दूसरी सज्ञा कुरु होने से यह भूभाग कुरु देश कहलाया[९]।

जैन साहित्य में हस्तिनापुर—

जैन आगमों में हस्तिनापुर—स्थानाङ्ग सूत्र में दस महानदियो तथा चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह नामकी दस राजधानियों के नाम हैं[१०]।

विवागसुय मे उज्झिय नामक वणिक् पुत्र के पूर्वजन्म की कथा है, जिसके अनुसार हस्तिनापुर मे भीम नामका एक कूटग्राह (पशुओं का चोर) था। उसके उत्पला नामकी भार्या थी। उत्पला गर्भवती हुई और उसे गाय, बैल आदि का मांस भक्षण करने का दोहद हुआ। उसने गोत्रास नामक पुत्र को जन्म दिया। यही गोत्रास वणियगाम में विजय मित्र के घर उज्झिय नामका पुत्र हुआ। उज्झिय जब बड़ा हुआ तो उसके माता-पिता मर गए और नगर-रक्षकों ने उसे घर से निकालकर उसका घर दूसरों को दे दिया। ऐसी स्थिति मे वह द्यूतगृह, वेश्यागृह और पाना-गारों मे भटकता हुआ समय यापन करने लगा। कामज्झया नामक वेश्या के घर पर वह आने-जाने लगा। यह वेश्या राजा को भी प्रिय थी। एक दिन उज्झिय वेश्या के घर पकड़ा गया और राजपुरुषों ने उसे प्राणदण्ड दे दिया[११]।

निसीह के नौवें उद्देशक में चम्पा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, काम्पिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह नामकी दस अभिषिक्त राजधानियां गिनाई गई हैं। यहां राजाओं का अभिषेक किया जाता था[१२]।

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में हस्तिनापुर—आचार्य कुन्द-कुन्द की निर्वाण भक्ति में अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयन्त, पावा, सम्मेदशिखर, गजपथा, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सुवर्णगिरि, कुथलगिरि, कोटिशिला, रेशिंदीगिरि, पोदनपुर, हस्तिना-पुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, श्रीपुर, चन्द्रगुहा आदि तीर्थस्थानों का उल्लेख हुआ है। यहां से अनेक ऋषि-मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया था[१३]।

पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने ५२ आर्य देशों की स्थापना की थी उसमें कुरु-जांगल देश भी था। इस प्रदेश की राजधानी का नाम गजपुर था। सम्भवतः इस प्रदेश के गङ्गातटवर्ती जगलो मे हाथियो का बाहुल्य होने के कारण यह गजपुर कहलाने लगा। पश्चात् कुरुवश मे हस्तिन् नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। उसके नाम पर इसका नाम हस्तिनापुर हो गया[14]। प्राचीन साहित्य में इस नगर के कई नाम आते है, जैसे—गजपुर[15], हस्तिनापुर, गजसाह्वयपुर[16], नागपुर[17], आसन्दीवत्, ब्रह्मस्थल[18], कुजरपुर[19] आदि। यह नगर पाण्डवो को अत्यधिक प्रिय था, अत. श्रीकृष्ण ने इसे पाण्डवो को प्रीतिपूर्वक दिया था[20]। जब पान्डव हास्तिनपुर (हस्तिनापुर) मे यथायोग्य रीति से रहने लगे, तब कुरुदेश की प्रजा अपने पूर्व स्वामियों को प्राप्तकर अत्यधिक सन्तुष्ट हुई। पाण्डवों के सुखदायक सुराज्य के चालू होने पर देश के सभी वर्ण और सभी आश्रम धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि को सर्वथा भूल गये[21]। एक बार भीम के एक परिहास से क्रुद्ध होकर कृष्ण पाण्डवो से रुष्ट हो गये और सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु को राज्य देकर वहा से उन्होंने पाण्डवों को क्रोधवश विदा कर दिया[22]। असमय मे वज्रपात समान कठोर कृष्णचन्द्र की आज्ञा से पाण्डव अपने अनुकूल जनो के साथ दक्षिण दिशा की ओर गए और वहाँ उन्होने मथुरा नगरी बसायी[23]।

प्रथम दानतीर्थ का प्रवर्तन—पद्मचरित में हस्तिनपुर अथवा हस्तिनापुर में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा आहार ग्रहण करने का वर्णन आया है, तदनुसार शोभा मे मेरु के समान भगवान् ऋषभदेव किसी दिन विहार करते-करते मध्याह्न के समय हस्तिनापुर नगर मे प्रविष्ट हुए[24]। मध्याह्न के सूर्य के समान दैदीप्यमान उन पुरुषोत्तम के दर्शन कर हस्तिनापुर के समस्त स्त्री-पुरुष बड़े आश्चर्य से मोह को प्राप्त हो गए अर्थात् किसी को यह ध्यान नही रहा कि आहार की वेला है, इसलिए भगवान् को आहार देना चाहिए। वहाँ के लोग अन्य वाहन ला-लाकर उन्हें समर्पित करने लगे। विनीत वेष को धारण करने वाले कितने ही लोग पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली तथा कमलों के समान नेत्रों से सुशोभित सुन्दर-सुन्दर कन्यायें उनके पास ले आए। जब वे कन्यायें भगवान् के लिए रुचिकर नही लगी, तब वे निराश होकर स्वयं अपने आपसे ही द्वेष करने लगी और आभूषण दूर फेंक भगवान् का ध्यान करती हुई खडी रह गई। अथानन्तर महल के शिखर पर खड़े हुए राजा श्रेयास ने उन्हे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा और देखते ही पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। राजा श्रेयास महल के नीचे उतर कर अन्त.पुर तथा अन्य मित्रजनो के साथ उनके पास आया और हाथ जोड़ कर स्तुति पाठ करता हुआ प्रदक्षिणा देने लगा। भगवान् को प्रदक्षिणा देता हुआ राजा श्रेयास ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेरु के मध्य भाग की प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य ही हो। सर्वप्रथम राजा ने अपने केशो से भगवान् के चरणो का मार्जन कर आनन्द के आँसुओं से उनका प्रक्षालन किया, रत्नमयी पात्र से अर्घ्य देकर उनके चरण धोए और पवित्र स्थान मे उन्हे विराजमान किया, तदनन्तर उनके गुणो से आकृष्ट चित्त हो कलश मे रखा हुआ शीतल जल लेकर विधिपूर्वक श्रेष्ठ पारण कराई। उसी समय आकाश मे चलने वाले देवो ने प्रसन्न होकर साधु-साधु, धन्य-धन्य शब्दो के समूह से मिला एव दिग्मडल को मुखरित करने वाला दुन्दुभिबाजो का भारी शब्द किया। पाच रग के फूल बरसाए। अत्यन्त सुखकर स्पर्श सहित दिशाओ को सुगन्धित करने वाली वायु बहने लगी और आकाश को व्याप्त करती हुई रत्नो की धारा बरसने लगी। इसी प्रकार राजा श्रेयास तीनो लोको को आश्चर्य मे डालने वाले देवकृत सम्मान को प्राप्त हुआ। सम्राट् भरत ने भी बहुत भारी प्रीति के साथ उनकी पूजा की। अनन्तर इन्द्रियजयी भगवान् ऋषभदेव मुनियों का व्रत कैसा है? उन्हें किस प्रकार आहार दिया जाता है, इसकी प्रवृत्ति चलाकर फिर से शुभध्यान मे लीन हो गए। अनन्तर शुक्लध्यान के प्रभाव से मोह का क्षय होने पर उन्हे लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हो गया[25]।

७०० मुनियों की उपसर्ग निवृत्ति का क्षेत्र—हस्तिनापुर मे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के उपसर्ग का निवारण हुआ। इसकी कथा इस प्रकार है—

किसी समय उज्जयिनी में श्रीधर्मा राजा रहता था। उसके बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद ये चार मन्त्री

थे। किसी समय श्रुत के पारगामी महामुनि अकम्पन सात सौ मुनियों के साथ उज्जयिनी के बाह्य उपवन मे विराजमान हुए। उनके दर्शन के लिए नगरनिवासियो की भाँति राजा भी मन्त्रियों के साथ गया। मुनियो के दर्शन कर मन्त्री कुछ विवाद करने लगे। उस समय गुरु की आज्ञा से सब मुनि सघ मौन लेकर बैठा था, इसलिए ये चारो मन्त्री विवश होकर लौट आए। लौटते समय उन्होने एक श्रुतसागर नाम के मुनि को देखकर राजा के समक्ष छेड़ा। सब मन्त्री मिथ्यामार्ग से मोहित थे, अत. श्रुतसागर नामक मुनिराज ने उन्हें जीत लिया। उसी दिन रात्रि के समय उक्त मुनिराज प्रतिमायोग से विराजमान थे कि सब मत्री उन्हे मारने के लिए गए, किन्तु देव ने उन्हे कीलित कर दिया। यह देख राजा ने उन्हे अपने देश से निकाल दिया।

चारो मन्त्री हस्तिनापुर आए। उस समय वहाँ राजा पद्म राज्य करता था। राजा पद्म बलि आदि मन्त्री के उपदेश से किले मे स्थित सिंहबल राजा को पकडने मे सफल हो गया, अतः उसने बलि से अभीष्ट वर माँगने के लिए कहा। बलि ने उस वर को राजा के ही पास धरोहर के रूप रखा।

किसी समय अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज हस्तिनापुर आए। उनके विषय मे जानकर बलि आदि मन्त्री भयभीत हो गए। बलि ने राजा पद्म से वर देने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने हेतु सात दिन का राज्य माँगा। राजा ने बलि को सात दिन का राज्य दे दिया। बलि ने सिंहासन पर आरूढ होकर उन मुनियो पर उपद्रव करवाया। उसने चारो ओर से मुनियों को घेरकर पत्तो का धुआँ कराया तथा जूठन व कुल्हड़ आदि फिकवाए। मुनिगण सावधिक संन्यास धारण कर उपसर्ग सहन करते रहे।

उस समय मिथिला नगरी में पद्म के छोटे भाई विष्णुकुमार मुनि के अवधिज्ञानी गुरु विराजमान थे। अवधिज्ञानी उन गुरु से पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक ने मुनियों पर उपसर्ग होने का दारुण समाचार सुना। वह गुरु की आज्ञा से विष्णुकुमार मुनि के पास आया तथा विष्णुकुमार मुनि से कहा कि आपको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई है, अतः आप ही इस उपसर्ग को दूर कर सकते है। विष्णुकुमार मुनि राजा पद्म के पास गए। राजा पद्म ने कहा कि मैने सात दिन का राज्य बलि को दे रखा है। अतः इस विषय मे मेरा कुछ अधिकार नही है। यह सुनकर विष्णुकुमार मुनि बलि के पास गए तथा इस कुकृत्य को रोका। जब बलि नही माना तब उन्होने बलि से तीन पग भूमि दान स्वरूप प्राप्त कर विक्रिया ऋद्धि के द्वारा अपना शरीर बढ़ा लिया। उन्होने एक डग सुमेरु पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर, तीसरा डग अवकाश न मिलने के कारण नही रख सके। इस प्रभाव से पृथ्वी पर खलबली मच गई। देवो ने बलि को बाँध लिया और उसे दण्डित कर देश से दूर कर दिया[१६]। मुनियो के उपसर्ग निवारण की स्मृति स्वरूप ही श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को सारे देश मे रक्षाबन्धन का पर्व मनाया जाता है।

मुनि दीक्षा का केन्द्र—भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के समय नागपुर (हस्तिनापुर) का राजा वाहुवाहन था। उसकी पुत्री मनोहरा थी। उसका विवाह साकेतपुरी के राजा विजय के पुत्र वज्रबाहु के साथ हुआ था। विवाह के बाद जब वह अपनी पत्नी को लेकर जा रहा था, तब वसन्तगिरि पर एक ध्यानस्थ मुनि को देखा और उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और उसने २६ अन्य राजकुमारो के साथ मुनि दीक्षा ले ली। भगवान् मुनि सुव्रतनाथ के समय मे ही गगदत्त श्रेष्ठी था। उसके पास सात करोड स्वर्ण मुद्राये थी। एक बार भगवान् हस्तिनापुर पधारे। श्रेष्ठी ने भगवान् का उपदेश सुना। उनके मन मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने भगवान् के पास ही मुनिव्रत अगीकार कर लिए[१७]। इस प्रकार क्षेत्र पर अनेको महान् पुरुषो ने मुनि दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया।

कल्याणक भूमि—हस्तिनापुर सोलहवे, सत्रहवे एव अठारहवे तीर्थकर शान्ति, कुन्थु और अरहनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक की भूमि रही है। इन तीनो के चरित के आधार पर अनेक महाकवियो ने अपनी काव्य रचना की। कवि असग ने भगवान् की जन्म भूमि हस्तिनापुर की निम्नलिखित[१८] विशेषताओ का वर्णन किया है—

१. हस्तिनापुर तीनो जगत की कान्ति को जीतने

वाली भरतक्षेत्र की लक्ष्मी का निवासभूत अद्वितीय कमल है।

२. वहाँ के लोग विद्वान होते हुए भी अहंकार रहित है।

३. वहाँ तलवार को ग्रहण करने वाले लोग है तथा वहां मूर्खों का सद्भाव नही है।

४. वहाँ की स्त्रियाँ गले में हार धारण करती है।

५. वहाँ के बाजारो में चित्र-विचित्र मणियाँ रखी गई हैं, जिनकी किरणों से शरीर कल्माषित होने के कारण लोग एक दूसरे को पहिचान नही पाते है।

६. वहाँ के भवनो मे ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ लगे हुए है।

७. वहाँ के लोग दूसरे लोगों के सहायक है।

८. वहां के मनुष्य लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अत्यधिक खेदयुक्त नहीं होते है।

९. वहाँ के लोग युद्ध मे विजय प्राप्त करते है।

१०. वहाँ के निवासी ससारी होने पर आत्माधीन, सुखी तथा समान गुणो से युक्त है।

११. वहाँ का राजा विविध गुणो से युक्त है।

विविध तीर्थकल्प का उल्लेख—विविध तीर्थकल्प नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि आदि तीर्थंकर के सौ पुत्रो में भरत और बाहुबली प्रधान थे। शेष ९८ भाई भरत के ही सहोदर थे। जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा ली तो उन्होंने अयोध्या के अपने पद पर भरत का राज्याभिषेक किया और बाहुबली को तक्षशिला के पद पर। शेष पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य प्रदान किया। अगकुमार ने जिस देश को प्राप्त किया, वह अगदेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुरु नामक पुत्र के नाम से कुरुक्षेत्र और बग, कलिंग, सूरसेन एव अवन्ति के नाम से तत्तत् देश प्रसिद्ध हुए। कुरु का पुत्र हस्ति नामक राजा हुआ, जिसने हस्तिनापुर को बसाया[२९]। यहाँ गगा नामक पवित्र नदी प्रवाहित होती है। मल्लिनाथ स्वामी का समवसरण हस्तिनापुर आया था। इस नगर मे विष्णुकुमार मुनि ने बलि द्वारा हवन के लिए एकत्र सात सौ मुनियो की रक्षा की थी। सनत्कुमार, महापद्म, सुभौम और परशुराम का जन्म इसी नगर मे हुआ था। इस महानगर मे शान्ति, कुन्थु, अरह और मल्लिनाथ के मनोहर चैत्यालय थे। अम्बादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी इसी नगर मे विद्यमान था।

—अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग वर्धमान कालेज, बिजनौर

---

१. जिनसेन : हरिवंशपुराण ४५।६-३८
२. वही १३।७-१६
३. वही १३।३३
४. वही १३।४३-४५
५. वही ४५।६-६८
६. जिनसेन : आदिपुराण १६।१५२
७. वही १६।१५३
८. असग : शान्तिनाथपुराण १३।१-१०
९. श्री सुदर्शनमेरुबिम्बप्रतिष्ठा स्मारिका पृ० ७ पर डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख।
१०. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिसास पृ० ६१।
११. वही पृ० ९६
१२. वही पृ० १४१
१३. वही पृ० ३०३
१४. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (प्रथम भाग) पृ० २२
१५. विमलसूरि : पउमचरिय ९५।३४
१६. श्रीमद्भागवत १।१।४८
१७. पउमचरिय ६।७१, २०।१०
१८. वही २०।१८०
१९. वही ९५।३४
२०. हरिवंशपुराण ५३।४६
२१. वही ५४।२-३
२२. हरिवंशपुराण ५४।६३-७१
२३. वही ५४।७३
२४. पद्मचरित ४।६
२५. पद्मचरित ४।७-२२
२६. जिनसेन : हरिवशपुराण सर्ग-२०
२७. विमलसूरि : पउमचरित २१।४३
२८. शान्तिनाथ गुराण १३।११-२०
२९. सिरिआइतित्थेसरस्स दोण्णि पुत्ता भरहेसर बाहुबलि नामाणो आसि। भरहस्स सहोपरा अट्ठाणउई वि तेसु तेसु देसेसु रज्जाइं दिण्णाइं कुरुनरिंदस्स पुत्तो हत्थी नाम राया हुत्था। तेण हत्थिणाउरं निवेसिअं। विविध तीर्थकल्प (हस्तिनापुर) पृ. २७

ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी की सौवीं जन्मतिथि पर

क्रान्तिकारी शीतल

□ श्री ऋषभचरण जैन

"नंगे बदन रहते है। इण्टर या थर्ड मे होंगे। यह उनका फोटो रहा। सावला-सा रग है। जरा-जरा कुछ मुस्कुराते से, खूब मीठे-मीठे से व्यक्ति है। हजारीलाल जी तो तुम्हारे साथ है ही। उन्हे बहुत सत्कार पूर्वक लाना।"

सन् १९२४-२५ की बात है। हरदोई मे ब्रह्मचारी जी आने वाले थे। बाबूजी (बैं० चम्पतराय जी) ने उन्हे बुलाया था। हमारी और मुशी हजारीलाल जी की ड्यूटी उन्हें स्टेशन पर 'रिसीव' करने की थी। बाबूजी के उपरोक्त शब्दो में ही हमने ब्रह्मचारी जी का प्रथम परिचय पाया। कुछ ही दिन पहिले ब्रह्मचारी जी समाज-सुधार सम्बन्धी घोषणा कर चुके थे। और इस घोषणा ने जैन-समाज में बज्रपात का-सा कार्य किया था।

"जैन-मित्र" और 'दिगम्बर जैन' मे ब्रह्मचारी जी के लेख हमने पढे थे। बिल्कुल एक बालक का-सा कौतूहल मुझे ब्रह्मचारी जी मे मिला। अपना यह कौतूहल मैने बाबूजी पर प्रकट भी कर दिया था तथा उनसे वादा भी ले लिया था कि वे एक दिन ब्रह्मचारी जी के दर्शन मुझे करायेंगे। यह उस कहे की पूर्ति थी।

'जैन-समाज' के छः-सात नाम बाबू जी के मुह से अकसर निकलते थे। ये नाम थे, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, बाबू देवेन्द्रकुमार आरा वाले, बाबू रतनलाल (वकील), लाला राजेन्द्रकुमार (बिजनौरवाले), बाबू अजितप्रसाद (एडवोकेट, लखनऊ), बाबू कामताप्रसाद(एटा) और बाबू मूलचन्द किसनदास कापड़िया। ब्रह्मचारी जी का नाम वास्तव मे सबसे अधिक बार उनकी जबान पर आता था। आज ये मेरे जीवन के अमिट भाग बन गए हैं जिन्हें मैं कभी भुलाए नही भूल सकता। और इनमे से ब्रह्मचारी जी का सस्मरण लिखने का अवसर पाकर मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है।

बिल्कुल ठीक उपरोक्त नख-शिख के ब्रह्मचारी जी थे। मेरी प्रकृति मे आरम्भ से ही एक खास तरह की युक्त-प्रांतीय ऐंठ है। मैंने अपने जीवन में बाबूजी के अतिरिक्त और किसी के पैर नही छुये परन्तु ब्रह्मचारी जी के पैर मुझे छूने पड़े। मैंने अपने अहंकारवश बहुत कम आदमियों को अपने से बड़ा माना लेकिन ब्रह्मचारी जी को मैं मन ही मन सदा बहुत बडा मानता रहा। मेरे जीवन की परिस्थितियां कुछ ऐसी रही कि मैं ब्रह्मचारीजी के जीवन-काल मे उनकी किसी भी आज्ञा का पालन नही कर सका और न उनकी कोई सेवा मुझसे बन सकी। लेकिन उनके बाद मैं उनके कार्य को अवश्य अग्रसर होकर करना चाहूंगा। चाहे इसमें मुझे कोई सहयोग दे या न दे।

बाबूजी के प्रेरक कुछ हद तक ब्रह्मचारी जी थे और ब्रह्मचारी जी की प्रेरक थी वह उत्कृष्ट आत्मा जिसकी सत्ता में हमे एकनिष्ठ विश्वास है।

ब्रह्मचारी जी कई दिन हरदोई में रहे। ब्रह्मचारी जी और बाबूजी दोनो ही महापुरुष थे। परन्तु एक प्रतिमाधारी था और दूसरा केवल एक अणुव्रती गृहस्थ। यह २५ या २६ सन् की बात है। बाबूजी का जीवन करीब १० वर्ष हुए, बदल चुका था। उन्होने अपने व्यस्त जीवन में से भी समय निकाल कर जैन धर्म सम्बन्धी बहुत से ग्रंथ रच डाले थे। दिगम्बर जैन परिषद्' की बुनियाद पड चुकी थी और 'दि० जैन महासभा' के कुछ सज्जन बाबू जी की अप्रिय आलोचना भी कर रहे थे। बाबूजी में नीतिमत्ता कुछ कम थी। वे अपनी बात सदा ओजस्वी और बहुत सीधे ढग पर कह देते थे। 'महासभा' के साथ अपने मतभेद को भी इसी ओजस्वी और सीधे ढंग पर उन्होने प्रकट कर दिया था। ब्रह्मचारी जी के साथ उनकी गाढ़ी मैत्री थी। दोनो मे बहुत-सी और बहुत लम्बी-लम्बी बाते हुई। कुछ इधर-उधर और कुछ मेरे सामने। मुझे ब्रह्मचारीजी के समक्ष बाबूजी भी कुछ हलके-हलके लगने लगे।

ब्रह्मचारी जी की वह सूरत हमारे मन में घर कर गई। वे बरामदे में काठ के तख्त पर सोते थे और बहुत तड़के उठते थे। दिन में एक ही बार भोजन करते

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

विश्व शान्ति में भगवान महावीर के सिद्धान्तों की उपादेयता

□ कु० पुखराज जैन

आज भौतिक विज्ञान ने बहुत विकास कर लिया है उसकी उपलब्धियो एव अनुसधानो ने विश्व को चमत्कृत कर दिया है। प्रति क्षण अनुसधान हो रहे है जो आज तक नही खोजा जा सका उसकी खोज मे और जो नही सोचा उसे सोचने मे व्यक्ति व्यस्त है। आविष्कार का धरातल अब केवल भौतिक पदार्थो तक सीमित नही रहा, वरन् अन्तर्मुखी चेतना को पहचानना व अध्ययन करना भी उसकी सीमा मे आ रहा है। आज की वैज्ञानिक प्रगति स्वर्ग की भौतिक दिव्यताओं को पृथ्वी पर उतारने के लिए (कटिबद्ध प्रयत्नशील है। पाश्चात्य देशो ने अपनी समृद्धि से उन दिव्यताओं को खरीद भी लिया है।

इतना होने पर भी आज का मनुष्य सुखी नही है। वह सुख की तलाश मे भटक रहा है। आजकल परिवार भौतिक साधन सम्पन्न तो देखे जाते है, लेकिन परिवारो के सदस्यो मे परस्पर सद्भावना व विश्वास व्यय होता जा रहा है। व्यक्ति सम्पूर्ण भौतिक सुखो को अकेला ही भोगने के लिए व्यग्र है, लेकिन अन्ततः उसे अतृप्ति का अनुभव ही हो रहा है। ऐसे निराश एव संत्रस्त मानव को आशा एव विश्वास की मशाल थमानी है। आज हमे मनुष्य को चेतना के केन्द्र मे प्रतिष्ठित कर उसके पुरुषार्थ व विवेक को जगाना है। उसके मन मे जगत के सभी जीवों के प्रति अपनत्व का भाव लाना है मनुष्य-मनुष्य के बीच आत्मतुल्यता की ज्योति जलानी है जिससे परस्पर समझदारी प्रेम व विश्वास पैदा हो।

आज भौतिकता अग्नि से जीवन मुख्यत घिर रहे हैं। मानवता गल रही है, धर्म जल रहा है। और सस्कृति झुलस रही है। शान्ति के नाम पर नर सहार, मित्रता के नाम पर शोषण व स्वार्थ की भावनायें बराबर जड पकड रही है। नैतिकता का पतन जिस गति से हो रहा है वह कल्पनातीत है। राष्ट्रीय समाज, धर्म और सम्प्रदाय को लेकर अशान्त है; हिंसक बना हुआ है। विश्व के मानचित्र देखें तो वहां भी वर्ग संघर्ष है, विकसित व विकासशील देशो मे रस्साकशी है, विषमता बढ़ती जा रही है।

आज व्यक्ति ने न्यूट्रान बम और हाइड्रोजन बम बना लिया है। व्यक्ति स्वय अपनी जाति के सर्वनाश पर तुला है, साथ ही समस्त प्राणी जगत को भी अपने साथ नष्ट करना चाहता है। मनुष्य का मनुष्य की दृष्टि मे कोई मूल्य नही, कैसी भयानक स्थिति है ? आज का विश्व युद्ध की विभीषिका से सत्रस्त है। पता नही किस समय फौजे आमने-सामने आ जाये। आज के युग मे जिस प्रकार के विनाशक हथियारो का निर्माण हुआ है और निरन्तर होता जा रहा है उससे भय है कि यदि युद्ध छिड़ा तो प्रलय का झझावात विश्व के बहुत बड़े भाग को अपनी चपेट मे ले लेगा। उस स्थिति की कल्पना मात्र ही भय से रोगटे खड़ा कर देने वाली है।

यह तो रहा विश्व का युद्धमय वातावरण। विज्ञान ने केवल सामरिक क्षेत्र मे ही उन्नति नही की। विज्ञान ने भौतिक क्षेत्र मे इतना विकास किया है कि कहना चाहिए अब आविष्कार आवश्यकता की जननी बन गए। व्यक्ति के सामने पदार्थों का ऐसा विश्वव्यापी समूह है जिसे वह देख नही पा रहा, जान नही पा रहा, इसलिए कौन-सी वस्तु का प्रयोग कहा पर हो सकता है यह जानकारी प्राप्त करने मे बराबर प्रयत्नशील है जिससे वह विज्ञान की प्रगति को अपने जीवन मे समाहित कर सके। इन आविष्कारो ने उसकी आवश्यकताओं मे अभिवृद्धि की है विज्ञान ने व्यक्ति के प्रत्येक अभाव को सद्भाव में परिवर्तित कर दिया है।

आज आवश्यकता है सामरिक व्यक्ति को सामाजिक बनाने की जिससे प्राणी जगत का सर्वनाश करने वाला व्यक्ति प्राणी जगत का कल्याण कर सके; वह सामाजिक बन कर प्राणी जगत के साथ जी सके। उनके हिताहित के बारे में सोच सके। मानवता का सम्मान कर सके। (क्रमश.)

जरा सोचिए !

१. ये विसंगतियां !

दूसरों को दोष देना लोगों का स्वभाव जैसा बन गया है। कहते हैं—आज संसार मे जो बदलाव आया है, छीना-झपटी, आपा-धापी मची हुई है वह सब समय के बदलाव का प्रभाव है। पर, यह कोई नही बतलाता कि यह सब घटित कैसे हुआ ? जबकि समय, दिन-रात, घडी-घन्टा, मिनट-सैकिण्ड आदि मे कोई बदलाव आया नही मालूम देता। समय तो तीर्थंकरों के काल में और उससे बहुत पहिले काल मे जैसा और जिस परिमाण मे था आज और अब भी वैसा उसी परिमाण मे है। फिर काल-द्रव्य अन्य पदार्थों के लिए प्रेरक भी तो नही—हर द्रव्य का परिणमन उसका अपना और स्वाभाविक है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्।'

सुना है, पहिले के लोग स्वार्थी उतने नही थे जितने परमार्थी। उनकी दृष्टि दूसरो के उपकार पर अधिक रहती थी जबकि आज विरले ही मानवों की बिरली ही गतिविधियां परमार्थ के लिये समर्पित है। मनुष्य स्वय स्वार्थ की ओर दौड़ रहा है और बदनामी से बचने के लिये स्वय ही युग को 'अर्थयुग' या अर्थ के प्रभाव का नाम देकर बदनाम कर रहा है।

स्वार्थ के लिए मानव की दौड कहा-कहा है, यह जानने के लिये लम्बे लम्बे व्यायामो की आवश्यकता नही। आज तो मानव कहां नही दौड रहा ? यह आसानी से जाना जा सकता है, क्योंकि उसकी अ-दौड के क्षेत्र सीमित है और दौड़ के क्षेत्र विस्तृत। मानव ने सभी क्षेत्र तो स्वार्थपूर्ति मे व्याप्त कर रखे है—**जो निःस्वार्थ है वे धन्य है**। बहुत से लोगो ने तो धर्म उपकरणों, स्थानो, और धर्म के नाम पर होने वाले कार्यक्रमों तक को स्वार्थ-पूर्ति से अछूता नही छोडा है। बहुत से लोग दान देते है तो यश-कीर्ति-नाम के लिये, सम्मेलन, जयन्तियों आदि के आयोजन करते है तो यश व अर्थ के लिए, भाषण, कथा, प्रचार आदि करते हे यश व अर्थ के लिये और धार्मिक-साहित्य प्रकाशन आदि करते है तो वह भी व्यवसाय के लिये। कोई दूसरो को नीचा दिखाने के लिये समन्वय के नाम पर विरोधी वाणी बोल रहे है तो कही—जहा पहिले वस्तुनिर्णय के लिये अपेक्षावाद को निर्णायक माना जाता था वहां अब निर-पेक्षवाद का प्रभुत्व है, जहां अनेकान्त था वहां एकान्त है। इस प्रकार सभी तो विसंगतियाँ इकट्ठी हो गई हैं; जबकि धर्म सभी विसगतियो से अछूता —वस्तु स्वभाव मे है।

यदि कही विसंगतिया नजर आती हो तो उन्हें दूर कीजिये। अन्यथा कही ऐसा न हो कि परिपक्व होने पर ये विसगतिया ही धर्म का रूप ले बैठें। क्योकि बदलती परम्पराओ से यह स्पष्ट होने लगा है कि—धर्म मे अधर्म तीव्रगति से घुसपैठ कर रहा है और हम एक-दूसरे का मुँह देख रहे है। हममे जो एक करता है दूसरे भी वही करने लगते है और करे भी क्यो नही ? कुछ अपवादो को छोड़, प्राय हम सभी तो एक थैली के चट्टे-बट्टे जैसे है। पर, आश्चर्य न करे—बलिदान-निरोधक धर्म के मध्य भी बलिदान बैठा है। अधर्म निरोध के लिये सभी तीर्थंकरों को भी सर्वस्व तक बलिदान (त्याग) करना पडा। अब धर्म-रक्षा के लिये हमे क्या बलिदान (त्याग) करना है ? जरा सोचिये और करिये !

२. प्रचार किसका और कैसे :

जैनधर्म आचार-मूलक है तथा इसमें आभ्यन्तर और बाह्य दोनो आचारों के पालन का निर्देश है। जिसका अन्त-रग राग-द्वेष, मिथ्यात्व, कषायादि से रहित हो, और बाह्य-प्रवृत्ति पचेन्द्रिय तथा मन के वशीकरण क्रिया से ओत-प्रोत हो वही पूरा जैनी है, वही 'जिन' का सच्चा अनुयायी और वही जैन का समर्थक है। यहा तक कि पूर्वजन्म में तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करने वाले सभी जीवों को भी इसी मार्ग मे होकर गुजरना पडा और वे इस जन्म में भी निवृत्ति रूप इसी प्रवृत्ति मे केवलज्ञानी व 'जिन' बन सके। अतः लोगो को 'जिन' व वीतराग की श्रद्धा व रुचि हो, वे जिन-मार्ग पर चलें, जिन और जैनी बनने का प्रयत्न करें यही उत्तम मार्ग है।

श्रद्धा करने और मार्ग पर चलने के लिये वह सब कुछ करना होता है जो महापुरुषों ने किया और जिसका मूल चारित्र है। यत:—श्रद्धा और ज्ञान दोनो स्वयं भी जानने व अनुभूति रूप क्रिया होने से स्वयं चारित्र रूप ही

हैं। फलतः चारित्र ही मुख्य है। जो जितना अन्तरंग व बहिरंग चारित्री होगा वह उतना ही 'जिन' और जैन के निकट होगा। हां, इस चारित्र में शक्ति की अल्प व महत् व्यक्तत: की अपेक्षा अल्प -बहुत्व अवश्य है—अल्प अणुव्रत व महत् महाव्रत कहलाता है। श्रावक का चारित्र अणुव्रत और मुनि का महाव्रत रूप है—पर, है वह सभी चारित्र। उक्त चारित्र के परिप्रेक्ष्य मे आज की स्थिति क्या है? यह विचारणीय विषय बन रहा है।

आज लोगों मे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने को दबाव डाला जाता है, आधुनिक के सन्दर्भ मे ज्ञान के विस्तार का निर्देश दिया जाता है, आध्यात्मिक चर्चाएँ होती है। सम्मेलनों और सेमीनारों के आयोजन किये जाते है—आदि ! यदि उक्त सभी आयोजन आचरण मे उतरने की ओर अग्रसर दिखाई देते हों तो सभी सकल्प और आरम्भ शुभ हैं। पर अधिकांशतः ये आयोजन क्या है? चर्चाए क्या हैं? और सेमीनार क्या है? इनके वास्तविक रूपो पर लोगों की दृष्टि नही। अन्यथा—क्या कषायपोषण और आचार-विचार शून्यता मे की जाने वाली सम्यग्दर्शन की चर्चाएँ धर्म से दूर नही? क्या वर्तमान उत्सव व सेमीनारों के आयोजन प्रायः प्रभूत सम्पत्ति व्यय करने वाले और साधारण ज्ञान-पिपासुओं को लाभ देने से दूर नही? क्या दोनों के ही मूल मे चारित्र का अभाव नही? बहुतों मे प्रकट कषाय-मान आदि दृष्टिगोचर हैं तो बहुतो मे लोभादि के सद्भाव रूप अन्तरंग कलुषता और वाह्याचार-शून्यता।

वर्तमान सेमीनार क्या कुछ दे जाते हैं, ये लेने वाले जानें। पर अनुभव तो ऐसा है कि एक ओर जहा उत्सवो व सेमीनारो मे पठित कतिपय निबन्ध बहुत घिसे-पिटे और कई २ जगह वाँचे होते है—उनमें पिष्ट-पेषण भी अधिक मात्रा में लक्षित होते हैं, तो दूसरी ओर बहुत से नये प्रबन्ध कुछ बुद्ध-वोधितो तक ही सीमित रह जाते है और कई वाचकों में तो आचार-विचार सम्बन्धी मूर्तरूप भी परिलक्षित नहीं होता। ऐसे सेमीनारो मे अधिकांश लोगों को खासकर स्थानीय युवापीढ़ी को धर्म के अनुकूल कुछ नहीं मिल पाता और कभी-कभी तो इन सेमीनारों से विपरीत प्रभाव होता भी देखा जाता है जैसे—युवक जान लेते हैं इन सेमीनारों के विकृत-रूप, सम्मिलित होने वाले अनेकों महारथियों के आचार-विचार और धन के अप-व्यय के विविध आयाम। किसी का कहना था—कि उनके नगर मे पिछले वर्षों मे घटित एक सेमीनार में कुछ वाचकाचार्य ऐसे भी थे जो नई पीढ़ी पर बिना छने पानी और कन्दमूल सेवन की छाप छोड गए और कुछ ने तो रात्रि-भोजन त्याग जैसे मोटे नियमो का भी उल्लघन किया।

उक्त प्रसगो मे सोचना पडेगा कि इन सेमीनारों के आयोजन दुरूह तत्त्व-ज्ञान के आदान-प्रदान मात्र के लिए हो या आचार-विचार का मूर्त-रूप प्रस्तुत करने के लिये भी? आज जबकि शास्त्रों-सम्बन्धी खोजों के प्रसगो से भण्डार भर चुके है—लोग इतना लिख चुके है कि उन्हे पढ़ने और छपाने वाले भी दुर्लभ हो रहे है। इन प्रभूत लेखों और अनुवादो ने मूल भाषा और भावों को लोगो की आँखो से दूर-सा जा पटका है—वे आचार्यो के मूल-भावो से दूर जा पड़े है और वाह्याचार-विचार (प्रगट मे जैनत्व दर्शाने वाली–प्रभावक क्रिया) से भी शून्य जैसे हो रहे है। तब क्यों न मूल ग्रन्थों के पठन-पाठन की परिपाटी का पुनः प्रयत्न किया जाय और क्यो न मूर्त-आचार-विचार प्रसार के लिए चारित्र विषयक ग्रन्थो के शोध व मूर्त आचार प्रस्तुत करने के मार्ग खोजे जाए? द्रव्य उधर लगे या दिखावे मे? जरा सोचिये!

३. धर्म का मूल अपरिग्रह

जिन धर्म वीतराग का धर्म है और इसकी भूमिका मे अपरिग्रह की प्राथमिकता है, चौबीसो तीर्थंकर भी वीतराग पहिले और धर्म-उद्घोषक बाद में बने पूर्ण ज्ञानी होने पर ही उनकी दिव्य-देशना हुई। फलतः जितने अशों में जीव वीतरागी—अपरिग्रही होगा वह उतने अशों मे जैनी होगा। तीर्थंकर महावीर का युग एक ऐसा युग था जब हिंसा का बोलबाला था और उस समय लोगों का आकर्षण केन्द्र जीवो का चीत्कार बना हुआ था—वे अहिंसा का उपदेश चाहते थे। सयोग से ऐसे समय मे तीर्थंकर की सर्वधर्म-उद्घोषक देशना हुई और लोगों ने उसमें से एकमात्र वांछित धर्म—अहिंसा को प्रमुखता देकर महावीर की देशना को मात्र अहिंसा धर्म विशेषण से प्रतिबद्ध कर

दिया। जबकि महावीर की देशना पूर्व-तीर्थंकरों की देशना से किंचित् भी भिन्न न थी। महावीर ने भी अन्य तीर्थ-करों की भाति वस्तु-तत्त्व का याथातथ्य—नग्न दिग्दर्शन कराया और वस्तु के सभी धर्मो को कहा।

प्रश्न है कि तीर्थंकरों ने क्या और कैसा कहा ? तत्त्व-चिंतन की गहराई मे जाने पर स्पष्ट होता है कि सभी तीर्थंकरों ने, वीतरागी व निर्विकल्प दशा मे होने के कारण —वीतरागभाव से वीतरागतामयी देशना की। उनकी देशना 'याथातथ्यं बिना च विपरीतात्' 'अन्यूनमनतिरिक्त' थी और 'करो या न करो' के सकेत से रहित भी थी। क्योंकि हाँ या ना का सकेत विकल्पदशा मे ही सभव है।

तीर्थकरों ने वस्तु के जिस शुद्धस्वरूप को दर्शाया वह स्वरूप हर वस्तु के अपने निखालिसपने मे समाहित था—पर-सयोगो से सर्वथा अछूता और परिग्रहों—मिलावटो से सर्वथा पृथक्। जिन अन्य धर्म-अगो की हम चर्चा चलाते है वे सभी धर्म इस अपरिग्रह के होने पर स्वयमेव उसी मे समाहित हो जाते है। इसीलिये तीर्थकरो ने मूल पर प्रहार किया और पहिले वे वीतरागी बने। यत —वीतरागता (अन्तरग-बहिरग, परिग्रह राहित्य) होने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि जैसे सभी धर्म स्वभावत. फलित हो जाते है। अत: जीवो को अन्तरग रागादि और बहिरग धन-धान्यादि परिग्रहो से विरक्त होना चाहिये। इसीलिए आचार्यों ने सभी पापो मे प्रमाद (परिग्रह) को मूलकारण कहा है—'प्रमत्त योगात्...।"

क्या कहे ! लोग बड़े व्यवहार चतुर है। उन्हे धर्मात्मा बनने का चाव भी है और परिग्रह-सचय का भाव भी। फलत. उन्होने ऐसा सरल-मार्ग खोज लिया है कि जिसमे सांप भी मर जाये और लाठी न टूटे—वे धार्मिक बने रहे और उन्हें इन्द्रिय-दमन व परिग्रह-त्याग जैसी कठिन साधनाओ से भी मुक्ति मिली रहे। क्योकि इन्द्रिय-सयम व परिग्रह त्याग दोनों उन्हें कठिन मालुम होते है। अपनी इस इष्ट-पूर्ति के लिए वे आज जी जान से जुट गए है और उन्होंने दैनिक कठिन साधनाओं की उपेक्षा कर दान और बाह्य अहिंसा से नाता जोड़ लिया है। इसमें उन्हें संचय कर अल्प देना होता है—परिग्रह भी बढ़ता है और दानी भी बने रहते है।

जब आचार्यों ने आहार, औषध, ज्ञान और वसतिका (कही-कही अभय) देने को दान कहा है तब रुपया-पैसा देना दान में गर्भित है या आकिंचन्य में · यह विचारणीय है। फिर भी यदि यह दान में गर्भित है तो इसमे विधि, द्रव्य, दाता और पात्र पर दृष्टि देना भी तो न्यायोचित है ! यदि दाता अनुकूल है तो उसे विचारणीय है कि जो रुपया वह दे रहा है उसके स्रोत क्या है ? वह दान के योग्य है या नही ? पात्र भी योग्य है या नही ? द्रव्य का उचित उपयोग होगा या नही ? इसी प्रकार पात्र को भी दाता की नि स्वार्थ भावना व वित्त की न्यायोपात्तता देखनी चाहिए। पर, आज ये सब देखने वाले दाता और पात्र विरले है—दोनों ही आखे मीचकर—स्वार्थपूर्तियो में—लिए और दिए जा रहे है और जो विसगतियाँ समक्ष आ रही हैं वे शोचनीय बन रही है—पैसे का दुरुपयोग। यदि ऐसी परम्पराओ पर अकुश लगे तो धर्म की बहुत कुछ बढ़वारी हो। उक्त प्रसगो मे यदि सुधारो की अपेक्षा हो तो परिग्रह-त्याग का सही मार्ग क्या हो ? जरा सोचिए !

४. वे जैनी ही तो थे !

'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या. ॥'

निष्प्रतीकारयोग्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढापे, बीमारी आदि के कारण धर्म के लिए—धर्मसाधन हेतु शरीर का त्यागना सल्लेखना या समाधिमरण है।

—बडे शोक मे डूब गया देश और धार्मिक जगत्। जब बाबा विनोबा भावेजी का वियोग सुना। वे देशहित के लिये राष्ट्र-पिता बापूजी के आदर्शों पर उनसे कन्धा भिड़ा-कर चले और बापूके बाद में भी जीवनपर्यन्त धर्म की आन को निभाते चले। भू-दान तो उनकी सेवापद्धति का एकमात्र उजागर रूप था। वे अपने अन्तस्तल में न जाने कितने ऐसे यज्ञ छिपाये फिरते रहे जो जन-जन हितकारी थे। जहां भी जैसी आवश्यकता प्रतीत हुई वहीं यज्ञ के अंश बिखेर दिये। उनकी अहिंसा, करुणा, परोपकार-बुद्धि आदि आदि की भावनयें, धार्मिक और पारमार्थिक यज्ञ थे। जब तक जिए पर के लिये, देश के लिये और धर्म के लिए।

बाबा ने ससार चक्र को पैनी दृष्टि से परखा था फलतः वे अन्तिम परीक्षा तक उत्तीर्ण होते रहे। हल्का दिल का दौरा पड़ने पर सभाल के प्रयत्न किये गए, देश प्रमुखों ने संबोधन दिये। पर, बाबा ने किसी की न सुनी। वे एक सयमी—जैन सयमी को भाँति उस प्रतिज्ञा—आस्था पर दृढ हो गये जो जन-जन को दुर्लभ होती है। उन्होने औषधि, अन्न, आहार, उपचार आदि सभी से विरक्ति ले ली। वे अपने मे इस आस्था से दृढ हो गए कि शरीर मरण धर्मा है—इससे मेरा कोई सरोकार नही—'वस्त्राणि जीर्णानि यथा विहाय।'

जैनी को अव्रती अवस्था मे भी अष्टमूल गुण धारी होना चाहिये—व्रत तो बहुत बडी निधि है। बाबा मे जैन-मान्य ऐसी कौन-सी विधि नही थी? मोटे रूप से बहुत सी विधिया उनमें विद्यमान थी। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म-चर्य और परिग्रह परिमाण, अणुव्रत सभी तो उनमे थे—जैनी के नाम से भले ही न सही, व्यवहार से वे सच्चे जैन श्रावक थे। काश! हमे सद्बुद्धि मिले और हम व्रत के बन्धन में न बधे रहकर भी बाबा की भाति आचरण मे अणुव्रतों जैसा पालन करने की सीख ले, तो हमे भी बिना प्रयत्न के सहज सल्लेखना प्राप्त हो सकती है। जिसका जीवन न्याय नीतिपूर्ण रहे और अन्त मे समाधि-मरण हो, वह जैनी नही तो और क्या है? मेरी दृष्टि मे तो वे जैनी ही थे। उन्हें सादर नमन और श्रद्धाजलि।

५. और एक यह भी :

—धर्म का सच्चा स्वरूप चारित्र अर्थात् आचरण है। और सम्यक् चारित्र का धारक (धर्म को जीवन मे उतारने वाला) धर्मात्मा है। धर्म और धर्मात्मा दोनो परस्पर-सापेक्ष है। फलतः—जहाँ भी धर्म का प्रसंग उपस्थित हो, धर्मात्मा की खोज की जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमान अवार पचमकाल मे जीवो मे चारित्रमोहनीय के उपशम-क्षय-क्षयोपशम मे मन्दता लक्षित होती है और वे व्रत और नियमो की उच्च दशा मे नही पहुच पाते। तथापि धर्म के वाहकों को उतना तो होना ही चाहिए जितना अव्रती श्रावक मे अवश्यम्भावी है। जैसे आजन्म मद्य-मास-मधु का त्याग, पच उदुम्बरो का त्याग, अनछने जल और रात्रि-भोजन का मन-वचन-काय, कृतकारित-अनुमोदना से त्याग। यदि देव दर्शन, गुरुभक्ति करने का नियम हो तो और भी उत्तम।

श्रावकों का कर्तव्य है कि धार्मिक प्रसगो मे उत्सव के मुखिया के चुनाव मे उक्त बातो का ध्यान करे और जिन-शासन के महत्त्व को समझ धर्मचक्र को प्रभावक बनाने मे सहायक हो। अन्यथा हमने कई बार कईयो के मुख से उलाहने सुने है—

"क्या जिनदेव या गुरु भी ऐसे ही मुखिया थे, जैसे अमुक धर्म-सभा के अमुक नेता?—जिनमे 'जैनी' का एक भी चिह्न नही था।" 'जैसे नेता वैसी सभा और वैसा ही प्रभाव' आदि।

धर्म-उत्सवो के मुखिया बनने का आग्रह आने पर सबधित व्यक्तियो को भी सोच लेना चाहिए कि उक्त सदर्भ मे वे उस पद के कहाँ तक योग्य है? धार्मिक प्रसंग मे मुखियापने के लिए धर्म-विहीन-लौकिक बडप्पन, लौकिक या राजकीयपद अथवा लौकिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कार्य-कारी नही अपितु मुखियापने के लिए या किन्ही धर्म उत्सवो के उत्तरदायित्व सँभालने के लिए जिन-धर्मानुकूल स्थूल आचरण और धर्मविषयक स्थूल ज्ञान होना अनिवार्य है—ऊँचे नियमपालक और ज्ञाता हों तो सोने मे सुहागा। जरा सोचिए।

—संपादक

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ अलका, जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय। स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

अविश्वसनीय किन्तु सत्य

"जैनधर्म के अनुयायी अपने शुद्ध-सात्विक आहार-विहार एवं नैतिकतापूर्ण जीवन-पद्धति के लिये प्रसिद्ध रहे हैं, किन्तु क्या आज भी गिधवा गाँव के आदर्श निवासियों की भाँति वे अपने धर्म-सम्मत आचरण पर दृढ़ रह गये हैं ? इस उदाहरण से उन्हें शिक्षा लेनी चाहिए,—"

—प्रेस ट्रस्ट आफ इंडिया द्वारा प्रसारित २० सितम्बर ८२ के समाचार के अनुसार मध्यप्रदेश के रायपुर जिले मे अरगराजिम राजपथ पर स्थित गिधवा नाम का एक ग्राम है जिसमें छः सौ व्यक्तियों की आबादी है। इनमे अधिकांश गोंड हैं, कुछ एक परिवार चन्द्रकरस साहुओं के है और एक परिवार ब्राह्मणों का है। इस ग्राम के सभी निवासी कबीरपंथी हैं और परस्पर अत्यन्त सद्भाव और भाईचारे के साथ रहते है। लगभग एक सौ वर्ष पूर्व इस गाव के निवासियों ने कबीरपंथ की दीक्षा ली थी और प्रतिज्ञा की थी कि गांव का कोई भी व्यक्ति मांस-मछली आदि का भक्षण नही करेगा, शराब नही पियेगा, बलात्कार, व्यभिचार, दुराचार आदि कुकृत्य नही करेगा। तभी से इस गाव के सभी निवासी अपनी इस उत्तम टेक को निभाते चले आ रहे हैं। यदि गाव का कोई भी निवासी इन मर्यादाओं में से किसी का भी उल्लंघन करता है, कोई भी दुष्कर्म करता है तो उसके लिए गाँव छोड़कर चला जाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नही रहता। पुलिस अधिकारियों का भी कहना है कि इस ग्राम मे अथवा उसके निवासियों द्वारा कभी भी किसी अपराध का किया जाना देखने सुनने में नही आया। मद्य-मांस-मत्स्य को तो वे छूते भी नहीं, बलात्कार, व्यभिचार आदि की भी कोई घटना यहां नही होती। शनिवार १८ सितम्बर ८२ को इस गांव मे एक समारोह हुआ जिसमें ग्रामवासियों ने अपनी प्रतिज्ञा को दोहराया। वे अपनी इस आदर्श जीवन-पद्धति पर गर्व करते है जो उचित ही है। ग्राम-प्रमुख ने बताया कि उक्त मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले के साथ कड़ाई से काम लिया जाता है, कोई रू-रियायत नही की जाती। उसे सदा के लिए गाँव से निर्वासित होना पड़ता है। किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम ही आए हैं।

आज के युग में यह स्थिति कितनी अविश्वसनीय लगती है, तथापि यह सर्वथा सत्य है। स्व-धर्म को जीवन के साथ जोड़ने, जीवन में उतारने से ही धर्म की सार्थकता है।

—ज्योति प्रसाद जैन

(पृ० २७ का शेषांश)

थे और भोजन करते समय मौन रहते थे। वैसे तो बाबूजी का भोजन भी बहुत पवित्रता पूर्वक तैयार होता था, किन्तु ब्रह्मचारी जी का भोजन विशेष तत्परता के साथ बनता था। मुझे याद है कि ब्रह्मचारी जी के लिए स्वयं हमारी माताजी भोजन बनाती थी और ब्रह्मचारी जी मेज-कुर्सी पर न खाकर चौके में भोजन करते थे। उनका व्यवहार अभ्यागतों से लगाकर नौकर-चाकरों तक से ममता भरा था।

बाबूजी के साथ उनकी जो-जो बातें मेरे सामने होती थीं मैं उन्हें बड़े ध्यान से सुनता था। समाज-सुधार और अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी उनके विचार तो प्रकाश में आ ही चुके थे, परन्तु नारी जाति के सर्वांगीण उत्थान पर उनकी धारणायें अत्यन्त प्रभावशाली और प्रखर थीं।

प्रत्येक आदमी के भीतर एक दूसरा आदमी रहता है; ऊपर का आदमी अकसर परिस्थितियों का शिकार बन कर कुछ ऐसे कार्य करता है जो उसके आदर्शों के नहीं, उसकी अन्तरात्मा के भी सर्वथा विपरीत होते हैं। परन्तु अन्दर का आदमी सदा अपने मार्ग पर अग्रसर रहता है। हमारी सम्मति मे वे ही गृहस्थ सच्चे गृहस्थ है जो कम से कम व्यक्तिगत जीवन में अन्तरात्मा की आवाज के साथ चलते है। परन्तु साधु का अन्दर का और बाहर का व्यवहार सर्वथा समान होना चाहिए। ब्रह्मचारी जी मेरी दृष्टि में एक सच्चे साधु इसलिये थे कि उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज को स्पष्टतापूर्वक संसार पर प्रकट कर दिया।

उन्हें न नेतृत्व की चाह थी और न कोई सांसारिक मोह था। वे एक सर्वथा वैरागमय पुरुष थे जिन्होंने अपना जीवन जैन जाति के अभ्युत्थान में न्यौछावर कर दिया था और जिनका तप तथा त्याग अवश्य एक दिन संसार में अपना रंग लाकर रहेगा।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N 1 1591 62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१५ ००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	७-००
कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००
Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन	१५-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	८ ००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।